हमारा अन्य उत्कृष्ट आलोचना-साहित्य

क्रम	पुस्तक	लेखक	मूल्य
१.	प्रेमचन्द—जीवन और कृतित्व	हंसराज 'रहबर'	५)
२.	हिन्दी-कविता में युगान्तर	डॉ० सुधीन्द्र	८)
३	रोमांटिक साहित्य-शास्त्र	देवराज उपाध्याय	३।।।)
४.	सुमित्रानन्दन पन्त—कला और जीवन-दर्शन	शचीरानी गुर्टू	६)
५.	महादेवी वर्मा—कला और जीवन-दर्शन	शचीरानी गुर्टू	६)
६.	काव्य के रूप	गुलाबराय	४।।।)
७.	सिद्धान्त और अध्ययन	गुलाबराय	६)
८.	हिन्दी-काव्य-विमर्श	गुलाबराय	३।।)
९.	साहित्य-समीक्षा	गुलाबराय	१।।।)
१०.	कला और सौन्दर्य	रामकृष्ण शुक्ल 'शिलीमुख'	३।।।)
११.	समीक्षायण	कन्हैयालाल सहल	३)
१२.	दृष्टिकोण	कन्हैयालाल सहल	१।।)
१३.	हिन्दी के नाटककार	जयनाथ 'नलिन'	५)
१४.	कहानी और कहानीकार	मोहनलाल 'जिज्ञासु'	३)
१५.	साहित्य-विवेचन	क्षेमचन्द्र 'सुमन'-योगेन्द्रकुमार मल्लिक	७)
१६.	प्रगतिवाद की रूपरेखा	मन्मथनाथ गुप्त	६)
१७.	उद्धव-शतक-परिशीलन	अशोककुमारसिंह	१।।)
१८.	भाषा-विज्ञान-दर्शन	कृष्णचन्द्र शर्मा—देवीशरण रस्तोगी	१।।)
१९.	प्रबन्ध-सागर	कृष्णानन्द पंत—यज्ञदत्त शर्मा	४।।)
२०.	मैं इनसे मिला (पहली किस्त)	पद्मसिंह शर्मा 'कमलेश'	२।।)
२१.	जीवन-स्मृतियाँ (साहित्यिकों के आत्म-चरित)	क्षेमचन्द्र 'सुमन'	३)
२२.	वाद-समीक्षा	कन्हैयालाल सहल	१।।)
२३.	साहित्य-जिज्ञासा	ललिताप्रसाद सुकुल	४)
२४.	कामायनी-दर्शन	कन्हैयालाल सहल—प्रो० विजयेन्द्र	४)
.	जयशंकर प्रसाद—कला और जीवन-दर्शन	महावीर अधिकारी	७)

आत्माराम एण्ड सन्स, कश्मीरी गेट, दिल्ली ६

आलोचक रामचन्द्र शुक्ल

आचार्य शुक्ल के जीवन, कृतित्व और समीक्षा-शैली का मार्मिक विश्लेषण

सम्पादक

प्रो० गुलाबराय, एम० ए०

प्रो० विजयेन्द्र स्नातक, एम० ए०

१९५२

आत्माराम एण्ड संस

पुस्तक-प्रकाशक तथा विक्रेता

कश्मीरी गेट, दिल्ली ६

प्रकाशक
रामलाल पुरी
आत्माराम एण्ड संस
कश्मीरी गेट, दिल्ली

प्रथम संस्करण
१९५२
मूल्य छः रुपये

मुद्रक
श्यामकुमार गर्ग
हिन्दी प्रिंटिङ्ग प्रेस
क्वीन्स रोड दिल्ली

निवेदन

हिन्दी-साहित्य में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का आविर्भाव अनेक दृष्टियों से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। हिन्दी-समीक्षा-क्षेत्र में तो वे अपनी मौलिकता तथा रस-ग्राहिता के कारण एक नये युग के विधायक थे, साथ ही निबन्ध-शैली-निर्माता, इतिहास-लेखक, अनुवादक और अध्यापक के रूप में भी अपनी उपज्ञात प्रतिभा के नूतन उन्मेष से हिन्दी-साहित्य में उन्होंने अनेक क्रान्तिकारी परिवर्तन उपस्थित किये।

यह कहना असंगत न होगा कि वर्तमान युग के कृती आलोचकों और सुधी पाठकों पर आचार्य शुक्ल की रचनाओं का गहरा प्रभाव पड़ा है। आज हिन्दी-समीक्षा का शास्त्रीयपक्ष बहुत कुछ शुक्ल जी की स्थापनाओं और मान्यताओं को लेकर आगे बढ़ रहा है। शुक्ल जी स्वच्छन्द चिन्तक थे। भारतीय तथा पश्चिमी-शास्त्र-मीमांसा का विधिवत् अनुशीलन कर उन्होंने अपनी समीक्षा-पद्धति स्थापित की थी, अतः इतना व्यापक और स्वस्थ काव्य-चिन्तन भारत की किसी भी अन्य भाषा में नहीं मिलता। ऐसी स्थिति में शुक्ल जी ने अपनी स्वतन्त्र चेतना से साहित्य-चिन्ता का जो मार्ग प्रशस्त किया उसका महत्त्व सहज ही आँका जा सकता है। किन्तु इतना होने पर भी, अभी तक शुक्ल जी के व्यक्तित्व और कृतित्व का साङ्गोपाङ्ग विवेचन और अध्ययन प्रस्तुत करने वाली पुस्तक का अभाव ही बना हुआ था। जो एक-दो पुस्तक शुक्ल-साहित्य पर उपलब्ध हैं उनमें व्यक्तिगत दृष्टिकोण का ही प्राधान्य है। प्रस्तुत ग्रन्थ में हमने विभिन्न विद्वानों के परिपक्व एवं सुस्थिर विचारों को संकलित किया है। यथार्थ में यह ग्रन्थ शुक्ल-साहित्य का सर्वांगीण एवं व्यवस्थित अध्ययन प्रस्तुत करने का प्रयास है।

पुस्तक तीन खंडों में विभक्त है: जीवन-वृत्त, आलोचना तथा प्रमुख कृतियाँ। तीनों खंडों के लेखक हिन्दी-साहित्य के लब्ध-प्रतिष्ठ विद्वान् व्यक्ति हैं। यह उन्हीं के सहयोग का फल है, अतः उन सभी विद्वान् लेखकों के प्रति अपना हार्दिक आभार प्रकट करना हम अपना पवित्र कर्तव्य समझते हैं। ग्रन्थ की प्रारम्भिक योजना, रूपरेखा तथा लेखकों का निर्णय आदि करने में हमने हिन्दी के सुप्रसिद्ध आलोचक डॉ० नगेन्द्र के सहयोग तथा सत्परामर्श से पूरा-पूरा लाभ उठाया है—सचमुच ही यदि उनका सहयोग हमें प्राप्त न होता तो हम इतने उपादेय और सुन्दर लेख इस ग्रन्थ में संकलित न कर पाते। हम उनके प्रति भी अपनी कृतज्ञता ज्ञापित करना चाहते हैं।

आशा है शुक्ल-साहित्य के अध्ययन-अध्यापन में यह ग्रन्थ अवश्य उपयोगी सिद्ध होगा और शुक्ल जी के कृतित्व के यथार्थ अंकन में इससे सहायता मिलेगी।

१५ जुलाई १९५२
दिल्ली

—सम्पादक

क्रम

प्रथम खण्ड

जीवन-वृत्त

[पृष्ठ १ से पृष्ठ १८ तक]

द्वितीय खण्ड

आलोचना

[पृष्ठ १९ से पृष्ठ २३० तक]

तृतीय खण्ड

प्रमुख कृतियाँ

[पृष्ठ २३१ से पृष्ठ २९८ तक]

प्रथम खण्ड

जीवन-वृत्त

१. आत्म-संस्मरण

स्व० आचार्य रामचन्द्र शुक्ल

वह भी एक समय था जब भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के सम्बन्ध में एक अपूर्व मधुर भावना लिये सन् १८८१ में आठ-नौ वर्ष की अवस्था में, मैं मिर्जापुर आया। मेरे पिताजी, जो हिन्दी-कविता के बड़े प्रेमी थे, प्रायः रात को 'रामचरित-मानस', 'राम-चन्द्रिका' या भारतेन्दु जी के नाटक बड़े चित्ताकर्षक ढंग से पढ़ा करते थे। बहुत दिनों तक तो 'सत्य हरिश्चन्द्र' नाटक के नायक हरिश्चन्द्र और कवि हरिश्चन्द्र में मेरी बाल-बुद्धि कोई भेद न कर पाई थी। हरिश्चन्द्र शब्द से दोनों की एक मिली-जुली अस्पष्ट भावना एक अद्भुत माधुर्य का संचार करती थी। मिर्जापुर आने पर धीरे-धीरे यह स्पष्ट हुआ कि कवि हरिश्चन्द्र तो काशी के रहने वाले थे और कुछ वर्ष पहले तक वर्तमान थे। कुछ दिनों में किसी से सुना कि हरिश्चन्द्र के एक मित्र यहीं रहते हैं और हिन्दी के एक प्रसिद्ध कवि हैं उनका शुभ नाम है उपाध्याय बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन'।

भारतेन्दु-मंडल के किसी जीते-जागते अवशेष के प्रति मेरी कितनी उत्कंठा थी, इसका अब तक स्मरण है। मैं नगर से बाहर रहता था, अवस्था थी १२ या १३ वर्ष की। एक दिन बालकों की एक मण्डली जोड़ी गई। जो चौधरी साहब के मकान से परिचित थे, वे अगुआ हुए। मील-डेढ़-मील का सफर तय हुआ। पत्थर के एक बड़े मकान के सामने हम लोग जा खड़े हुए। नीचे का बरामदा खाली था। ऊपर का बरामदा सघन लताओं के जाल से आवृत था। बीच-बीच में खंभे और खुली जगह दिखाई पड़ती थी। उसी ओर देखने के लिए मुझसे कहा गया। कोई दिखाई न पड़ा। सड़क पर कई चक्कर लगे। कुछ देर पीछे एक लड़के ने उँगली से ऊपर की ओर इशारा किया। लता-प्रतान के बीच एक मूर्ति खड़ी दिखाई पड़ी। दोनों कंधों पर बाल बिखरे हुए थे। एक हाथ खम्भे पर था। देखते-ही-देखते वह मूर्ति दृष्टि से ओझल हो गई। बस यही उनकी पहली झाँकी थी।

ज्यों-ज्यों मैं सयाना होता गया त्यों-त्यों हिन्दी के पुराने साहित्य और नये साहित्य का भेद भी समझ पड़ने लगा और नये की ओर झुकाव बढ़ता गया। नवीन साहित्य का प्रथम परिचय नाटकों और उपन्यासों के रूप में था, जो मुझे घर पर ही कुछ-न-कुछ मिल जाया करते थे। बात यह थी कि 'भारत जीवन' के स्वर्गीय बाबू रामकृष्ण वर्मा मेरे पिताजी के क्वीन्स कालेज के सहपाठियों में थे। इससे 'भारत जीवन प्रेस' की पुस्तकें मेरे यहाँ आया करती थीं। अब मेरे पिताजी उन पुस्तकों को छिपाकर रखने लगे। उन्हें डर था कि कहीं मेरा चित्त स्कूल की पढ़ाई से हट न जाय। मैं बिगड़ न जाऊँ। उन दिनों पं० केदारनाथ पाठक ने एक अच्छा हिन्दी-पुस्तकालय मिर्जापुर में खोला था। मैं वहाँ से पुस्तकें लाकर पढ़ा करता था। अतः हिन्दी के आधुनिक साहित्य का स्वरूप अधिक विस्तृत होकर मन में बैठता गया। नाटक, उपन्यास के अतिरिक्त विविध विषयों की पुस्तकें और छोटे-बड़े लेख भी साहित्य की नई उड़ान के एक प्रधान अङ्ग दिखाई पड़े। स्वर्गीय पं० बालकृष्ण भट्ट का 'हिन्दी-प्रदीप' गिरता-पड़ता चला जाता था। चौधरी साहब की 'आनन्द-कादम्बिनी' भी कभी-कभी निकल पड़ती थी। कुछ दिनों में काशी की 'नागरी प्रचारिणी सभा' के प्रयत्नों की धूम सुनाई पड़ने लगी। एक ओर तो वह नागरी लिपि और हिन्दी भाषा के प्रवेश और अधिकार के लिए आन्दोलन चलाती थी। दूसरी ओर हिन्दी-साहित्य की पुष्टि और समृद्धि के लिए अनेक प्रकार के आयोजन करती थी। उपयोगी पुस्तकें निकालने के अतिरिक्त वह एक पत्रिका भी निकालती थी, जिसमें नवीन-नवीन विषयों की ओर ध्यान आकर्षित किया जाता था।

जिन्हें अपने स्वरूप का संस्कार और उस पर ममता थी, जो अपनी परम्परागत भाषा और साहित्य से उस समय के शिक्षित कहलाने वाले वर्ग को दूर पड़ते देखकर मर्माहत थे, उन्हें यह सुनकर बहुत-कुछ ढाढ़स होता था कि आधुनिक विचार-धारा के साथ अपने साहित्य को बढ़ाने का प्रयत्न जारी है और बहुत-से नवशिक्षित मैदान में आ गए हैं। १६-१७ वर्ष की अवस्था तक पहुँचते-पहुँचते मुझे नवयुवक हिन्दी-प्रेमियों की एक खासी मण्डली मिल गई जिनमें श्री काशीप्रसाद जायसवाल, बा० भगवानदास हालना, पं० बदरीनाथ गौड़, पं० लक्ष्मीशङ्कर और उमाशंकर द्विवेदी मुख्य थे। हिन्दी के नये-पुराने कवियों और लेखकों की चर्चा इस मण्डली में हुआ करती थी।

मैं भी अब अपने को एक कवि और लेखक समझने लगा था। हम लोगों की बातचीत प्रायः लिखने-पढ़ने की हिन्दी में हुआ करती थी। जिस स्थान पर मैं रहता था वहाँ अधिकतर वकील, मुख्तार तथा कचहरी के अफसरों और अमलों की

बस्ती थी। ऐसे लोगों के उर्दू कानों में हम लोगों की बोली कुछ अनोखी लगती थी। इसी से उन लोगों ने हम लोगों का नाम 'निस्संदेह लोग' रख छोड़ा था। मेरे मुहल्ले में एक मुसलमान सबजज आ गए थे। एक दिन मेरे पिताजी खड़े-खड़े उनके साथ कुछ बातचीत कर रहे थे। बीच में मैं उधर जा निकला। पिताजी ने मेरा परिचय देते हुए कहा—"इन्हें हिन्दी का बड़ा शौक है।" चट जवाब मिला—"आपको बताने की ज़रूरत नहीं। मैं तो इनकी सूरत देखते ही इस बात से वाकिफ हो गया।" मेरी सूरत में ऐसी क्या बात थी यह इस समय नहीं कहा जा सकता। आज से चालीस वर्ष पहले की बात है।

२. जीवन-परिचय

डॉक्टर श्यामसुन्दरदास

स्वनामधन्य पंडित रामचन्द्र शुक्ल का देह-पात २ फर्वरी सन् १९४१ को अचानक हो गया। वे कई वर्षों से स्वांस रोग से पीड़ित थे और उनके हृदय का प्रसारण हो गया था। उन्होंने कभी अपने रोग की उचित चिकित्सा करने की चिन्ता नहीं की, यहाँ तक कि अस्वस्थ रहने पर भी ये यात्रा करते और अपना काम करते थे। जब तक वे सर्वथा अशक्त न हो जाते तब तक वे इन कामों से विरत न होते थे। यही मुख्य कारण है कि उनके रोग ने भयानक रूप धारण कर लिया और सहसा हृदय की गति रुक जाने से उनका देहावसान हो गया। इसी हृद्रोग से 'रत्नाकर' जी तथा बाबू कृष्णबलदेव वर्मा का देह पात हुआ था। शुक्लजी हिन्दी के एक जाज्वल्यमान नक्षत्र थे। उन्होंने अपनी कृतियों से हिन्दी-साहित्य का उत्कर्ष-साधन किया। वे उच्चकोटि के समालोचक तथा निबन्ध-लेखक थे। उनकी मृत्यु से हिन्दी-साहित्यकारों में जो स्थान रिक्त हुआ वह सहसा पूरा होता नहीं दिखाई देता।

गोरखपुर जिले में रावती नदी के किनारे भेड़ी नामक ग्राम गर्ग गोत्री शुक्ल ब्राह्मणों का एक बहुत प्राचीन पीठ है। पूर्व में सरवार के प्रतिष्ठित ब्राह्मण-कुलों को भी, जिनके अधिकार में बहुत-सी भूमि थी, अपने स्वत्व और मान की रक्षा के लिए शस्त्र उठाना पड़ता था। किसी ब्राह्मण-कन्या के साथ बलात् निकाह करने पर उद्यत एक अत्याचारी इमाम वा नवाब को मारकर उसकी रियासत पर अधिकार करने की जनश्रुति इन शुक्लों के विषय में प्रसिद्ध है। पं० रामचन्द्र शुक्ल के पितामह पं० शिवदत्त शुक्ल भेड़ी ही में रहते थे, केवल बीच-बीच में नगर (बस्ती जिले की एक रियासत जो अब ज़ब्त हो गई है) आते-जाते थे। पंडित रामचन्द्र शुक्ल की दादी को नगर की बूढ़ी रानी साहबा कन्या करके मानती थीं। इनके पितामह की मृत्यु

२० वर्ष की अवस्था में हो गई थी, इससे इनकी दादी अपने एक-मात्र पुत्र पं० रामचन्द्र शुक्ल के पिता को लेकर अधिकतर रानी साहबा के साथ ही रहने लगी थीं। वहाँ फारसी की उत्तम शिक्षा पाकर पिता ने काशी के क्वीन्स कालेजिएट स्कूल से एण्ट्रेंस पास किया और वे सरकारी नौकरी करने लगे। नगर के पास ही रानी साहबा ने अगोना (पो० कलवारी) ग्राम में इन्हें कुछ भूमि देकर एक अलग घर भी बनवा दिया। पंडित रामचन्द्र शुक्ल का जन्म सं० १९४१ आश्विन की पूर्णिमा को अगोना ग्राम में हुआ। ४ वर्ष तक तो ये उसी ग्राम में रहे। इसके पीछे सन् १८८८ में इनके पिता हमीरपुर की राठ तहसील में सुपरवाइजर कानूनगो होकर गये और अपने साथ परिवार को भी लेते गए। वहीं पर ६ वर्ष की अवस्था में पं० गंगाप्रसाद ने पंडित रामचन्द्र शुक्ल को अक्षरारम्भ कराया। वहाँ के हिन्दी-उर्दू-स्कूल में ये हिन्दी इतने उत्साह के साथ पढ़ने लगे कि दो ही वर्ष में चौथे दर्जे में आ गए। अपनी दादी से 'रामायण' और 'सूर-सागर' तथा अपने पिता से 'राम-चन्द्रिका' और भारतेन्दु के नाटकों को ये बड़ी रुचि से सुनते थे। सन् १८९२ में इनके पिता की नियुक्ति सदर कानूनगो के पद पर मिर्जापुर में हुई। वे परिवार को राठ ही में छोड़कर स्थान आदि ठीक करने के लिए मिर्जापुर गये। इसी बीच में एक ऐसी शोचनीय घटना घटी जिससे पंडित रामचन्द्र शुक्ल के आगामी जीवन पर बड़ा भारी प्रभाव पड़ा। इनकी माता बीस दिन के एक बच्चे (इनके सबसे छोटे भाई कृष्णचन्द्र) को छोड़कर परलोक सिधारीं। इनके पिता १३-१४ घंटे बाद पहुँचे और सबको लेकर मिर्जापुर चले आए।

मिर्जापुर ही में पंडित रामचन्द्र शुक्ल के आरम्भिक जीवन का अधिक भाग व्यतीत हुआ है। वहाँ के जुबली स्कूल में ये ९ वर्ष की अवस्था में भरती होकर उर्दू के साथ अंग्रेजी पढ़ने लगे। सन् १८९३ में इनके पिता ने दूसरा विवाह किया। परम्परागत कुरीति के अनुसार पंडित रामचन्द्र शुक्ल का विवाह भी १२ ही वर्ष की अवस्था में काशी-निवासी पंडित रामफल पांडे ज्योतिषी की कन्या से हुआ। १४॥ वर्ष की अवस्था में सन् १८९८ के अन्त में इन्होंने मिडिल पास किया। अपने दर्जे में इनका नम्बर बराबर प्रथम रहा। इनके पड़ोस में पंडित विन्ध्येश्वरीप्रसाद संस्कृत-साहित्य के एक भावुक और तेजस्वी विद्वान् रहते थे। वे कभी-कभी अपने शिष्यवर्ग को लेकर जंगल-पहाड़ों की ओर निकल जाते और 'उत्तर-रामचरित' आदि के श्लोकों को बड़े ही मधुर स्वर से पढ़ाते थे। बालक रामचन्द्र भी उनके साथ प्रायः चले जाते थे, क्योंकि इन्हें प्राकृतिक दृश्यों से बड़ा प्रेम था। इस सत्संग से इन्हें संस्कृत सीखने की प्रवृत्ति हुई और हिन्दी का प्रेम दृढ़ हुआ। इन्हीं दिनों में इनका

परिचय बाबू काशीप्रसाद जायसवाल से हुआ, जिससे हिन्दी की ओर इनका उत्साह और भी बढ़ा। ये एक बार काशी गये। वहाँ भारतेन्दुजी के मकान के नीचे पंडित केदारनाथ पाठक से परिचय हुआ। फिर तो पाठकजी की कृपा से इन्हें हिन्दी और बँगला की अच्छी-अच्छी पुस्तकें पढ़ने को और हिन्दी के नये-पुराने लेखकों की लम्बी-चौड़ी चर्चा सुनने को मिलने लगी। १९०१ के आरम्भ में इन्होंने लन्दन-मिशन-स्कूल से एण्ट्रेंस पास किया। इसी समय के लगभग बाबू भगवानदास हालना से इनकी मित्रता हुई।

पुस्तक पढ़ने का व्यसन इन्हें आरम्भ ही से था। छात्रावस्था में ही स्थानीय मेयो-मेमोरियल लाइब्रेरी से अंग्रेजी की पुस्तकें लेकर एक-एक बजे रात तक पढ़ते थे। इनकी पढ़ने की सनक देखकर इनके साथी हँसते थे। एण्ट्रेंस पास करने के अनन्तर एफ० ए० में पढ़ने के लिए प्रयाग की कायस्थ-पाठशाला में इन्होंने नाम लिखाया। पर थोड़े ही दिनों में कुछ ऐसे गृह-विवाद उपस्थित हुए कि इन्हें उस समय पढ़ना छोड़ देना पड़ा। यहाँ तक कि ये कुछ दिनों के लिए मिर्जापुर छोड़कर बस्ती (अगोना) जाकर रहे। स्वतन्त्र प्रकृति होने के कारण इन्हें उन दिनों सरकारी नौकरी से बड़ी अरुचि थी, जिसका पूर्ण आभास 'Hindustan Review' में प्रकाशित इनके 'What has India to do ?' नामक लेख से मिलता है। अन्त में कानून पढ़ने के लिए ये प्रयाग गये। वहाँ दो वर्ष पूरे करके फिर घर पर रहकर परीक्षा देने के विचार से ये मिर्जापुर आये। कुछ दिनों के बाद वे वहाँ के मिशन-स्कूल के मास्टर हुए और १९०६ में वकालत का इम्तहान दिया, पर कृतकार्य न हुए। तीन वर्ष तक अर्थात् १९०८ तक ये मिशन स्कूल ही में रहे। इसके उपरान्त 'काशी नागरी प्रचारिणी सभा' का 'हिन्दी-कोश' आरम्भ हुआ और ये पहले उसके लिए शब्द-संग्रह का काम करने के लिए बुलाये गए। संग्रह हो जाने पर ये सहायक सम्पादक नियत हुए। यहाँ से इनके काशी-निवास का आरम्भ हुआ। 'कोश' का कार्य समाप्त-प्रायः हो रहा था कि ये काशी-विश्वविद्यालय में निबन्ध-लेखन की शिक्षा देने के लिए नियत किये गए। अनन्तर जब वहाँ के पाठ्य-क्रम में हिन्दी एक स्वतन्त्र विषय के रूप में नियत की गई तब ये हिन्दी-साहित्य का अध्यापन करने लगे। अन्त में ये सन् १९३७ में हिन्दी-विभाग के अध्यक्ष नियत हुए। कई वर्षों तक इन्होंने 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका' का भी सम्पादन किया है।

तेरह वर्ष की अवस्था में खिलवाड़ के रूप में इन्होंने 'हास्य-विनोद' नाम का नाटक लिखा, जिसे एक महाशय ने हँसते-हँसते फाड़ डाला। 'संयोगिता-स्वयंवर' और 'दीप-निर्वाण' को देखकर इन्हें पृथ्वीराज नाटक लिखने की इच्छा हुई और

उसके दो अंक इन्होंने लिख भी डाले। इनके अतिरिक्त अपने सहपाठी लड़कों की निन्दा में भी ये कवित्त और दोहे इत्यादि जोड़ते थे। १६ वर्ष की अवस्था में इन्होंने 'मनोहर छटा' नाम की एक कविता लिखी जो 'सरस्वती' में प्रकाशित हुई। फिर तो इनके बहुत-से लेख और कविताएं 'सरस्वती', 'समालोचक' आदि पत्रों में निकले। १९८६ में हिन्दी-लेखकों में बहुत-सी कुप्रथाओं (जैसे अनुवाद को स्वरचित ग्रन्थ बतलाना) के विरुद्ध इन्होंने प्रयाग के 'Indian people' नामक अंग्रेजी पत्र में एक लेख-माला निकाली थी, जिसके कारण हिन्दी-संवाद-पत्रों में बहुत दिनों तक बड़ा कोलाहल रहा। ये समय-समय पर गुप्त या प्रकट रूप में हिन्दी के संबंध में अंग्रेजी पत्रों में भी लिखा करते थे।

इनके लेखों में बिलकुल इनके निज के विचार रहते थे। इनके निबंध अधिकांश गूढ़ और जटिल होते थे, उनसे चाहे साधारण हिंदी पाठकों का मनोरञ्जन न हो, पर हिंदी की उच्च शिक्षा के लिए वे आगे चलकर बड़े काम के होंगे। साहित्य विषय पर 'कविता क्या है', 'भारतेंदु की समीक्षा', 'उपन्यास', 'भाषा का विस्तार', आदि इनके निबंध बड़े गूढ़ हैं। 'शिशिर-पथिक,' 'बसंत-पथिक', 'भारत-बसंत' आदि कविताएं भी रुचिर दार्शनिक भावों को लिये हुए हैं। मनोविकारों पर भी इनकी लेख-माला गहन है। फुटकर निबंधों और कविताओं के अतिरिक्त इनकी लिखित और अनूदित पुस्तकें ये हैं—कल्पना का आनन्द (एडिसन के 'Essay on the Imagination' का अनुवाद) मेगस्थनीज का भारतवर्षीय विवरण (अंग्रेजी से अनूदित) राज्य-प्रबंध-शिक्षा (सर टी० माधवराय के 'Minor Hints' का अनुवाद) बाबू राधाकृष्णदास का जीवन-चरित्र, बुद्ध-चरित्र, आदर्श जीवन ('Plain living and high thinking' का अनुवाद) विश्व-प्रपंच (Riddle of the Universe का अनुवाद) शशांक (उपन्यास, बंगला से अनूदित) हिंदी साहित्य का इतिहास, फारस का प्राचीन इतिहास (ना० प्र० पत्रिका)।

इनके अतिरिक्त उनके लेखों का संग्रह 'विचार-वीथी' और 'चिंतामणि' नाम से प्रकाशित हुआ है। उन्होंने सूर, तुलसीदास और जायसी पर विश्लेषणात्मक समालोचनाएं लिखी हैं। तुलसी-ग्रन्थावली, जायसी-ग्रन्थावली तथा सूर के 'भ्रमर-गीत' का संपादन किया है। इनके लेख विचार-गाम्भीर्य के लिए प्रसिद्ध हैं। शैली इनकी परिपुष्ट, संघटित तथा प्रांजल होती है। संपादन-कार्य में इन्हें उतनी सफलता नहीं प्राप्त हुई जितनी निबंधों के लिखने और आलोचनाओं के करने में मिली। इसका मुख्य कारण यह था कि ये लेटकर लिखते थे।

इनका चरित्र निर्दोष और स्वभाव अत्यंत सरल था। इस सरलता और संकोच

की मात्रा इतनी बढ़ी हुई थी कि स्वार्थी और कुचक्री लोग इनके पीछे पड़कर येन-केन-प्रकारेण अपना काम निकाल लेते थे, चाहे वह इनकी रुचि और अन्तरात्मा के कितने ही विरुद्ध क्यों न हो। हिंदी के निबंध-लेखकों और आलोचकों में इनका स्थान बहुत महत्त्वपूर्ण है और इनकी विद्वत्ता की धाक जमी हुई थी। प्रकृति की गोद में रहना इन्हें बहुत प्रिय था। पशुओं में इन्हें बिल्ली से बड़ा प्रेम था। व्यसन केवल चाय पीने का था।

३. जीवन-वृत्त

पं० केशवचन्द्र शुक्ल

१

आज से प्रायः ५० वर्ष पूर्व की बात है। राठ (हमीरपुर) के एक साधारण-से मदरसे में एक दुबले-पतले साँवले रङ्ग के सात साल के बालक को उर्दू-फारसी की शिक्षा मिल रही थी। उसके पिता राठ के सुपरवाइज़र कानूनगो थे। ब्राह्मण होते हुए भी चाल-ढाल तथा वेश-भूषा तत्कालीन फारसी-शिक्षा-सम्पन्न किसी मौलवी से कम न थी। काली घनी दाढ़ी, गोल मोहरी के पायजामे, पट्टेदार बालों तथा अल्पका की शेरवानी ही तक बात न थी, उनकी जबान भी 'सर सैयद' की जबान थी तथा उनके विचार उस समय के फारसी पढ़े हुए 'शिष्ट' कहलाने वाले मुसलमानों से साधारण व्यवहार की बहुत-सी बातों में अधिकतर मिलते-जुलते थे। संस्कृत अथवा हिंदी बेहूदा जबान थी। धोती पहनकर बाहर निकलना या नंगे सिर रहना जुर्म था। उनके उन्नत सुव्यवस्थित शरीर तथा स्वाभाविक रतनारे विशाल नेत्रों से उनके उच्च वंश का सहज आभास होता था। एण्ट्रेंस पास करके बस्ती जिले से वे राठ नौकरी पर आये थे। अवस्था २५-२६ वर्ष की थी। उनके साथ में उनकी धर्म-पत्नी, उनकी वृद्धा माता तथा दो छोटे-छोटे उनके लड़के थे। एक की अवस्था सात वर्ष की तथा दूसरा तीन वर्ष का दूध पीता बालक था। इस परिवार में वृद्धा माता का परम ऊर्ज स्थान था। वे राम-भक्त थीं। नित्य बड़ी सुन्दर रीति से वे तुलसी, केशव आदि के भजन गातीं तथा पूजा-पाठ में निमग्न रहतीं। उस समय आर्य-समाज का चारों ओर प्रबल आंदोलन चल रहा था। स्वामी दयानंदजी के लेखों को राठ में भी कुछ लोग बड़ी श्रद्धा के साथ पढ़ते और दूसरों को सुनाते थे। इस समाज ने बस्ती जिले के नवयुवक कानूनगो को भी अपने रंग में रँगा। आगे चलकर अवश्य यह रंग उड़ने लगा तथा अन्त में कुछ दिनों के उपरांत मिर्जापुर में, जहाँ वे सदर

कानूनगो के पद पर जीवन के अन्तिम समय तक रहे, उसका कोई भी अंश शेष न रहा; किंतु जब तक वे राठ में रहे, उनमें किसी प्रकार का भी परिवर्तन दिखाई न पड़ा।

२

जिस क्षीण-गात सात वर्षीय बालक का उल्लेख आरम्भ में किया गया है वह हिंदी-संसार का वही परम देदीप्यमान सूर्य था जो अभी अस्त हुआ है—आचार्य रामचंद्र शुक्ल। पं० रामचंद्र शुक्ल के पूर्वज गोरखपुर जिले के भेंड़ी नामक स्थान में रहते थे। उनके पितामह पं० शिवदत्त शुक्ल का जिस समय देहांत हुआ था उस समय पं० रामचंद्र शुक्ल के पिता पं० चंद्रबली शुक्ल की अवस्था ४-५ वर्ष की थी। उनकी माता (पं० रामचंद्र शुक्ल की दादी) उन्हें लेकर बस्ती जिले के अगोना ग्राम में रहती थीं, जहाँ उनको 'नगर' के राज-परिवार की ओर से यथेष्ट भूमि मिली थी। पं० चंद्रबली की प्रारम्भिक शिक्षा फारसी में नगर के मदरसे में (अगोना से दो मील दूर) हुई थी। अगोना से नित्य वे नगर पढ़ने जाते थे। इसी अगोना ग्राम में संवत् १९४० की आश्विन-पूर्णिमा को पं० रामचंद्र शुक्ल का जन्म हुआ। इनकी माता (अर्थात् पं० चंद्रबली शुक्ल की धर्मपत्नी) गाना के एक पुनीत मिश्र घराने की कन्या थीं। इसी गाना के मिश्र भक्त-शिरोमणि प्रातःस्मरणीय गोस्वामी तुलसी-दासजी थे। इस प्रकार गोस्वामीजी पं० रामचंद्र शुक्ल के सीधे मातुलवर्ग में आते हैं। इस सम्बंध में फिर कभी सविस्तार लिखा जायगा। यहाँ केवल इतना ही कहना है कि पं० रामचंद्र शुक्ल को अपने जीवन-काल में जितनी शक्ति तथा शांति गोस्वामी-जी की पावन निर्मल वाणी द्वारा प्राप्त हुई उतनी उन्हें और किसी भाव-भूमि में जाकर नहीं मिली।

३

अगोना बस्ती से छः मील दूर दक्खिन हरे-भरे खेतों और अमराइयों के बीच एक छोटा-सा ग्राम है। गाना यहाँ से ३ मील पूर्व है। इस प्रान्त की भाषा विशुद्ध अवधी है। अयोध्या अगोना से कुल ३०-३२ मील पश्चिम है। गाना से एक सीधा चौड़ा कच्चा मार्ग अगोना होता हुआ अयोध्या चला गया है। अब तक इस प्रदेश की ग्राम-स्त्रियाँ बैल-गाड़ियों पर आवरण डालकर उनके भीतर से 'रथहाँकउ गाड़ी-वान अजोध्यन जावौं' गाती हुई भगवान् की पावन जन्म-भूमि के दर्शनार्थ इसी मार्ग से जाया करती हैं। जन्म लेते ही जिस वाणी के प्रकृत-सौंदर्य के बीच बालक राम-चन्द्र शुक्ल का हृदय पला था, जिस वाणी में माता पिता तथा परिचित जन हँसते-बोलते, खेलते-कूदते, रोते-गाते सुनाई पड़े, उसी प्रिय परिचित वाणी के परमोज्ज्वल

प्रकाश में भगवान् के मंगलमय, लोकरञ्जक, शीलोत्कर्ष की दिव्य प्रभा को आगे चलकर असाधारण-प्रतिभा-सम्पन्न इस बालक ने कितना झाँक-झाँककर देखा तथा उसके माधुर्य पर कितना मुग्ध हुआ !

४

जैसा कि ऊपर कह आए हैं राठ से पं० रामचन्द्र शुक्ल की शिक्षा प्रारम्भ हुई। तत्कालीन शिक्षा-विधि में 'भाषा' का स्थान बहुत नीचे था । मुगलों के समय से ही फारसी सरकारी दफ़्तरों तथा अदालतों की भाषा चली आ रही थी। जिस मदरसे में पं० रामचन्द्र शुक्ल की फारसी शिक्षा होती थी, उसी में एक किनारे एक पंडितजी 'हिन्दुई' भी पढ़ाते थे। उन्होंने आचार्य रामचन्द्र शुक्ल को अक्षरारम्भ कराया। राठ में कुल ३ वर्ष के लगभग इनके पिता रहे। तदुपरान्त वे मिर्ज़ापुर सदर कानूनगो होकर गये । मिर्ज़ापुर ही में पं० रामचन्द्र शुक्ल की अलौकिक प्रतिभा का स्फुरण हुआ। राठ में एक घटना ऐसी अवश्य हुई जिसने उनके भावी जीवन के कुछ काल को, जिसका उल्लेख हम आगे चलकर करेंगे, अत्यन्त जटिल बना दिया। इनकी अवस्था अभी ९ वर्ष की ही थी कि इनकी माता इनके तीसरे भाई पं० कृष्णचन्द्र के जन्म के एक मास के उपरांत इस संसार से चली गईं। पं० रामचंद्र शुक्ल उस 'दीया तालाब' का स्मरण बराबर किया करते थे, जहाँ राठ में उनकी माता के नश्वर शरीर की अन्तिम प्रक्रिया समाप्त की गई थी।

५

मिरज़ापुर प्रकृति की अनुपम क्रीड़ा-स्थली है; विन्ध्य के चरणों के प्रति जाह्नवी को कैसा अद्भुत अनुराग है। वैसे तो राठ रहते हुए बुन्देलखण्ड की पहाड़ियों का भी प्रभाव पं० रामचन्द्र शुक्ल के हृदय पर पड़ा था, किन्तु जितनी गहरी सुखानुभूति उनकी उत्कृष्ट कल्पना को मिर्ज़ापुर की सघन वन्य-वृक्षों से लदी पर्वत-मालाओं, ऊँची-नीची पर्वत-स्थलियों के बीच क्रीड़ा करते हुए टेढ़े-मेढ़े नालों, सुदूर तक फैले हुए हरे-भरे लहलहाते कछारों, बड़ी-बड़ी चट्टानों के मध्य से हरहराते हुए निर्झरों, रङ्ग-बिरङ्गे शिलाखण्डों पर बहती हुई नदियों की निर्मल धाराओं तथा फूली-फली अमराइयों के समीप बसी हुई ग्राम्य-बस्तियों के साहचर्य से प्राप्त हुई उतनी बुन्देलखंड के रूखे-सूखे भू-खंड के द्वारा कदापि सम्भव न थी। जोगिया, मेहँदिया, आमघाट, बरघाट, तुलतुलहवा, लुटकिया आदि स्थान सदा उनके स्मृति-चिह्न बनाये रहेंगे। मृत्यु के प्रायः १॥ मास पूर्व जब वे किसी कार्य-विशेष से काशी से मिरज़ापुर गये थे तब वहाँ के साहित्य-मंडल ने उनका अपूर्व स्वागत किया था। उस अवसर पर उनके जो हृदयोद्गार निकले थे उनकी शब्दावली तो अभी तक

प्राप्त न हो सकी; किंतु आशय इस प्रकार निकलता था :—

"यद्यपि मैं काशी में रहता हूँ और लोगों का यह विश्वास है कि वहाँ मरने से मुक्ति मिलती है तथापि मेरी हार्दिक इच्छा तो यही है कि जब मेरे प्राण निकलें तब मेरे सामने मिर्जापुर का यही भू-खंड रहे । मैं यहाँ के एक-एक नाले से परिचित हूँ—यहाँ की नदियों, काँटों, पत्थरों तथा जंगली पौधों में एक-एक को जानता हूँ ।"

६

मिरजापुर की जिस 'रमई पट्टी' में आकर इनके पिता रहने लगे, उसके सौन्दर्य का संकेत 'हृदय का मधुर भार' शीर्षक कविता में पं० रामचन्द्र शुक्ल ने स्वयं किया है। हरे-भरे खेतों के बीच 'लाल खपरैल के सँवारे धाम' इसी रमई पट्टी के लिए आया है। रमई पट्टी के जिस छोर पर इनके पिता ने अपना निवास-स्थान बनाया, उस ओर कुल ४-५ मकान पहले से बने हुए थे । उनमें पं० विन्ध्येश्वरीप्रसाद, तथा बा० बलभद्रसिंह डिप्टी कलक्टर के नाम उल्लेखनीय हैं। बा० बलभद्रसिंह आगरे के क्षत्रिय थे। पुरानी संस्कृति के वे केवल अनुमोदक-मात्र ही नहीं उसके अनन्य उपासक भी थे। उनके यहाँ सदा महाभारत, रामायण, श्रीमद्भागवत, पुराण आदि का पाठ होता था । ३०-४० सुनने वाले व्यक्ति एकत्रित रहते थे। पं० विन्ध्येश्वरीप्रसाद के घर में तो संस्कृत का निवास ही था। नित्य बहुत-से विद्यार्थी माघ, कालिदास, भवभूति आदि महा कवियों की कृतियों का अध्ययन करने के लिए उनके यहाँ आया करते थे। पंडित जी प्रायः संध्या के समय अपने विद्यार्थियों को लेकर पर्वतों की ओर निकल जाते थे, जो वहाँ से दो-तीन मील पर हैं। अथवा किसी निर्जन स्थान में जाकर किसी सरोवर अथवा नदी-नाले के किनारे स्वच्छंद समय व्यतीत करते तथा मग्न होकर अत्यन्त सुमधुर स्वर से कालिदास, भवभूति आदि के श्लोक पढ़ते । कुछ बढ़ने पर पं० रामचन्द्र शुक्ल भी विद्यार्थियों में मिलकर प्रकृति के इस भावुक पुजारी के साथ घूमने निकलने लगे ।

७

मिरजापुर पहुँचते ही आपकी अंग्रेजी शिक्षा प्रारम्भ हुई। फारसी की ओर भी उनके पिता का ध्यान पूर्ववत् रहा। उन्हें पढ़ाने के लिए एक मौलवी साहब घर पर आते रहे। उन दिनों वहाँ पंडित रामगरीब चौबे नामक अंग्रेजी के एक असाधारण सुलेखक रहते थे। Sir Williams Crooks की 'Hill tribes and casters' नामक पुस्तक निकल रही थी। पं० रामगरीब उसे लिखते जाते थे। Crooks साहब इधर-उधर कुछ संशोधन-मात्र करके उसे छपाते जाते थे। उनके द्वारा जो

प्रोत्साहन पं० रामचंद्र शुक्ल को अंग्रेजी के अध्ययन में मिला उसे वे जीवन-पर्यन्त स्वीकार करते रहे। इसी स्थान पर हम बड़ी श्रद्धापूर्वक पं० वागेश्वरी जी का भी उल्लेख किये बिना नहीं रह सकते। पं० रामचंद्र शुक्ल के वे हिंदी-अध्यापक थे तथा अत्यंत विनोद-प्रिय भी थे। उनकी भी शिष्य-मंडली घूमने निकलती। इस प्रकार मिर्जापुर का 'लोक' राठ से बहुत विभिन्न दिखाई पड़ा। पं० रामचन्द्र शुक्ल को बा० बलभद्रसिंह, तथा पं० विन्ध्येश्वरीप्रसाद के यहाँ का वातावरण अपने पिता के सान्निध्य से कहीं अधिक प्रिय प्रतीत होने लगा। वहाँ उनके सहचर रामानंद और परमानंद (पं० माताप्रसाद के लड़के) तथा जैजैलाल (मुन्शी जगदम्बाप्रसाद वकील के भतीजे) बराबर मिलते। इन लोगों में किसी की अवस्था १४-१५ वर्ष के ऊपर न थी। परमानन्द, रामानन्द की विलक्षण जोड़ी थी। दोनों बड़े हँसमुख और विनोद-प्रिय थे। चन्दन लगाते थे और धोती पहनकर नंगे सिर दिखाई देते थे। जैजैलाल (लालजी) भी कायस्थ होकर धोती पहने रहते। इस मण्डली में जाकर पं० रामचन्द्र शुक्ल ने चन्दन तो नहीं लगाया, किन्तु पायजामा छोड़कर धोती पहनने लगे। स्कूल कोट-पतलून पहनकर जाने लगे। कभी-कभी घूमती-फिरती यह 'बाल-मण्डली' पक्के पोखरे तक निकल जाती, जो रमईपट्टी से थोड़ी दूर बाहर है और वहाँ भगतजी को 'राधेश्याम-राधेश्याम' कहकर चिढ़ा आती थी। इस प्रकार की जीवन-चर्य्या पं० रामचंद्र शुक्ल को जितनी प्रिय प्रतीत हुई, उनके पिता को उतनी ही अप्रिय। इनके धोती पहनने पर नाराज होकर वे कहा करते—"हरामजादा उन बेहूदों के साथ वशिष्ठ बना घूमता है।" इनके पिता भूलकर एक क्षण के लिए भी बाबू बलभद्रसिंह अथवा पं० विन्ध्येश्वरीप्रसाद आदि के यहाँ न जाते। वहाँ के वायु-मण्डल से उनको बड़ी 'नफरत' थी।

८

धीरे-धीरे मिर्जापुर में रहते हुए इनके पिता को दो साल हो गए। उनका दूसरा विवाह ठीक हो गया। पं० रामचंद्र शुक्ल की अवस्था जिस समय ११ साल की थी, घर में विमाता का प्रवेश हुआ। अभी इनकी दादी जीवित थीं और घर में उनका पूर्ण आतंक था। विमाता के आने से किसी प्रकार का परिवर्तन पं० रामचंद्र अथवा इनके दोनों सहोदर भ्राताओं को न जान पड़ा। १२ वर्ष की अवस्था में पं० रामचंद्र शुक्ल का भी विवाह कर दिया गया। बाल-विवाह की कुप्रथा की ओर उस समय इतना ध्यान नहीं रखा जाता था जितना अब शिक्षा के प्रसार से हुआ है। १५ वर्ष की अवस्था में पं० रामचंद्र शुक्ल नवीं कक्षा में पहुँचे। उसी साल उनकी धर्मपत्नी (इस लेख के लेखक की पूज्या माता) घर में आईं। पं० रामचंद्र शुक्ल

की दादी बूढ़ी हो चली थीं। वे अभी नवीं कक्षा भी पास न कर पाए थे कि उनकी दादी की अकस्मात् मृत्यु हो गई।

९

यहाँ से लगभग ६-७ वर्ष तक पं० रामचंद्र शुक्ल के जीवन का अत्यंत जटिल अंश प्रारम्भ होता है। दादी की मृत्यु के उपरांत विमाता के शासन से पं० रामचंद्र शुक्ल तथा उनके दोनों सहोदर भाइयों को कई प्रकार के कष्ट होने लगे। पं० रामचंद्र शुक्ल तथा उनके भाई श्री हरिश्चंद्र तथा श्री कृष्णचंद्र बराबर विमाता को झाड़ते-फटकारते रहे। पिता इन लड़कों से सख्त नाराज हो गए। जिस समय दाँत पीसकर "कम्बख्त, बज्जात, बद्‌तमीज, बद्‌बख्त, नामाकूल, नालायक" आदि फारसी शब्दों की तीव्र वर्षा इनके पिता इन पर करते उस समय प्रलय-प्रभञ्जन उठता था। नौबत यहाँ तक आई कि स्कूल की फीस बन्द कर दी गई। विमाता के दुर्व्यवहार से दुखी होकर पढ़ना-लिखना छोड़कर पं० रामचंद्र 'अगोना' भाग जाने की तैयारी करने लगे। किसी प्रकार गृह-कलह कुछ शांत हुआ और पं० रामचंद्र की एण्ट्रेंस की पढ़ाई समाप्त हुई। अब दूसरा बखेड़ा खड़ा हुआ। पं० रामचंद्र शुक्ल के पिता यह चाहते थे कि कचहरी में जाकर वे दफ्तर का काम सीखें; किंतु पं० रामचंद्र शुक्ल, जो बराबर अपने दर्जे में प्रथम रहे, इलाहाबाद जाकर आगे कालेज में पढ़ना चाहते थे। एक वर्ष तक यह द्वन्द्व चलता रहा। अन्त में इनके पिता ने वकालत पढ़ने के लिए इनको प्रयाग भेजा। इनकी रुचि वकालत की ओर न होने के कारण ये परीक्षा में अनुत्तीर्ण रहे तथा मिर्जापुर लौट आए।

१०

मिर्जापुर आने पर उन्होंने अपने पिता के भीतर एक विशेष परिवर्तन देखा। उनका झुकाव अब धीरे-धीरे 'हिंदी' की ओर हो रहा था। रामायण, राम-चंद्रिका आदि बड़ी भक्ति से वे पढ़ने लगे। साथ-ही-साथ भारतेंदु हरिश्चंद्र के ग्रन्थों का भी अवलोकन करते। रामानंद, परमानंद, लालजी, (पं० रामचंद्र शुक्ल के सहचर) अब उनके पास आने-जाने लगे। सबसे अधिक आश्चर्य पं० रामचंद्र शुक्ल को इस बात पर हुआ कि इनके अनुत्तीर्ण होने पर इनके पिता ने किसी प्रकार का रोष प्रकट नहीं किया। इस नूतन परिवर्तन का चाहे और कोई कारण रहा हो, किन्तु इसमें संदेह नहीं कि सबसे अधिक प्रभाव उन पर रमई पट्टी के सुचारु वातावरण का पड़ा था। कब तक वे उससे दूर रह सकते थे ? पं० रामचंद्र शुक्ल को पिता के इस आकस्मिक परिवर्तन से बड़ा प्रोत्साहन मिला। 'मनोहर छटा' नामक इनकी कविता 'सरस्वती' में बहुत पहले निकल चुकी थी। 'शिशिर-पथिक', 'बसंत-पथिक', 'भारत और बसंत',

'दुर्गावती' इत्यादि इनकी और रचनाएं अब निकलीं। पिता भी इनकी कृतियों पर प्रसन्न दिखाई पड़े। मिर्जापुर से उस समय स्वर्गीय उपाध्याय पं० बदरीनारायण जी चौधरी की 'आनंद-कादंबिनी' पत्रिका निकलती थी। पं० रामचंद्र शुक्ल की रचनाएं उसमें भी निकलने लगीं। चौधरीजी के यहाँ पं० रामचंद्र शुक्ल बराबर जाने लगे और इनके भीतर हिंदी के सुलेखक बनने की बड़ी प्रबल उत्कंठा जग गई जो निरंतर दृढ़तर होती गई। इसी समय इन्होंने अंगरेजी से दो अनुवाद कर डाले जो इनकी उस समय की अल्पावस्था के ध्यान रखने वालों को चक्कर में डाल देते हैं। Addision essays on Imagination का अनुवाद 'कल्पना का आनंद' लेख रूप में 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका' में निकला तथा Mega thenes की India का अनुवाद 'मेगास्थनीज का भारतवर्षीय वर्णन' ग्रन्थाकार प्रकाशित हुआ। इस काल की एक मनोरञ्जक घटना का उल्लेख यहाँ कर देना आवश्यक प्रतीत होता है। इनके पिता ने बड़ा प्रयत्न करके इनका नाम नायब तहसीलदारी के लिए मि० Wyndhom के द्वारा, जो उस समय मिर्जापुर का कलेक्टर था, गवर्नमेंट में भिजवाया। पं० रामचंद्र शुक्ल अपने पिता के साथ कई बार कलक्टर के बँगले पर गये। उस कलक्टर को प्रसन्न करने के लिए 'हुजूर' कहना परमावश्यक था। संभवतः पं० रामचंद्र शुक्ल को भी इस अपमानजनक विधि का प्रतिपालन करना पड़ा। तदुपरांत इनके आत्म-बल को इतनी ठेस लगी तथा इनके चित्त में इतनी ग्लानि का संचार हुआ कि चट इन्होंने अंगरेज कर्मचारियों की नव्वाबी तथा हिंदुस्तानियों की खुशामदी जी-हुजूरी की तीव्र आलोचना Hindustan Review में, जो इस समय प्रयाग से निकलता था, की। अंगरेजी में एक लेख 'What has India to do ?' लिखकर की। किसी प्रकार यह लेख Mr. Wyndhom के हाथों में पड़ गया। चिढ़कर उसने इन्हें 'नालायक' कहकर इनका नामिनेशन रद्द कर दिया। उस दिन से कभी सरकारी नौकरी का नाम इन्होंने नहीं लिया। अपना जो मार्ग ये स्वयं निकाल रहे थे वहीं इन्हें कल्याणकारी प्रतीत हुआ।

११

तीन वर्ष तक मिर्जापुर के लण्दन-मिशन-स्कूल में ड्राइङ्ग-टीचर रहने के उपरांत २९ वर्ष की अवस्था में 'हिंदी-शब्द-सागर' के सहायक सम्पादक होकर ये काशी गये। कोष-कार्य के समाप्त होते ही हिन्दू-विश्व-विद्यालय के हिन्दी-विभाग में इनकी नियुक्ति हुई। वहीं ये अन्तिम समय तक रहे। काशी ही में इनके जीवन का अधिक भाग व्यतीत हुआ है। बीच में एक वर्ष के लिए जब बा० श्यामसुन्दरदास के साथ 'शब्द-सागर-विभाग' उठकर काश्मीर गया तब ये भी काश्मीर गये ? वहाँ इनके

स्वास्थ्य को अपूर्व लाभ पहुँचा, इनका शरीर स्निग्ध-सा हो गया। हिन्दू-विश्वविद्यालय में आने के उपरांत एक बार अलवर-नरेश विद्या-प्रेमी महाराज सर सवाई जैसिंहजी ने तुलसी के अध्ययन के लिए इन्हें अपने यहाँ बुलाकर रखा; किन्तु इनका जी वहाँ भो न लगा और ये चले आए। काशी ही में सूर, तुलसी, जायसी आदि पर गूढ़ आलोचनात्मक निबन्ध तथा 'काव्य में रहस्यवाद', 'काव्य में प्राकृतिक दृश्य' तथा 'कविता क्या है' आदि गम्भीर मार्मिक काव्य-समीक्षाएं इनकी निकलीं। 'हिन्दी-शब्द-सागर' तथा 'हिन्दी-साहित्य का इतिहास' की पूर्ति भी इन्होंने काशी ही में रहकर की। 'बुद्ध-चरित', 'प्राचीन फारस का इतिहास', 'शशांक', 'विश्व-प्रपंच', 'आदर्श जीवन' आदि और कितने ही प्रसून इनकी लेखनी द्वारा वहाँ से प्रकट हुए। काशी हो में आने के उपरान्त 'नागरी-प्रचारिणी पत्रिका' के सम्पादन-काल में मनोविकारों पर इनके जटिल दार्शनिक विचारात्मक निबन्ध बहुत पहले निकल चुके थे।

१२

बाल्य-काल से ही वे गम्भीर थे। विद्यानुराग उनका उसी समय प्रकट हो गया जब नवीं कक्षा में ही रात्रि के एक-एक बजे तक उनके कमरे में दीपक जला करता था और वे लेटे-लेटे Addison के Essays on Imagination अथवा Herbert Spencer की Psychology के पृष्ठों में डूबे हुए दिखाई पड़ते थे। मिर्जापुर की Mayo Memorial Library का सञ्चालन उस समय पं० केदारनाथ पाठक के द्वारा होता था। अंगरेजी पुस्तकों की कमी तो वहाँ न थी; किंतु हिन्दी की पुस्तक जोड़-बटोरकर पाठक जी पं० रामचन्द्र शुक्ल के सामने रखते थे। पढ़ने वाला व्यसन उनके जीवन-पर्यन्त रहा। इनका स्वभाव इतना सरल; इनकी बातें इतनी सरस तथा इनकी छाया इतनी शीतल थी कि उसमें मनुष्य ही नहीं कुत्ते, बिल्ली, फूल, काँटे, घास, पात, करील, झाऊ आदि को भी विश्राम मिलता था। उनके साहचर्य के माधुर्य को उनके समीप रहने वाले अथवा उनके समीप आने वाले सदा समझेंगे—जो प्राणी बोल सकते हैं वे रोयंगे, जो मूक हैं वे अवाक् रहेंगे।

द्वितीय खण्ड

आलोचना

४. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल

डॉक्टर हजारीप्रसाद द्विवेदी

स्वर्गीय पं० रामचन्द्र शुक्ल हिन्दी के गंभीर समीक्षक के रूप में परिचित हैं। परन्तु इतना ही परिचय उनका यथार्थ परिचय नहीं है। वे कवि थे और उन साहित्यकारों की अगली पंक्ति में थे जिन्होंने पुराने भारतीय साहित्य को नवीन आलोक में देखा था और उसके उज्ज्वल यश को संसार के सम्मुख उपस्थित किया था। उन्होंने देशी और विदेशी भाषाओं की चुनी हुई पुस्तकों का हिन्दी में अनुवाद किया था और हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ कोष के अनन्यतम संपादक के रूप में कार्य भी किया था। उनका 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' उनकी व्यापक दृष्टि का ज्वलन्त निदर्शन है। कितने इतस्ततो निक्षिप्त सूत्रों की उलझनें उसमें सुलझाई गई हैं। कितने बे-बुनियाद मूल्यांकन को अस्वीकार करके नया और मानने योग्य मूल्य-निर्धारण का कार्य किया है वह उसके पूर्ववर्ती ग्रन्थों से तुलना करने से ही स्पष्ट हो जाता है। उनके निबन्ध केवल हिन्दी भाषा की ही अमूल्य निधि नहीं हैं प्रत्युत वे समूचे भारतीय साहित्य में महत्त्वपूर्ण स्थान पाने के अधिकारी हैं।

आचार्य शुक्ल नवीन और प्राचीन ज्ञान के वास्तविक सत्य साक्षी थे। प्राचीन साहित्य का इस प्रकार मंथन करने वाले कम साहित्य-समालोचक होंगे। संस्कृत के साहित्य-शास्त्र पर उनका पूर्ण अधिकार था। उसका परिणाम यह हुआ है कि उनकी भाषा उन प्राचीन साहित्य-शास्त्रीय परिभाषाओं से गुम्फित हो गई है। बहुत-से लोग उस प्राचीनतम श्लिष्ट भाषा को देखकर ही आतंकित हो जाते हैं और समझ लेते हैं कि वे प्राचीन विचारों की व्याख्या-मात्र कर रहे हैं। पर यह बड़ी भारी गलती है। इस प्राचीनतम क्लिष्ट भाषा के अन्तस्तल में अनेक नये और कभी-न-कभी तो प्राचीनों के विरुद्ध जाने वाले विचार ढले रहते हैं। वस्तुतः प्राचीन भाग उनके नवीन विचारों का कर्म है। जो उसको भेद सकता है वही नये विचारों का रस ले सकते

हैं, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल हिन्दी के गौरव थे। समीक्षा-क्षेत्र में उनका कोई प्रतिद्वन्द्वी न उनके जीवन-काल में था, न अब (उनके स्वर्गवास के अनंतर) कोई उनका समकक्ष आलोचक है।

यह कह सकना बड़ा कठिन है कि आचार्य शुक्ल के ऊपर प्राचीन विचारों का प्रभाव अधिक है या नवीन विचारों का। उनके आरंभिक लेखों में बहुत प्रांजल रूप में उनके ऐसे विचार प्रकट हुए हैं जो निश्चित रूप से केवल उनके ही हैं। धीरे-धीरे उनके साहित्यिक अध्ययन के साथ-साथ इन विचारों पर शास्त्रीय रंग चढ़ता गया है। उनकी प्रौढ़ावस्था में शास्त्रीय विचार अवश्य ही परिपुष्ट रूप में, उनके मानस में पूर्ण-रूप से रम गए। परंतु कभी उन्होंने अपनी बुद्धि पर अविश्वास नहीं किया। शास्त्र-कारों की विचार-पद्धति पर शास्त्रकार की हैसियत से ही विचार करने में वे कभी कुण्ठित नहीं हुए। कुछ लोगों को भ्रम है कि वे नये प्रयोग करने वाले तरुण साहित्यिकों के प्रति सहानुभूतिमयी दृष्टि नहीं रखते थे। ऐसी बात नहीं है। वस्तुतः वे कुछ खास प्रकार के काव्य-विचारों के पोषक थे। उसके बाहर जाने वाले को वे पसंद नहीं करते थे, फिर चाहे वह नवीन हो या प्राचीन। कल्पना और भावुकता को वे कवि का वास्तविक गुण मानते थे, पर उन्होंने स्पष्ट ही लिखा है। (और अस्पष्ट वे बहुत कम लिखा करते थे) कि "सच्चा कवि वही है जिसे लोक-हृदय की पहचान हो, जो अनेक विशेषताओं और विचित्रताओं के बीच मनुष्य-जाति के सामान्य हृदय को देख सके। इसी लोक-हृदय में हृदय के लीन होने की दशा का नाम रस-दशा है।"

(चिंतामणि)

यह जो मनुष्य-जाति के सामान्य हृदय को अनेक विशेषताओं और विचित्र-ताओं के भीतर से देखने के प्रति उनका सहज झुकाव है उसी ने उन्हें प्रबंध-काव्यों का प्रेमी बनाया है। वे उन कवियों के प्रति कभी आकृष्ट नहीं हो सके जो केवल विच्छिन्न अवस्थाओं में मनुष्य-हृदय को एक साधारण-सी झलक दे जाते हैं। फिर चाहे वे रीति-काल के कवि हों या सन्तजन हों या असीम की ओर आँख बिछाये हुए तरुण कवि हों। प्रबंध काव्य उनका प्रिय विषय रहा है। उनकी 'तुलसीदास' और 'जायसी' की विवेचना बड़ी ही विद्वत्तापूर्ण है। क्योंकि इन कवियों के प्रबंध काव्यों में मनुष्य-जाति के सामान्य हृदय को अनेक विचित्रताओं और विशेषताओं के भीतर से देखने का अवसर मिलता है और उस हृदय के कोमल और कर्कश रूप का प्रत्यक्ष दर्शन होता है।

मनुष्य की मनुष्यता अपने भावों को समेटकर शेष जगत से विच्छिन्न होकर रहने में नहीं प्रकट होती। शुक्ल जी ने लिखा है कि "यदि अपने भावों को समेट-

कर मनुष्य अपने हृदय को शेष सृष्टि से किनारे कर ले या स्वार्थ की पशु-वृत्ति में ही लिप्त रखे तो उसकी मनुष्यता कहाँ रहेगी ? यदि लहलहाते हुए खेतों और जंगलों में हरी घास के बीच घूमकर बहते हुए नालों, काली चट्टानों पर चाँदी की तरह ढलती हुई झाड़ियों को देखकर क्षण-भर लीन न हुआ, यदि कलरव करते हुए पक्षियों के आनंदोत्सव में उसने योग न दिया, यदि खिले हुए फूलों को देखकर वह न खिला, यदि सुन्दर रूप सामने पाकर अपनी भीतरी कुरूपता का उसने विसर्जन न किया, यदि दीन-दुखी का आर्त-नाद सुनकर वह न पसीजा, यदि अनाथों और अबलाओं पर अत्याचार होते देखकर क्रोध से न तिलमिलाया, यदि किसी बेढब और विनोदपूर्ण दृश्य या उचित बात पर न हँसा तो उसके जीवन में रह ही क्या गया ? इस विश्व-कार्य की रस-धारा में जो थोड़ी देर के लिए भी निमग्न न हुआ उसके जीवन को मरुस्थल की यात्रा ही समझना चाहिए।

शुक्ल जी के मत से काव्य के तीन क्षेत्र हैं नर-क्षेत्र अर्थात् मनुष्यों का बाह्य और अन्तः प्रकृति के नाना संबंधों और पारस्परिक विधानों का संकलन या उद्भावना पर आधारित काव्य, मनुष्येतर बाह्य प्रकृति का क्षेत्र और समस्त चराचर का क्षेत्र। नर-क्षेत्र के काव्यों में उन्हें प्रबंध काव्यों ने अधिक आकृष्ट किया था और मनुष्य प्रकृति के प्रसंग के उठने पर तो शुक्ल जी स्वयं कवि हो जाते हैं। प्रकृति के संबंध में कहने का कुछ अवसर मिलते ही वे भाव-मत्त होकर झूम उठते हैं। वे कहते हैं : "मैं पहाड़ों पर या जंगलों में घूमते समय बहुत-से ऐसे देश हैं जहाँ लहराते हुए हरे-भरे जंगलों में एवं शिलाओं पर चाँदी से ढलते हुए झरनों, चौकड़ी भरते हुए हिरनों और जल को झुककर चूमती हुई डालियों पर कलरव कर रहे विहंगों को देखकर मुग्ध हो गया हूँ। काले मेघ जब अपनी छाया डालकर चित्रकूट के पर्वतों को नील वर्ण कर देते हैं। तब नाचते हुए नीलकंठों (मोरों) को देखकर सभ्यताभिमान के कारण शरीर चाहे न नाचे, पर मन अवश्य नाचने लगता है। इसमें कोई संदेह नहीं कि ऐसे दृश्यों के प्रति आकर्षण है। (काव्य में प्राकृतिक दृश्य)। जो लोग प्रकृति के अनंत रूप को देखकर मुग्ध नहीं होते। केवल लाल-पीले फूल-पत्रों को देखकर ही गद्‌गद् होते हैं उनको आचार्य शुक्ल सहृदय नहीं मानते। उन्होंने रोषपूर्वक ऐसे लोगों को तमाशबीन और भोग-लिप्सु नाम से स्मरण किया है। एक स्थान पर वे कहते हैं—"अनंत रूपों में प्रकृति हमारे सामने आती है—कहीं मधुर सुसज्जित या सुन्दर रूप में, कहीं रूखे बेडौल या कर्कश रूप में। कहीं भव्य, विशाल या विचित्र रूप में, कहीं उग्र, कराल या भयंकर रूप में। कवि का हृदय उसके इन सब रूपों में लीन होता है, क्योंकि उसके अनुराग का कारण उसका अपना खास सुख-भोग नहीं, बल्कि चिर साहचर्य द्वारा

प्रतिष्ठित वासना है। जो केवल प्रफुल्ल प्रसून प्रसार के सौरभ-संचार मकरंद-लोलुप मधु-गुञ्जार, कोकिल-कूजित निकुञ्ज और शीतल सुख स्पर्श समीर इत्यादि की ही चर्चा किया करते हैं! वे विषयी या भोग-लिप्सु हैं। इसी प्रकार जो केवल मुक्ताभास हिम-बिंदु-मंडित रक्ताभ शाद्वल जाल अत्यंत विशाल गिरि-प्रपात से गिरते हुए जल-प्रान्त के गंभीर गर्त से उठी सीकर-नीहारिका के बीच विविध वर्ण स्फुरण की विशालता, भव्यता और विचित्रता में ही अपने हृदय के लिए कुछ पाते हैं वे तमाश-बीन हैं—सच्चे भावुक या सहृदय नहीं।" (चिंतामणि पृ० २०३-४)

यह बात कुछ दृढ़ता के साथ ही कही जा सकती है कि शुक्ल जी के समान प्रकृति-प्रेमी साहित्यिक बहुत कम ही हुए हैं। वे उन कवियों को एकदम पसंद नहीं करते थे जो प्रकृति को शुद्ध रूप से तो देख नहीं सकते, केवल झूठे भावों का आरोप करके उसके रूप-माधुर्य को आच्छन्न करके ही हाय-हाय करते रहते हैं। 'हृदय का मधुर भार' नामक कविता में उन्होंने ऐसे कवियों को फटकार बताई है—

"प्रकृति के शुद्ध रूप देखने को आँख नहीं
जिन्हें वे ही भीतर रहस्य समझाते हैं।
झूठे-झूठे भावों के आरोप से आच्छन्न उसे
करके पाखंड कला अपनी दिखाते हैं॥
अपने कलेवर की मैली औ' कुचैली वृत्ति
थोप के निराली छटा उसकी छिपाते हैं।
अश्रु, श्वास, ज्वर, नीरव, रुदन, नृत्य,
देख अपना ही तंत्री-तार वे बजाते हैं॥"

यह ध्यान देने की बात है कि शुक्ल जी ने अधिकतर काव्य की ही आलोचना की है; नाटक, उपन्यास, निबंध, कहानियाँ ये सब साहित्यांग उनकी विशाल दृष्टि के लक्ष्य बहुत कम बने। अपने इतिहास में यथा प्रसंग उन्हें ऐसे विषयों की चर्चा कर देनी पड़ी है, लेकिन चित्त उनका रमता काव्य में ही था—काव्य में। इसका एक कारण उनका प्राचीन साहित्य का अनुराग और तज्जन्य प्रभाव हो सकता है। अवस्था के साथ-साथ उनकी दृष्टि अधिकाधिक इन शास्त्रीय आलोचनाओं की ओर निबद्ध होती गई है। प्राचीन साहित्य-शास्त्रियों की विवेचना का प्रधान विषय काव्य ही रहा और शुक्ल जी ने भी अपनी आलोचनात्मक प्रतिभा का उपयोग अधिकांश में काव्य की आलोचना में ही किया। उनका साहित्यक मत बहुत स्पष्ट था। वे मानो तनकर कहते हैं कि मैं ऐसा मानता हूँ तुम ऐसा मानते हो या नहीं, इसकी मुझे

परवाह नहीं। अपने सुनिश्चित मत पर वे चट्टान की तरह दृढ़ थे, यदि संसार के श्रेष्ठ माने जाने वाले कवि भी उस सिद्धान्त के अनुकूल नहीं पड़ते तो शुक्ल जी को कोई चिन्ता नहीं थी। उनके सभी निबंधों में उनकी यह दृढ़ता स्पष्ट हुई है। इसमें एक अडिग आत्म-विश्वास ने ही सारे हिंदू-जगत् में उनका सिक्का जमा दिया है। आप उस कठोर आत्म-विश्वास की उपेक्षा नहीं कर सकेंगे। मानने पर आप अनुयायी हो जायंगे और न मानने पर अशांत हो जायंगे। हिंदी-संसार में शुक्ल जी अपने ढंग का एक और अद्वितीय व्यक्तित्व लेकर अवतीर्ण हुए थे। वे काव्य के क्षेत्र में अव्यक्त और अज्ञात की अनुभूति से सदा व्याकुल रहने वाले कवियों को काव्य-क्षेत्र से हटकर किसी धर्म-साधना या दर्शन के क्षेत्र में जाने की सलाह देते थे। क्योंकि उनके मत से काव्य का क्षेत्र मनुष्य या मनुष्येतर बाह्य प्रकृति के पारस्परिक संबंधों का क्षेत्र है, अज्ञात और अव्यक्त रहस्यों का लोक नहीं। शुक्ल जी का यह मत उनकी व्यापक दृष्टि के अनुकूल नहीं था। एक जगह वे लिखते हैं—"जो कोई यह कहे कि अज्ञात और अव्यक्त की अनुमति से हम मतवाले हो रहे हैं, उसे काव्य-क्षेत्र से निकलकर मतवालों (साम्प्रदायिकों) के क्षेत्र में अपना हाव-भाव और नृत्य दिखाना चाहिए। स्पष्ट ही इन कथनों में एक प्रकार की झुँझलाहट और खीझ, जो उनकी विवेकी बुद्धि के अनुरूप नहीं है, है। वस्तुतः इस मत के प्रति उनका आग्रह इतना अधिक था कि ऐसे बड़े-बड़े संतों और भक्त कवियों का महत्त्व भी वे स्वीकार नहीं कर सके, जिन्होंने सब प्रकार के साम्प्रदायिक मनोभावों पर कस-कर आघात किया था और अपने परम उपास्य को उन्हीं मनोरागों के भीतर से देखने का प्रयत्न किया था जिन मनोरागों के भीतर से शुक्ल जी ने प्रकृति के मोहक रहस्यों को देखा था।

जैसा कि पहले कहा गया है शुक्ल जी अपनी अमिट छाप हमारे साहित्य पर छोड़ गए हैं। उनकी शैली का अनुकरण अनेक कृती आलोचकों ने किया है। अनेक इतिहास-लेखकों ने उनके ऐतिहासिक काल-विभाजन और साहित्यिक मूल्यांकन को बिना किसी प्रकार के मत-विरोध दिखाए स्वीकार कर लिया है। उनके निबंधों की भाषा ने हिन्दी को अभिभूत किया है। जिस लेखक का प्रभाव इतना व्यापक हो उसकी असाधारण प्रतिभा के लिए प्रमाण खोजने की आवश्यकता नहीं है। आचार्य शुक्ल उन महिमाशाली लेखकों में हैं जिनकी प्रत्येक पंक्ति आदर के साथ पढ़ी जाती है और भविष्य को प्रभावित करती रहती है। 'आचार्य' शब्द ऐसे ही कर्त्ता साहित्य-कारों के योग्य है। पं० रामचन्द्र शुक्ल सच्चे अर्थों में आचार्य थे।

५. आचार्य शुक्ल की बहुमुखी प्रतिभा

प्रो० विजयेन्द्र स्नातक

हिन्दी-साहित्य-क्षेत्र में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल प्रधानतया आलोचक के रूप में विख्यात हैं। विवेचन और विश्लेषण की प्रमुखता के कारण उनके समीक्षक रूप ने सामान्य पाठक को इतना प्रभावित किया हुआ है कि साहित्य-साधना के क्षेत्र में उनकी बहुमुखी प्रतिभा द्वारा प्रसूत अन्य अङ्गों की ओर सहसा हमारा ध्यान नहीं जाता। शुक्ल-साहित्य का अध्ययन करते समय उनकी विचार-प्रधान व्याख्यात्मक या गवेषणात्मक शैली का प्राचुर्य हमारा ध्यान बरबस और सब रूपों से हटाकर उनके अन्यतम आलोचक रूप पर केन्द्रित कर देता है। किंतु स्मरण रहे कि शुक्लजी कोरे आलोचक या समीक्षक ही नहीं वरन् उच्चकोटि के शैली-निर्माता, निबंधकार, विज्ञ इतिहास लेखक, भावुक कवि, समर्थ अनुवादक, सफल अध्यापक और कुशल सम्पादक भी थे। उन्होंने साहित्य के जिस अङ्ग को भी अपनी लेखनी से स्पर्श किया उसे अपनी विलक्षण प्रतिभा से कई गुना चमका दिया। कहना न होगा कि इतिहास, आलोचना, निबंध और अनुवाद के क्षेत्र में शुक्ल जी अपने पूर्ववर्त्ती सभी साहित्यकारों से आगे थे। निस्संदेह उन्होंने इन क्षेत्रों में युगांतरकारी परिवर्तन किया और अपनी उपज्ञात प्रतिभा के नूतन उन्मेष से साहित्य के इन विचार-प्रधान अङ्गों का नवीन शैली से निर्माण भी किया। नीचे की पंक्तियों में हम उनकी प्रतिभा के विविध एवं बहुमुखी रूपों का संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत करते हैं।

शुक्ल जी की महत्त्वपूर्ण कृतियाँ—

१. इतिहास

(क) हिन्दी-साहित्य का इतिहास

२. व्याख्यात्मक समालोचना

(क) जायसी ('जायसी-ग्रन्थावली' की भूमिका)

(ख) तुलसीदास ('तुलसी-ग्रन्थावली' की भूमिका)

(ग) सूरदास ('भ्रमर-गीत-सार' की भूमिका)

३. सैद्धान्तिक समालोचना

(क) काव्य में रहस्यवाद, काव्य में अभिव्यंजनावाद (चिंतामणि भाग २)

(ख) रस-मीमांसा (मृत्यु के बाद प्रकाशित)

४. निबन्ध

(क) चिन्तामणि भाग १-२

(ख) 'साहित्य', 'प्राचीन भारतीयों का पहरावा' तथा अन्य फुटकर निबंध।

५. अनुवाद

(क) शशाङ्क (बंगला-उपन्यास)

(ख) विश्व-प्रपंच (अंगरेजी)

(ग) आदर्श-जीवन (अंगरेजी)

(घ) राज्य-प्रबंध-शिक्षा (अंगरेजी)

(ङ) मेगस्थनीज का भारतवर्षीय वर्णन (अंगरेजी)

(च) कल्पना का आनन्द (अंगरेजी)

(छ) अंगरेजी भाषा के कतिपय स्फुट लेखों का अनुवाद।

६. काव्य

(क) बुद्ध-चरित (लाइट ऑफ एशिया के आधार पर व्रजभाषा-काव्य)

(ख) मनोहर छटा तथा प्रकृति सम्बन्धी कविताएं।

७. सम्पादन

(क) हिन्दी-शब्द-सागर

(ख) नागरी-प्रचारिणी-पत्रिका

(ग) सूर, तुलसी, जायसी-ग्रन्थावली

शुक्ल जी के यश को चिरस्थायी बनाने में उनका 'हिन्दी-साहित्य का इतिहास' महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। अध्ययन-अध्यापन और प्रचार की दृष्टि से तो कदाचित् उनके इतिहास का स्थान सर्वोपरि ठहरेगा। शुक्ल जी के इतिहास के प्रकाशित होने से पहले हिन्दी-कवियों का एक वृत्त-संग्रह ठाकुर शिवसिंह सेंगर ने सन् १८८३ में प्रस्तुत किया था। उसके बाद सन् १८८९ में डॉ० ग्रियर्सन ने 'मॉडर्न वरनाक्यूलर लिटरेचर ऑफ नार्दर्न हिन्दुस्तान' नाम से एक कवि-वृत्त प्रकाशित किया। इस संग्रह में कुछ विवरण बढ़ा दिये गए थे और लेखक का ध्यान इस बात की ओर गया था कि कवियों

हिन्दी-साहित्य का इतिहास

इस काल का इतना विस्तृत विवरण प्रस्तुत नहीं किया था। इस काल पर शुक्लजी ने जो सामग्री जुटाई वह परवर्ती इतिहास-लेखकों के लिए प्रकाश-स्तम्भ सिद्ध हुई। द्विवेदी-युग का इतिहास शुक्ल जी ने साङ्गोपाङ्ग एवं सटीक लिखा। इस युग के बाद छायावाद-युग का इतिहास लिखने में शुक्ल जी ने काव्य-पद्धतियों की मीमांसा करते हुए अपने वैयक्तिक दृष्टिकोण को मुख्यता प्रदान की। छायावादी काव्य को उन्होंने अभिव्यंजना की विशिष्ट शैली-मात्र स्वीकार करके इस युग के कवियों को नूतन भाव, विचार और प्रेरणा का सृष्टा नहीं माना। 'नई धारा' शीर्षक अध्याय में इस युग के जिन कवियों का उल्लेख हुआ है उनमें पंत और प्रसाद के अतिरिक्त किसी को भी शुक्ल जी वह स्थान न दे सके जो उन्हें आज प्राप्त है। सुश्री महादेवी वर्मा के काव्य में रहस्यात्मक भावना का उल्लेख शुक्लजी ने अवश्य किया, किंतु उस युग की काव्य-धारा को रहस्यवाद के अनुरूप स्वीकार नहीं किया। इस प्रसंग में शुक्ल जी ने छाया-वादी कवियों की आलोचना में स्थान-स्थान पर व्यंग्य का प्रयोग किया है और बड़ी मीठी चुटकी ली है।

संक्षेप में, शुक्लजी का इतिहास हिंदी-साहित्य का एक-मात्र दिशा-बोध कराने वाला प्रामाणिक ग्रन्थ माना जाता है। उसकी प्रामाणिकता में आज किसी को संदेह नहीं है और इसी कारण अध्ययन-अध्यापन में वह सबका पथ-प्रदर्शक बना हुआ है। कतिपय परवर्ती लेखकों ने शुक्लजी के प्रवृत्ति-मूलक वर्गीकरण पर शंका उठाई, किंतु उनके इतिहास ने ऐसा प्रचार और यश अर्जित कर लिया है कि सहसा उसका खंडन स्वीकार्य नहीं होता।

आलोचनात्मक ग्रन्थ

शुक्ल जी की व्यावहारिक या व्याख्यात्मक आलोचना-शैली का परि-पक्व एवं परिष्कृत रूप जायसी, सूर और तुलसी-जैसे महाकवियों की कृतियों के सम्पादन के साथ लिखी गईं भूमिकाओं में हमें देखने को मिलता है। हिन्दी-साहित्य के इतिहास में शुक्ल जी से पहले इतनी सारगर्भित और गवेषणात्मक भूमिका लिखने की परिपाटी नहीं थी।

जायसी : 'जायसी-ग्रन्थावली की भूमिका'

आलोच्य ग्रन्थ 'जायसी' की भूमिका का अनुशीलन करने से विदित होता है कि लेखक ने कवि का इतिवृत्त लिखकर या कृति के सामान्य गुण-दोष प्रदर्शित करके अपने आलोचक के गुरुतर कर्तव्य की इतिश्री नहीं की है वरन् कवि की अन्तःप्रवृत्तियों का उद्‌घाटन करते हुए काव्य-शास्त्र की कसौटी पर कृति को कसकर उसका निर्णयात्मक शैली से मूल्याङ्कन किया है।

'जायसी-ग्रन्थावली' की भूमिका शुक्ल जी की तीनों भूमिकाओं के विस्तार

की दृष्टि से सबसे बड़ी है। सवा दो सौ पृष्ठ की इस भूमिका को यदि मलिक मुहम्मद जायसी का एक सर्वाङ्गीण विवेचनात्मक अध्ययन कहा जाय तो कोई अत्युक्ति न होगी। यह भूमिका तेईस अध्यायों में विभक्त है जिसमें प्रथम तथा तृतीय अध्याय का सम्बन्ध कवि के जीवन-वृत्त से है। शेष अध्याय 'पदमावत' की आलोचना तथा उससे सम्बद्ध विषयों पर प्रकाश डालने के लिए लिखे गए हैं। प्रेम-गाथा की परम्परा तथा पद्मावत की प्रेम-पद्धति का विशद वर्णन करते हुए लेखक ने ईश्वरोन्मुख प्रेम तथा प्रेम-तत्त्व पर स्वतंत्र रूप से अपने विचार प्रदर्शित किये हैं। जायसी के काव्य में वियोग तथा संभोग शृङ्गार की विभिन्न दशाओं के चित्र उपस्थित करके लेखक ने उन मार्मिक स्थलों की ओर पाठक का ध्यान आकृष्ट किया जो जायसी को प्रेमाख्यानक कवियों की परम्परा में सर्वश्रेष्ठ ठहराते हैं। कवि का वियोग और संयोग-शृङ्गार-वर्णन की विशद व्याख्या प्रस्तुत करते हुए शुक्ल जी ने नागमती के विरह-प्रसंग को हिन्दी-साहित्य का श्रेष्ठतम विरह-वर्णन बताया है। वे लिखते हैं: "नागमती का विरह-वर्णन हिन्दी-साहित्य में एक अद्वितीय वस्तु है। नागमती उपवनों के पेड़ों के नीचे रात-रात-भर रोती फिरती है। इस दशा में पशु, पक्षी, पेड़, पल्लव जो-कुछ सामने आता है उसे वह अपना दुखड़ा सुनाती है। वह पुण्य दशा धन्य है जिसमें उसे सब अपने सगे लगते हैं और यह जान पड़ने लगता है कि इन्हें दुःख सुनाने से भी जी हल्का होगा।" ('जायसी ग्रन्थावली' की भूमिका)

काव्यालोचन के सम्बंध में शुक्ल जी की अपनी स्वतंत्र मान्यताएं हैं जिनके आधार पर वे आलोचना प्रस्तुत करते हैं। इन सिद्धांतों के मूल में वे अपने जीवन-दर्शन को रखते हैं जिसमें बुद्धिवाद, लोकादर्शवाद या मर्यादावाद, तथा नवीन और प्राचीन का समन्वय मुख्य है। काव्य की सफलता में उसकी प्रेषणीयता को प्रथम स्थान देते हुए कवि के भावों और अनुभूतियों की सम्यक् अभिव्यक्ति को वे आवश्यक समझते हैं। अतएव उनके शब्दों में ही—'काव्य का लक्ष्य है जगत् और जीवन के मार्मिक पक्ष को गोचर रूप में लाकर सामने रखना, जिससे मनुष्य अपने व्यक्तिगत संकुचित घेरे से अपने हृदय को निकालकर उसे विश्व-व्यापिनी और त्रिकाल-वर्तिनी अनुभूति में लीन करे। इसी लक्ष्य के भीतर जीवन के ऊँचे-से-ऊँचे उद्देश्य आ जाते हैं। इसी लक्ष्य के साधन से मनुष्य का हृदय जब विश्व-हृदय, भगवान् के लोक-रक्षक और लोक-रंजक हृदय से जा मिलता है, तब वह भक्ति में लीन कहा जाता है।' (इन्दौर का भाषण)। काव्य के विषय का निरीक्षण करते हुए शुक्ल जी ने जड़ और जंगम जगत् के असुन्दर और सुन्दर कहे जाने वाले सभी उपादानों को गिनाया है। किन्तु काव्य का मुख्य विषय मानव-जीवन ही उन्होंने स्वीकार किया है जो

अपने भीतर शक्ति, शील और सौन्दर्य की प्रतिष्ठा करके जगत् को अनुरंजित करने में सफल होता है। काव्य के इन समस्त विषयों को उन्होंने दो भागों में विभक्त किया है, एक विभाव पक्ष और दूसरा भाव पक्ष। प्रत्येक प्रथम कोटि के सफल काव्य में दोनों पक्षों की परिपूर्णता अनिवार्य रूप से आवश्यक है। विभाव पक्ष की स्थापना के लिए काव्योपयोगी आलम्बन तथा उद्दीपन का रखना भी उन्हें अभिप्रेत है। उद्दीपन के लिए प्रकृति-चित्रण की ओर शुक्ल जी का अनेक बार ध्यान गया और उन्होंने इसे आलम्बन तथा उद्दीपन दोनों स्थितियों में काव्योपयोगी कहा है। कल्पना, अनुभूति और चिन्तन के अतिरिक्त रस, भाव, अलंकार, भाषा, तथा शैली आदि विविध बातों का भी अपनी आलोचना में वे उल्लेख करते हैं। संक्षेप में, वे आलोचना प्रस्तुत करते समय काव्य-शास्त्र की स्थिति कसौटी के रूप में ही स्वीकार करते हैं। जायसी की आलोचना में तो विशेषतः उनका यह शास्त्रीय रूप बहुत स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है।

जायसी की आलोचना में उन्होंने रचना-विधान का विस्तार से वर्णन किया है और पद्मावत को प्रबन्ध-काव्य ठहराते हुए उसकी प्रबन्ध-कल्पना और सम्बंध-निर्वाह पर पर्याप्त प्रकाश डाला है। प्रबन्ध-कल्पना के विषय में उन्होंने लिखा है : 'घटनाओं की सम्बन्ध शृङ्खला और स्वाभाविक क्रम से ठीक-ठीक निर्वाह के साथ-साथ हृदय को स्पर्श करने वाले—उसे नाना भावों का रसात्मक अनुभव कराने वाले प्रसंगों का समावेश होना चाहिए......जिनके प्रभाव से सारी कथा में रसात्मकता आ जाती है। वे मनुष्य-जीवन के मर्मस्पर्शी स्थल हैं जो कथा-प्रवाह के बीच-बीच में आते रहते हैं। यह समझिए कि काव्य में कथा-वस्तु की गति इन्हीं स्थलों तक पहुँचने के लिए होती है। ('जायसी ग्रन्थावली' की भूमिका पृष्ठ ६९) शुक्ल जी प्रबंध काव्य को मुक्तक की अपेक्षा उत्तम कोटि का काव्य मानते हैं अतः पद्मावत की विवेचना में उन्होंने लोक-पक्ष की मर्यादाओं का भी उल्लेख किया है।

तुलनात्मक समीक्षा की दृष्टि से भी लेखक ने तुलसी के साथ जायसी की कतिपय समान और असमान बातों का वर्णन किया है। अंगरेजी के शैली, ब्राउनिङ्ग, वर्ड्सवर्थ आदि कवियों के भावों की भी जायसी से तुलना की है। जायसी की आलोचना में आलोचक ने एक क्रमिक सम्बन्ध का निर्वाह किया है। सम्पूर्ण ग्रन्थ एक सूत्र में आबद्ध-शृङ्खला-सा लक्षित होता है। तुलसीदास की आलोचना की भाँति उसके अध्याय पृथक्-पृथक् स्वतंत्र रूप से लिखे निबंध से प्रतीत नहीं होते। हास्य-व्यंग्य का पर्याप्त पुट इस समीक्षा में है अतः गम्भीर आलोचना होने पर भी उसमें सरसता का अभाव नहीं।

संक्षेप में, शुक्लजी ने जायसी की आलोचना, व्याख्या या विवेचना के आधार पर प्रस्तुत की है जिसमें जायसी के जीवन-चरित्र के साथ जायसी के काव्य को भली-भाँति हृदयंगम करने की शास्त्रीय और मनोवैज्ञानिक सामग्री जुटाई गई है। इस आलोचना में तात्कालिक, सामाजिक, राजनीतिक, तथा साहित्यिक परिस्थितियों का आलोचक ने जिस शैली से अवगाहन किया है वह ऐतिहासिक दृष्टिकोण से भी परिपूर्ण है। पाठक और कवि के बीच आलोचक ने अपनी आलोचना द्वारा इतना सुन्दर माध्यम प्रस्तुत किया है जो कवि के कृतित्व को सम्यक् रूप से समझने में पाठक की सहायता करता है। शुक्ल जी ने जायसी की त्रुटियों का भी इस आलोचना में यथास्थान निर्देश किया है। लोक-पक्ष और शक्ति, शील तथा सौंदर्य की कसौटी पर जायसी खरे नहीं उतरे। किन्तु जायसी की महत्ता उसके प्रबन्ध सौष्ठव, उसकी प्रेम-पद्धति की स्थापना, रहस्यवाद का समीचीन शैली से वर्णन, विरह और संयोग दशाओं को साङ्गोपाङ्ग एवं सटीक चित्रण तथा हृदय की मार्मिक अनुभूतियों के अंकन की दृष्टि से जायसी महाकवि एवं सफल प्रबन्ध-काव्यकार हैं।

सूरदास : 'भ्रमर-गीत-सार की भूमिका'

भ्रमर-गीत-सम्बन्धी सूर के लगभग चार सौ पदों का संग्रह इस पुस्तक में किया गया है। पुस्तक के आरम्भ में लगभग अस्सी पृष्ठ की एक भूमिका है जो जायसी और तुलसी पर लिखी गई भूमिकाओं से आकार में ही नहीं विषय-वर्णन में भी कुछ भिन्न है। जायसी और तुलसी पर लिखी आलोचनाओं में लेखक ने इतिवृत्त तथा परिस्थितियों की पृष्ठभूमि देकर काव्य के मार्मिक स्थलों की मीमांसा की है। इस भूमिका में जीवन-वृत्त तथा ऐतिहासिक पृष्ठभूमि का उल्लेख नहीं हुआ है। इस भूमिका को हम यथार्थ रूप में भूमिका कह सकते हैं। शुक्ल जी ने अपनी आलोचना के लिए जो मानदंड निर्धारित किया हुआ है उसका प्रयोग तो इसमें भी परिलक्षित होता है, किन्तु उसकी व्यापकता का इसमें अभाव है। सूर की आलोचना के लिए लेखक ने भाव-पक्ष और विभाव-पक्ष अर्थात् हृदय-पक्ष तथा कला-पक्ष को कसौटी बनाया है और इसके द्वारा उसने सूर-काव्य के सभी मार्मिक एवं हृदयग्राही स्थलों की छान-बीन की है। कला-पक्ष की स्थापना करते हुए कवि-कर्म की समीक्षा में केवल सूर की विशेषताओं का ही उल्लेख नहीं किया अपितु तुलनात्मक शैली से यथावसर सूर की महानता या सीमाओं का भी बड़ी समीचीन शैली से वर्णन किया है। "वात्सल्य और शृङ्गार के क्षेत्रों का जितना अधिक उद्घाटन सूर ने अपनी बन्द आँखों से किया उतना किसी और कवि ने नहीं। इस क्षेत्र का कोना-कोना

वे झाँक आए। उक्त दोनों रसों के प्रवर्तक रति-भाव के भीतर की जितनी मानसिक वृत्तियों और दशाओं का अनुभव और प्रत्यक्षीकरण सूर कर सके उतनी का और कोई नहीं। हिन्दी साहित्य में शृङ्गार का रस-राजत्व यदि किसी ने पूर्ण रूप से दिखाया तो सूर ने।"

('भ्रमर-गीत-सार' की भूमिका पृष्ठ ३)

'भ्रमर-गीत-सार' की भूमिका के सम्बन्ध में कुछ विद्वानों का मत है कि शुक्ल जी ने सूर के काव्य-सौष्ठव की सराहना करते हुए भी 'सूर-सागर' का यथोचित मूल्यांकन नहीं किया। शुक्ल जी लोक-पक्ष तथा शक्ति, शील और सौंदर्य के प्रस्फुटन आदि को काव्य के अनिवार्य गुण मानते हैं और इन्हीं पूर्व-निर्धारित सिद्धान्तों के आधार पर वे आलोचना में प्रवृत्त होते हैं जिसके कारण ये स्थान-स्थान पर निर्णयात्मक-पद्धति की आलोचना के शिकार हो जाते हैं। निर्णयात्मक-पद्धति के लिए जो मान-दंड शुक्ल जी स्वीकार करते हैं वे काव्य-क्षेत्र के सर्वमान्य सिद्धांत हैं इसमें अनेक विद्वानों को सन्देह है, अतः उनकी यह धारणा है कि शुक्ल जी सूर-काव्य की आलोचना प्रस्तुत करने में पूर्ण न्याय नहीं कर सके हैं। यह ठीक है कि सूर-काव्य का नायक श्रीकृष्ण, तुलसी के राम के समान लोक-रंजक या मर्यादा पोषक नहीं—उसका व्यक्तित्व क्रिया-कलाप में लोक-बाह्य-सा दृष्टिगत होता है। सूर के काव्य में जीवन के विविध प्रसंगों का भी वैसा व्यापक और विशद चित्रण नहीं जैसा तुलसी के 'रामचरित मानस' में है, किन्तु इस त्रुटि के कारण सूर का सम्पूर्ण काव्य निम्न कोटि का नहीं ठहराया जा सकता। सूर ने अपने काव्य में सौन्दर्य-पक्ष को प्रधानता दी है जिसके फलस्वरूप उनके पदों में गीति-तत्वों की जैसी स्थापना हुई वैसी आज तक किसी कवि के काव्य में सम्भव न हो सकी।

सूर-काव्य की भूमिका में कदाचित् लेखक को स्थल-संकोच भी रहा है। सूरदास के सम्पूर्ण कवि-रूप को उस भूमिका में विवृत करने का अवकाश न था, अतः बाल-कृष्ण, मुरली-माधुरी तथा कथा-प्रसंग-सम्बन्धी पदों पर विस्तार से विचार नहीं हो सका। इस कमी को अनुभव करके श्री विश्वनाथप्रसाद मिश्र ने 'सूरदास' नामक ग्रन्थ का सम्पादन कर दिया है। इसमें 'भक्ति का विकास' 'श्री वल्लभाचार्य' 'सूर का जीवन-वृत्त' तथा 'काव्य में लोक-मंगल' नामक चार अध्याय जोड़ दिये गए हैं। इस संकलित रूप में 'सूरदास' ग्रन्थ का प्रकाशन उस कमी को दूर कर देता है, जो भूमिका में खटकती थी। 'भक्ति का विकास' शीर्षक अध्याय गंभीर अध्ययन और शोध-प्रवृत्ति का परिचायक होने के साथ-साथ भक्ति के सम्बन्ध में अनेक भ्रान्तियों का निवारण करता है। भक्ति और शृङ्गार का तारतम्य प्रदर्शित करते हुए भक्ति

और रस का सम्बन्ध भी इस अध्याय में स्पष्ट किया गया है। श्री वल्लभाचार्य के विषय में शुक्ल जी ने खोज की प्रामाणिक सामग्री प्रस्तुत की है, जिसका परवर्ती लेखकों ने अच्छा उपयोग किया है।

विषय-प्रतिपादन और काव्यालोचन में शुक्ल जी की भाषा सदैव सजीव सरस, आकर्षक और अर्थ-गर्भित रहती है। सूरदास की आलोचना में भी उनकी इस सुन्दर अभिव्यंजना-शैली का निदर्शन है। सूर की वाणी का उल्लेख करते हुए पहले ही पृष्ठ पर शुक्ल जी लिखते हैं कि—'जयदेव की देववाणी की स्निग्ध पीयूष धारा, जो काल की कठोरता में दब गई थी, अवकाश पाते ही लोक-भाषा की सरसता में परिणत होकर मिथिला की अमराइयों में विद्यापति के कोकिल-कंठ से प्रकट हुई और आगे चलकर व्रज के करील कुञ्जों के बीच फैलकर मुरझाए मनों को सींचने लगी।'' ('भ्रमर-गीत-सार' की भूमिका)।

संक्षेप में आचार्य शुक्ल को रचनाओं में 'सूरदास' का स्थान इसलिए विशेष महत्त्व का है कि उनके मान-दण्ड के अनुसार सूर-काव्य लोक-पक्ष को लेकर नहीं चलता। किन्तु शुक्ल जी ने सूर-काव्य के उन मार्मिक स्थलों तथा कवि की नूतन उद्भावनाओं को छान-बीन की है जो साधारण पाठक की दृष्टि में नहीं पड़ते और आलोचक की दृष्टि से सूर पर निष्पक्ष दृष्टि से प्रकाश डालते हैं।

गोस्वामी तुलसीदास आचार्य शुक्ल के सर्वाधिक प्रिय कवि थे। जिन काव्य-सिद्धान्तों के आधार पर शुक्ल जी आलोचना लिखते रहे, उनकी प्रेरणा तुलसी के काव्यानुशीलन से ही उन्हें उपलब्ध हुई। तुलसी के

गो० तुलसीदास : 'तुलसी-ग्रन्थावली की भूमिका'

ग्रन्थों का संपादन करते समय इस ग्रन्थ को उन्होंने भूमिका के रूप में लिखा था, किन्तु बाद में स्वतंत्र पुस्तक के रूप में यह प्रकाशित हुई। इस पुस्तक में तुलसी का संक्षिप्त जीवन-वृत्त, तुलसी की भावुकता, शील-निरूपण और चरित्र-चित्रण, तुलसी-काव्य में लोक-रक्षक भाव आदि विभिन्न अध्याय हैं, जिनमें जायसी की भूमिका की भाँति एकसूत्रता दृष्टिगत नहीं होती। कुछ अध्याय तो स्वतन्त्र निबंध-से प्रतीत होते हैं, सम्भवतः कुछ निबंध तो लिखे भी स्वतन्त्र रूप से ही गए थे और बाद में ये पुस्तक के कलेवर में यथास्थान संकलित कर दिए गए।

'गोस्वामी तुलसीदास' शुक्ल जी की विवेचनात्मक आलोचना का वह रूप प्रस्तुत करता है जिसमें लेखक कवि की विशेषताओं के प्रति जागरूक होकर व्यावहारिक रूप से प्रशंसा-परक हो गया है। तुलसी के समस्त वर्णनों में उसे विशेषता और चमत्कार दीखता है और उसके दोषों को भी आलोचक ने अपनी तर्कपूर्ण

शैली से गुण सिद्ध कर दिया है। आलोचना के लिए जो कसौटी तैयार की गई है उसका आधार ही तुलसी की काव्य-कला है। यह ठीक है कि शुक्ल जी की आलोचना-पद्धति परम्परा-मुक्त या रूढ़िगत नहीं, किन्तु जिन मानों को उन्होंने पूर्ण माना उन पर भी प्रश्नवाचक चिह्न लगाया जा सकता है। तुलसी की काव्य-मीमांसा में गुण-ही-गुण नज़र आने का मात्र कारण यही है कि उनके मान तुलसी के अनुरूप हैं और तुलसी के 'राम-चरित-मानस' या 'विनय-पत्रिका' के अनुशीलन के बाद उनका निर्धारण हुआ है।

तुलसी की आलोचना में शुक्ल जी ने मनोविकारों तथा काव्य-सिद्धान्तों का वर्णन किया है। आलोचना की कसौटी और आलोच्य वस्तु दोनों का सम्मिलित रूप शुक्ल जी की आलोचना में इसी स्थल पर सबसे अधिक स्पष्ट और व्यापक रूप में देखने में आता है। आलोचना के सिद्धान्त प्रस्तुत करने में उनकी शैली में जैसा अतल गाम्भीर्य इस रचना में लक्षित होता है वैसा अन्यत्र नहीं। पाठकों के लिए नूतन विचार, मौलिक अभिव्यंजना शैली, गंभीर चिन्तन तथा सुलझी हुई तर्क शैली का जैसा प्रवाह इस ग्रन्थ में है वैसा उनकी अन्य रचनाओं में अपेक्षाकृत कम है। तुलसीदास शुक्ल जी के आदर्श कवि हैं अतः उनकी वृत्तियाँ भी इनके अध्ययन में अधिक स्निग्ध भाव से रमी प्रतीत होती हैं। इस ग्रन्थ में स्थान-स्थान पर बिखरे हुए शुक्ल जी के काव्य-सिद्धान्तों का यदि संकलन किया जाय तो निश्चय ही एक सुन्दर काव्य-शास्त्र की सूत्र-बद्ध पुस्तिका तैयार हो सकती है।

'तुलसी की भावुकता' शीर्षक अध्याय में शुक्ल जी ने राम-कथा के अनेक मार्मिक प्रसंगों को एकत्र किया है। मानव-जीवन की विविध परिस्थितियों का सन्निवेश, भावों की गम्भीरता, संचारियों की विपुल मात्रा में स्थापना तथा मानव-हृदय को स्पन्दित करने वाले व्यापारों का चुनाव दिखाते हुए आलोचक ने कवि की भावुकता को सहृदय-संवेद्य बना दिया है। चरित्र-चित्रण में भारतीय आदर्शों की स्थापना की ओर आलोचक की दृष्टि रही है और निःसन्देह उन सभी स्थलों को प्रस्फुटित करके उसने रख दिया है जो भारतीय जीवन को गौरवान्वित करने में समर्थ हैं। तुलसी की चरित्र-चित्रण-पद्धति को इस ग्रन्थ में अपूर्व और अद्भुत सिद्ध करने में शुक्ल जी को पूर्ण सफलता मिली है।

शुक्ल जी की सैद्धांतिक समालोचना के सर्वश्रेष्ठ रूप का दर्शन हमें उनकी मृत्यु के बाद प्रकाशित ग्रन्थ 'रस-मीमांसा' में होता है। इससे पहले 'काव्य में

रहस्यवाद', 'काव्य में अभिव्यंजनावाद' और 'काव्य में प्रकृति' शीर्षक निबंधों में सैद्धान्तिक पक्ष की स्थापना है। शुक्ल जी का 'इन्दौर-हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन' का भाषण भी उनकी शास्त्रीय या सैद्धांतिक विवेचना-पद्धति का आभास देता है। 'रस-मीमांसा' शुक्ल जी के काव्य-सिद्धांतों का संकलन है, जिसका सम्पादन श्री पंडित विश्वनाथप्रसाद मिश्र ने अत्यधिक परिश्रम और योग्यता के साथ किया है। शुक्ल जी रसवादी आलोचक थे—रस की उपेक्षा करके उन्होंने कोई भी आलोचना नहीं लिखी। अतः 'रस-मीमांसा' का प्रकाशन सामान्य पाठक के लिए तथा शुक्ल-साहित्य के विद्यार्थी के लिए अति उपयोगी सिद्ध होगा।

रस-मीमांसा : सैद्धान्तिक आलोचना

'रस-मीमांसा' ग्रन्थ मुख्य रूप से आठ अध्यायों में विभक्त है। काव्य, काव्य के विभाग, काव्य का लक्षण, विभाव, भाव, रस, शब्द-शक्ति तथा ध्वनि शीर्षकों के अन्तर्गत सूक्ष्म वर्गीकरण करके विद्वान् लेखक ने उन सभी तत्त्वों पर प्रकाश डाला है जो काव्यानुशीलन के लिए अनवार्य होते हैं। परिशिष्ट रूप में शुक्ल जी की कतिपय अंगरेजी तथा हिन्दी में लिखी टिप्पणियाँ भी दी गई हैं, जिनसे उनकी पठन-पाठन-शैली और सूक्ष्म चिन्तन-प्रणाली का परिचय मिलता है। इन टिप्पणियों को पढ़कर लगता है कि मनीषी लेखक, विचारक और अध्यापक बनने के लिए शुक्ल जी कितने जागरूक और सतर्क रहकर परिश्रम करते थे। सचमुच ही उनकी ये टिप्पणियाँ हमारे हृदय में विस्मय और हर्ष की सृष्टि करने के साथ-साथ गंभीर अध्ययन के प्रति उत्साह और रुचि भी पैदा करती हैं।

'रस-मीमांसा' में जिन निबंधों को संकलित किया गया है उनमें केवल रस-विषयक तत्त्वों के समावेश के साथ काव्य-सामान्य की मीमांसा भी है। रस-निष्पत्ति में जिन तत्त्वों का उपयोग होता है उनका विशद विवेचन इस ग्रन्थ के विभिन्न लेखों में प्रस्तुत किया गया है। शुक्ल जी के आलोचना-सिद्धान्तों का इस ग्रन्थ द्वारा सम्पूर्ण रूप से बोध हो सकता है। आचार्य शुक्ल भारतीय परम्परा के अनुसार रस को ही काव्य में मुख्य मानते थे। किन्तु पंडितराज जगन्नाथ आदि की भाँति वे उसे आध्यात्मिक क्षेत्र में नहीं ले जाते, वे उसके मनोमय कोष से आगे जाने की अपेक्षा नहीं समझते। अतः रस को या रसानुभूति की आनन्दमयी दशा को अलौकिक व्यापार कहना भी उन्हें प्राचीनों की भाँति मान्य नहीं।

'रस-मीमांसा' का परिचय देते हुए सम्पादक महोदय ने लिखा है—('रस-मीमांसा' ग्रन्थ की) ''तत्त्व-वस्तु सब आचार्य की है ज्यों-की-त्यों, आकार खड़ा कर दिया है अन्तेवासी ने। नामकरण की ढिठाई भी उसीने की है। इस रूप में शुक्ल

जी की काव्य-मीमांसा-सम्बन्धी विचार-धारा का, जो रसोन्मुखी है, पूरा-पूरा पता चल जाता है और उस मान-दंड की भी उपलब्धि हो जाती है जिसे लेकर वे साहित्य-समीक्षा के क्षेत्र में उतरे थे ...। शुक्ल जी स्वच्छन्द चिन्तक थे। उन्होंने भारतीय परम्परा को मानते हुए भी अन्धानुकरण नहीं किया है, आधुनिक पश्चिमी शास्त्र-मीमांसा को विदेशी कहकर त्यागा भी नहीं है।" संक्षेप में, इन पंक्तियों से रस-मीमांसा का स्वरूप-बोध हो जाता है।

'काव्य में प्राकृतिक दृश्य' तथा 'काव्य में रहस्यवाद'

शुक्लजी ने सैद्धान्तिक समालोचना के रूप में कुछ विशाल-काय निबंध लिखे, जिनमें से तीन चिन्तामणि के द्वितीय भाग में संकलित हैं। ये निबंध शुक्ल जी की निबंध-शैली के उतने परिचायक नहीं जितने उनकी मीमांसा-पद्धति के। 'काव्य में प्राकृतिक दृश्य' पहला निबन्ध है जिसमें प्रकृति के विविध रूपों की काव्य में उपादेयता या अनुपादेयता का शास्त्रीय विधि से विवेचन है। इस निबंध में विद्वान् लेखक ने प्रकृति-विषयक भारतीय प्राचीन संस्कृत-साहित्य की परम्पराओं का उल्लेख करते हुए वाल्मीकि, कालिदास, भवभूति आदि महाकवियों की प्रकृति-वर्णन-शैली के उद्घाटन के साथ पद्मावत, राम-चरित-मानस, सूर-सागर आदि के उदाहरणों से हिन्दी-कवियों की भी सूक्ष्म-निरीक्षण-शक्ति का पाठक को को परिचय कराया है। रीतिकालीन कवियों ने प्रकृति को किस रूप में ग्रहण किया और उनकी प्रणाली की सीमाओं ने किस प्रकार प्राकृतिक दृश्य-विधान को संकुचित बनाया, इसका भी अच्छा प्रतिपादन इस निबंध में है। शुक्ल जी काव्य में आलम्बन को प्रधान समझते हैं। अतः प्राकृतिक दृश्य-विधान में प्रकृति आलम्बन रूप में गृहीत होकर काव्य का अंग बने तो निश्चय ही वह काव्योत्कर्ष की साधिका होगी और इससे पाठक की चित्त-वृत्तियों को अनुरंजित करने के साथ उसमें लीन करने की शक्ति भी कहीं अधिक होगी।

प्रकृति मानव की सहचरी है। मानव-जीवन के विकास में आदि काल से इसने अमित योग दिया है। काव्य-रचना में तो प्राकृतिक दृश्यों की महानता विश्व के सभी कवियों ने स्वीकार की है अतः प्रकृति का शास्त्रीय रूप से महत्व इस निबंध द्वारा अवगत होता है।

काव्य में रहस्यवाद

हिन्दी-साहित्य की प्राचीन एवं नवीन काव्य-धारा में रहस्यवाद नाम की एक भाव-धारा प्रारम्भ से ही प्रवाहित हो रही है। जायसी, कबीर, मीरा के युग से लेकर आज के युग तक प्रसाद, निराला और महादेवी वर्मा की कविता में रहस्यवादिता की खोज जारी है। आचार्य शुक्ल रहस्यवाद

रहस्यवाद', 'काव्य में अभिव्यंजनावाद' और 'काव्य में प्रकृति' शीर्षक निबंधों में सैद्धान्तिक पक्ष की स्थापना है। शुक्ल जी का 'इन्दौर-हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन' का भाषण भी उनकी शास्त्रीय या सैद्धांतिक विवेचना-पद्धति का आभास देता है। 'रस-मीमांसा' शुक्ल जी के काव्य-सिद्धांतों का संकलन है, जिसका सम्पादन श्री पंडित विश्वनाथप्रसाद मिश्र ने अत्यधिक परिश्रम और योग्यता के साथ किया है। शुक्ल जी रसवादी आलोचक थे—रस की उपेक्षा करके उन्होंने कोई भी आलोचना नहीं लिखी। अतः 'रस-मीमांसा' का प्रकाशन सामान्य पाठक के लिए तथा शुक्ल-साहित्य के विद्यार्थी के लिए अति उपयोगी सिद्ध होगा।

रस-मीमांसा : सैद्धान्तिक आलोचना

'रस-मीमांसा' ग्रन्थ मुख्य रूप से आठ अध्यायों में विभक्त है। काव्य, काव्य के विभाग, काव्य का लक्षण, विभाव, भाव, रस, शब्द-शक्ति तथा ध्वनि शीर्षकों के अन्तर्गत सूक्ष्म वर्गीकरण करके विद्वान् लेखक ने उन सभी तत्त्वों पर प्रकाश डाला है जो काव्यानुशीलन के लिए अनवार्य होते हैं। परिशिष्ट रूप में शुक्ल जी की कतिपय अंगरेजी तथा हिन्दी में लिखी टिप्पणियाँ भी दी गई हैं, जिनसे उनकी पठन-पाठन-शैली और सूक्ष्म चिन्तन-प्रणाली का परिचय मिलता है। इन टिप्पणियों को पढ़कर लगता है कि मनीषी लेखक, विचारक और अध्यापक बनने के लिए शुक्ल जी कितने जागरूक और सतर्क रहकर परिश्रम करते थे। सचमुच ही उनकी ये टिप्पणियाँ हमारे हृदय में विस्मय और हर्ष की सृष्टि करने के साथ-साथ गंभीर अध्ययन के प्रति उत्साह और रुचि भी पैदा करती हैं।

'रस-मीमांसा' में जिन निबंधों को संकलित किया गया है उनमें केवल रस-विषयक तत्त्वों के समावेश के साथ काव्य-सामान्य की मीमांसा भी है। रस-निष्पत्ति में जिन तत्त्वों का उपयोग होता है उनका विशद विवेचन इस ग्रन्थ के विभिन्न लेखों में प्रस्तुत किया गया है। शुक्ल जी के आलोचना-सिद्धान्तों का इस ग्रन्थ द्वारा सम्पूर्ण रूप से बोध हो सकता है। आचार्य शुक्ल भारतीय परम्परा के अनुसार रस को ही काव्य में मुख्य मानते थे। किन्तु पंडितराज जगन्नाथ आदि की भाँति वे उसे आध्यात्मिक क्षेत्र में नहीं ले जाते, वे उसके मनोमय कोष से आगे जाने की अपेक्षा नहीं समझते। अतः रस को या रसानुभूति की आनन्दमयी दशा को अलौकिक व्यापार कहना भी उन्हें प्राचीनों की भाँति मान्य नहीं।

'रस-मीमांसा' का परिचय देते हुए सम्पादक महोदय ने लिखा है—('रस-मीमांसा' ग्रन्थ की) "तत्त्व-वस्तु सब आचार्य की है ज्यों-की-त्यों, आकार खड़ा कर दिया है अन्तेवासी ने। नामकरण की ढिठाई भी उसीने की है। इस रूप में शुक्ल

जी की काव्य-मीमांसा-सम्बन्धी विचार-धारा का, जो रसोन्मुखी है, पूरा-पूरा पता चल जाता है और उस मान-दंड की भी उपलब्धि हो जाती है जिसे लेकर वे साहित्य-समीक्षा के क्षेत्र में उतरे थे ...। शुक्ल जी स्वच्छन्द चिन्तक थे। उन्होंने भारतीय परम्परा को मानते हुए भी अन्धानुकरण नहीं किया है, आधुनिक पश्चिमी शास्त्र-मीमांसा को विदेशी कहकर त्यागा भी नहीं है।" संक्षेप में, इन पंक्तियों से रस-मीमांसा का स्वरूप-बोध हो जाता है।

शुक्लजी ने सैद्धान्तिक समालोचना के रूप में कुछ विशाल-काय निबंध लिखे, जिनमें से तीन चिन्तामणि के द्वितीय भाग में संकलित है। ये निबंध शुक्ल जी की निबंध-शैली के उतने परिचायक नहीं जितने उनकी मीमांसा-पद्धति के।

'काव्य में प्राकृतिक दृश्य' तथा 'काव्य में रहस्यवाद'

'काव्य में प्राकृतिक दृश्य' पहला निबन्ध है जिसमें प्रकृति के विविध रूपों की काव्य में उपादेयता या अनुपादेयता का शास्त्रीय विधि से विवेचन है। इस निबंध में विद्वान् लेखक ने प्रकृति-विषयक भारतीय प्राचीन संस्कृत-साहित्य की परम्पराओं का उल्लेख करते हुए वाल्मीकि, कालिदास, भवभूति आदि महाकवियों की प्रकृति-वर्णन-शैली के उद्घाटन के साथ पद्मावत, राम-चरित-मानस, सूर-सागर आदि के उदाहरणों से हिन्दी-कवियों की भी सूक्ष्म-निरीक्षण-शक्ति का पाठक को को परिचय कराया है। रीतिकालीन कवियों ने प्रकृति को किस रूप में ग्रहण किया और उनकी प्रणाली की सीमाओं ने किस प्रकार प्राकृतिक दृश्य-विधान को संकुचित बनाया, इसका भी अच्छा प्रतिपादन इस निबंध में है। शुक्ल जी काव्य में आलम्बन को प्रधान समझते हैं। अतः प्राकृतिक दृश्य-विधान में प्रकृति आलम्बन रूप में गृहीत होकर काव्य का अंग बने तो निश्चय ही वह काव्योत्कर्ष की साधिका होगी और इससे पाठक की चित्त-वृत्तियों को अनुरंजित करने के साथ उसमें लीन करने की शक्ति भी कहीं अधिक होगी।

प्रकृति मानव की सहचरी है। मानव-जीवन के विकास में आदि काल से इसने अमित योग दिया है। काव्य-रचना में तो प्राकृतिक दृश्यों की महानता विश्व के सभी कवियों ने स्वीकार की है अतः प्रकृति का शास्त्रीय रूप से महत्व इस निबंध द्वारा अवगत होता है।

काव्य में रहस्यवाद

हिन्दी-साहित्य की प्राचीन एवं नवीन काव्य-धारा में रहस्यवाद नाम की एक भाव-धारा प्रारम्भ से ही प्रवाहित हो रही है। जायसी, कबीर, मीरा के युग से लेकर आज के युग तक प्रसाद, निराला और महादेवी वर्मा की कविता में रहस्यवादिता की खोज जारी है। आचार्य शुक्ल रहस्यवाद

के विषय में कुछ स्वतन्त्र विचार रखते थे। उनका विश्वास था कि "मनोमय कोश ही प्रकृत काव्य-भूमि है—इसके भीतर की वस्तुओं की कोई मनमानी योजना खड़ी करके उसे इससे बाहर के किसी तथ्य का—जिसका कुछ ठीक-ठिकाना नहीं—सूचक बताना हम सच्चे कवि का—सच्चे आदमी का काम नहीं समझते।" रहस्य-वाद के प्रकरण में 'अज्ञात की लालसा' 'अज्ञात दिशा' या 'अनन्त पथ के गान' शुक्ल जी को सम्भाव्य या सुन्दर प्रतीत नहीं हुए। उन्होंने इसी कारण इस निबंध के प्रारम्भ में चार-पाँच पंक्तियाँ परिष्कार की भावना से लिखी हैं जो निबंध के उद्देश्य को स्पष्ट करती हैं और लेखक की रहस्यवाद के प्रति धारणा का भी संकेत देती हैं। वे लिखते हैं—"यह निबंध इस उद्देश्य से लिखा गया है कि 'रहस्यवाद' या 'छायावाद' की कविता के संबंध में भ्रान्तिवश या जान-बूझकर जो अनेक प्रकार की बे-सिर-पैर की बातों का प्रचार किया जाता है, वह बन्द हो ......। मैं रहस्यवाद का विरोधी नहीं। मैं इसे भी कविता की एक शाखा विशेष मानता हूँ। पर जो इसे काव्य का सामान्य स्वरूप समझते हैं उनके अज्ञान का निवारण करना मैं बहुत ही आवश्यक समझता हूँ।" परिष्कार की भावना से लिखी इन पंक्तियों में शुक्ल जी ने यह तो स्पष्ट कर दिया है कि रहस्यवाद के विषय में तत्कालीन लेखकों और कवियों की जो धारणा थी उससे वे पूर्णतया सहमत नहीं थे।

रहस्यवाद की मीमांसा करते हुए शुक्ल जी अपने मूल वक्तव्य (थीसिस) से हटकर इधर-उधर के विवाद-ग्रस्त विषयों में उलझे हैं, फलतः वर्ण्य वस्तु की निबंधना अत्यधिक विशृंखल और शिथिल हो गई है। इस निबंध में शुक्ल जी ने अनेक स्थलों पर विषयान्तर स्वीकार किये हैं और उनमें फँसकर वे कहीं-कहीं मूल बात से इतनी दूर जा पड़े हैं कि पाठक के लिए वस्तु-सम्बन्ध स्थापित करना दुरूह ही नहीं असम्भव भी हो जाता है। विलायती वादों का उल्लेख करते हुए शुक्ल जी ने रहस्यवाद की मूल-भूत मान्यताओं को छोड़ दिया है। भारतीय वाङ्मय में रहस्य-भावना का वर्णन वेदों से लेकर अद्यतन हिन्दी-साहित्य तक प्राप्त होता है, उसके प्रतिपादन के लिए जिन आध्यात्मिक या साहित्यिक तत्त्वों की आवश्यकता है उनकी उपेक्षा करके वर्तमान वादों की तुलना पर इसे हलका-भारी ठहराना असंगत प्रतीत होता है। शुक्ल जी के निबंध-साहित्य में यह लेख सबसे अधिक उलझा हुआ और अंकुश-हीन-सा लगता है। सौन्दर्य-बोध, अज्ञात का ज्ञान, भाव, विभाव और कल्पना, प्रतीकवाद आदि विषयों पर इस निबंध में व्यक्त किये गए शुक्ल जी के विचार एक ओर मूल विषय से असम्बद्ध हैं और दूसरी ओर निश्चय

ही शैली की दुरूहता के कारण असंगत-से लगने लगते हैं। क्रोचे और कांट के क्रमशः अभिव्यंजनावाद और प्रत्ययवाद को इस प्रसंग में जिस रूप से घसीटा है वह चिन्त्य है। रहस्यवाद का उल्लेख काव्य-रचना में अनादि काल से किसी-न-किसी रूप में रहा है उसे प्रणाली माना जाय या स्वतन्त्र विषय, यह विचारणीय है। किन्तु छायावाद और रहस्यवाद को एक साथ एक ही रूप में देखना भी हमें ठीक नहीं जँचता।

हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के इन्दौर-अधिवेशन में साहित्य-परिषद् के सभापति-पद से श्री शुक्ल जी ने जो भाषण दिया था, उसे ही सम्पादक महोदय ने 'काव्य में अभिव्यंजनावाद' नाम से संकलित कर दिया है।

काव्य में अभिव्यंजनावाद

प्रायः सम्मेलनों में प्रचारोद्दिष्ट भाषण या वक्तृताएं देने का रिवाज है, किंतु शुक्ल जी ने इस भाषण को साहित्य की स्थायी निधि के सभी आवश्यक उपकरणों से सँजोया है। यह भाषण न कहा जाकर एक पुष्ट, गंभीर, विचार-प्रधान लेख ही है, जिसमें साहित्य के सम्बन्ध में देश-विदेश की विभिन्न विचार-सरणियों की विवेचना और व्याख्या करते हुए विद्वान् वक्ता ने अभिव्यंजना के साधन साहित्य के मूल तत्त्वों की प्रतिष्ठा की है।

प्रसिद्ध अंगरेज समालोचक आई० ए० रिचर्ड्स तथा क्रोचे के सम्बन्ध में इस भाषण में शुक्ल जी ने अच्छा प्रकाश डाला है। भारतीय काव्य-शास्त्र की शब्द-शक्तियों की व्याख्या करते हुए अभिधा को मुख्यता देते हुए शुक्ल जी ने व्यंग्यार्थ की प्रधानता स्वीकार नहीं की। अभिव्यंजना की, शैली ही सब-कुछ है ऐसा भी वे स्वीकार नहीं करते—उनके अनुसार अभिव्यंग्य का भी शब्दार्थ-बोध में प्रमुख स्थान है। काव्य में नैतिक तत्त्व या सदाचार की स्थापना भी शुक्ल जी की दृष्टि से अनिवार्य है, नैतिकता की उपेक्षा या अवहेलना उन्हें स्वीकार्य नहीं। भाषण के अन्त में साहित्यांगों की आपने संक्षेप में चर्चा की है और हिन्दी-भाषा में सभी प्रकार के साहित्यांगों के विकास की इच्छा प्रकट की है। इस भाषण का हिन्दी-साहित्य में अनेक दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण स्थान है।

'चिन्तामणि' आचार्य शुक्ल के सत्रह निबंधों का संकलन है, जिसमें प्रथम दस निबंध भाव या मनोविकार-विषयक हैं, शेष सात काव्य-शास्त्र से सम्बन्ध रखने वाले विवेचनात्मक या सैद्धान्तिक गंभीर प्रबन्ध हैं। भाव या

निबंध : चिंतामणि (प्रथम भाग)

मनोविकारों का मनोवैज्ञानिक शैली से हिन्दी-साहित्य में कदाचित् पहली बार ही इतना मार्मिक विश्लेषण हुआ है। शुक्ल जी ने इन निबंधों को अपनी 'अन्तर्यात्रा में पड़ने वाले कुछ प्रदेश' कहा है। यात्रा के लिए निकली हुई बुद्धि को सहयोग प्राप्त होता रहा है हृदय का, अतः विवेचना

में बौद्धिक पक्ष की प्रबलता होने पर भी हार्दिक पक्ष का सर्वथा अभाव नहीं है। पहला निबंध 'भाव या मनोविकार' है, जिसमें मानव-जीवन के प्रवर्तक भावों की स्थिति का परिचय प्रस्तुत किया गया है। उत्साह, श्रद्धा-भक्ति, करुणा, लज्जा और ग्लानि, लोभ और प्रीति, घृणा, ईर्ष्या, भय और क्रोध पर लिखे निबंधों में लेखक ने वैज्ञानिक रीति से मनोविकारों की उत्पत्ति, स्थिति, प्रभाव और विलय का वर्णन किया है। इन निबंधों में लेखक निबंध लिखने की दोनों शैलियों का पूर्ण रूप से उपयोग करता है; आगमन शैली द्वारा वर्ण्य-विषय को विस्तार देकर अन्त में उसका सारांश देना शुक्ल जी की एक शैली है, निगमन शैली से प्रारम्भ में सूत्र रूप से वर्ण्य-विषय का भावार्थ दे देना दूसरी। इन दोनों शैलियों का सुगठित रूप हमें 'चिन्तामणि' में देखने को मिलता है। भाव या मनोविकार-सम्बन्धी लेखों में शुक्ल जी की विषय-प्रतिपादन-शैली तर्क, युक्ति और विवेक का आश्रय पकड़कर चलती है, उसमें असंगति या असम्बद्धता का दोष नहीं रहता। हाँ, मनोविकारों की विस्तार-परिधि में मतभेद सम्भव है। एक भाव या मनोविकार का विस्तार कितना है और उसके रूप कितने हैं यह 'इदमित्थं' रूप से कहना कठिन होगा।

'चिन्तामणि' के शेष सात निबंधों को दो श्रेणियों में विभक्त किया जा सकता है। पहले विभाग में वे निबंध आयंगे जो 'सैद्धान्तिक' समीक्षा के अन्तर्गत हैं, जिनका उल्लेख सैद्धान्तिक समीक्षा में होना चाहिए। 'कविता क्या है?', 'काव्य में लोक-मंगल की साधनावस्था', 'साधारणीकरण और व्यक्ति-वैचित्र्यवाद' तथा 'रसात्मक बोध के विविध रूप' ये चार निबंध शुद्ध रूप से साहित्य-शास्त्र के सिद्धान्तों की विवेचना प्रस्तुत करते हैं, भले ही इनमें आचार्य शुक्ल का अपना व्यक्तिगत दृष्टिकोण भी मिला-जुला हो। शेष तीन निबंध व्यावहारिक समीक्षा (प्रेक्टीकल क्रिटिसिज्म) के अन्तर्गत आते हैं। 'भारतेन्दु हरिश्चंन्द्र' एक प्रकार से परिचयात्मक निबंध है, जिसमें शुक्ल जी ने अपनी मर्मभेदिनी दृष्टि का अधिक उपयोग नहीं किया। 'तुलसी का भक्ति-मार्ग' और 'मानस की धर्म-भूमि' निबंधों में लेखक ने विवेचना को स्थान दिया है और तुलसी के राम-चरित-मानस की उन विशेषताओं की ओर पाठक का ध्यान आकृष्ट किया है जिन पर सामान्यतः पाठक का ध्यान नहीं जाता। इन निबंधों में उनके मनीषी रूप की पूरी-पूरी छाप दृष्टिगत होती है।

निबंध-कला के सम्बन्ध में 'व्यक्तित्व-प्रधान' और 'विषय-प्रधान' दो भेदों की बात प्रायः कही जाती है। वस्तुतः व्याख्यात्मक समालोचना की भित्ति पर जो लेख खड़े किए जाते हैं उनके विषय में ऐसी विभेदक रेखा खींचना सरल नहीं। यह

ठीक है कि निबंध में व्यक्तित्व की छाप शैली के रूप में अवश्य अंकित होगी। किन्तु शुद्ध रूप से व्यक्तित्व-प्रधान निबंध का यह क्षेत्र नहीं। विषय या वर्ण्य-वस्तु की अवहेलना द्वारा समीक्षात्मक निबंध में जीवन-संचार नहीं किया जा सकता। शुक्ल जी के 'चिन्तामणि' में संकलित निबंध विषय और व्यक्तित्व दोनों का सुगठित एवं सुन्दर सामंजस्य प्रस्तुत करते हैं।

'चिन्तामणि' के निबंधों के अतिरिक्त शुक्ल जी ने साहित्य, समाज और संस्कृति पर भी कुछ फुटकर निबंध लिखे। प्रारम्भिक दिनों का लिखा उनका 'साहित्य' शीर्षक निबंध पर्याप्त प्रसिद्ध है। 'प्राचीन भारतीयों का पहरावा' शीर्षक निबंध तथा 'मित्रता' आदि छोटे-छोटे निबंध उनकी सरल और रोचक शैली के अच्छे निदर्शन हैं। शुक्ल जी को हिन्दी में आधुनिक निबंध का जन्मदाता कहा जाय तो कोई अत्युक्ति न होगी।

अनुवाद : शशांक

अनुवाद का कार्य मौलिक रचना की अपेक्षा नीरस और कृत्रिम है। विशेषतः उन मौलिक कलाकारों के लिए तो अनुवाद के कार्य में कोई रस शेष ही नहीं रहता, जो स्वयं श्रेष्ठतम साहित्य की सृष्टि करने में समर्थ होते हैं। शुक्ल जी मेधावी, मनीषी और उपज्ञात प्रतिभा-सम्पन्न साहित्यकार थे, फिर भी उन्होंने अनुवाद-क्षेत्र में इतना विशाल कार्य किया कि उसे देखकर विस्मय-विमुग्ध हुए बिना नहीं रहा जाता। उनके अनुवादों की संख्या इतनी अधिक और विविध है कि सहसा यह समझ में नहीं आता कि वे इतना कार्य कैसे कर पाए।

'शशांक' श्री राखालदास वन्द्योपाध्याय का सुप्रसिद्ध बंगला-उपन्यास है। उपन्यास का आधार ऐतिहासिक है, किन्तु लेखक ने अपनी कल्पना और वर्णन-शक्ति के सुन्दर सम्मिश्रण से उपन्यास की कथा में नवजीवन संचार कर दिया है। आचार्य शुक्ल ने कदाचित् उपन्यास की श्रेष्ठता का अनुभव करके ही इसका अनुवाद करना स्वीकार किया। अनुवाद में शुक्ल जी ने यह ध्यान रखा है कि मूल लेखक का एक भी भाव छूटने न पाय, किन्तु 'मक्षिकास्थाने मक्षिका पातः' वाली शैली को उन्होंने नहीं अपनाया है।

शुक्ल जी गंभीर कोटि के आलोचना-लेखक थे। उपन्यास और कहानी के क्षेत्र में वे कभी नहीं उतरे। अतः उपन्यास की भाषा के अनुरूप सरलता, प्रवाह और चटपटापन उनकी भाषा में नहीं आ सका। किन्तु उपन्यास का कथानक इतना रोचक और सरस है कि भाषा की गंभीरता उसके रसास्वादन में तनिक भी बाधक नहीं होती। अनुवाद में शुक्ल जी ने एक परिवर्तन किया है, जिसका उल्लेख आवश्यक

ऑन इमैजिनेशन' का अनुवाद 'कल्पना का आनन्द' नाम से किया। इन अनुवादों के अतिरिक्त अंगरेजी के अनेक उपयोगी निबंधों का अनुवाद शुक्ल जी द्वारा किया गया। अनुवादों में सर एडविन आर्नल्ड की प्रसिद्ध पुस्तक 'लाइट आफ एशिया' भी है, किन्तु उसका उल्लेख हम उनकी काव्य-रचनाओं में करेंगे। अनुवाद होने पर भी उसका मूल्य काव्य की दृष्टि से है, अनुवाद की दृष्टि से नहीं।

शुक्ल जी के काव्य : 'बुद्ध-चरित' तथा अन्य कविताएं

शुक्ल जी के जीवन-वृत्त के अनुशीलन से विदित होता है कि शैशव से ही उनकी वृत्तियाँ प्रकृति के मनोहर रूप में अधिक रमती थीं। विन्ध्याटवी के रमणीय दृश्यों पर वे इतने मुग्ध थे कि अपना प्रियतम स्थान वे उसी प्रदेश को समझते थे। शैशव में शुक्ल जी ने अनेक छोटी-बड़ी कविताएं लिखीं। प्रारम्भ में उनकी काव्य-भाषा, व्रज भाषा ही थी। कवि की दृष्टि से उनका समय द्विवेदी-युग है, जो इतिहास में इतिवृत्तात्मक कविता का युग कहा जाता है। साथ ही उस युग में अनुवादों का पर्याप्त प्रचार था। विद्वान् लेखक विभिन्न भाषाओं के सुन्दर भावों और विषयों को अपनी भाषा में अनुवाद-मार्ग से भर रहे थे। फलतः शुक्ल जी ने भी अनुवाद का सहारा लिया और प्रसिद्ध अंगरेज कवि सर एडविन आर्नल्ड की 'लाइट आफ एशिया' का हिन्दी में अनुवाद कर डाला। मूल पुस्तक एक ही छन्द 'ब्लैंक वर्स' में है, किन्तु शुक्ल जी ने सुविधानुसार अनेक छन्दों का प्रयोग अनुवाद में किया है। काव्य की भाषा सरस और प्रवाहमयी व्रज है, जो अपनी कोमलता और मार्दवता के कारण पाठक को मुग्ध करती है। वस्तुतः यह काव्य-ग्रन्थ अनुवाद का आधार ग्रहण करने पर भी अनुवाद की कोटि में रखने योग्य नहीं है। इसे मौलिक रचना के समान ही समझना चाहिए। स्वतंत्र रचना में जो आनन्द पाठक को आता है, वह 'बुद्ध-चरित' की प्रत्येक पंक्ति ही नहीं वरन् प्रत्येक पद और शब्द से उपलब्ध होता है। रसानुभूति की दृष्टि से इस रचना को प्रथम श्रेणी का काव्य स्वीकार करना कोई अत्युक्ति न होगी।

शुक्ल जी की मौलिक कविताओं में भी रसास्वादन की पूरी सामग्री उपलब्ध होती है। उनकी मौलिक रचनाओं को हम दो भागों में विभक्त कर सकते हैं: एक देश-प्रेम-सम्बन्धी कविताएं और दूसरी प्रकृति-सौन्दर्य-विषयक कविताएं। देश-प्रेम की कविताओं का आदर्श तात्कालिक राष्ट्र-प्रेम की भावना है जिसका आधार हिन्दी भाषा, हिन्दू-संस्कृति, अतीत-गौरव, उद्योग-महिमा आदि है। देश-प्रेम की भावना भारतेन्दु-युग के समान ही चित्रित की गई है। अन्योक्तियों में भी देश की दुर्दशा चित्रित करके उसके अभ्युत्थान की कामना या प्रार्थना ही है। प्रकृति-सौन्दर्य

का चित्रण करने में शुक्ल जी ने अपनी काव्य-प्रतिभा का अच्छा परिचय दिया है। प्रकृति के संश्लिष्ट चित्र तथा आलम्बन रूप से उसका वर्णन शुक्ल जी को अभीष्ट था। इसी कारण वे बाह्याडम्बर की पोषक सभ्यता से कुछ चिढ़कर प्रकृति की गोद में जाकर बसने की बात कहा करते थे। लहलहाते खेत, कल-कल करती मन्दाकिनी, झर-झर करके झरते हुए निर्झर और मर-मर करते हुए पत्तों का संगीत उन्हें कल-कारखानों की दुनिया से कहीं अधिक प्रिय और आह्लादमय लगता था। वे अपने प्रकृति-चित्रण में इसी प्रकार के प्राकृतिक सौन्दर्य की छटा अंकित करते थे। उनकी कुछ कविताएं 'मनोहर छटा' नाम से प्रसिद्ध हैं। इसके अतिरिक्त पत्र-पत्रिकाओं में भी कुछ कविताएं उस समय प्रकाशित हुई थीं। अच्छा हो इनका एक प्रामाणिक संस्करण प्रकाशित किया जाय।

सम्पादक तथा अध्यापक

आचार्य शुक्ल जी अपनी मौलिक रचनाओं के साथ सम्पादन के कार्य में भी लीन रहे और उन्होंने जिन ग्रन्थों का सम्पादन किया उनमें पाठान्तर या शुद्धि का ही ध्यान नहीं रखा वरन् अपने अध्यवसाय से संदिग्ध स्थलों पर टीका-टिप्पणी भी की। 'हिन्दी-शब्द-सागर' के सम्पादन में आपका विशेष हाथ था जिसके फलस्वरूप वह विशाल ग्रन्थ प्रामाणिक बन सका। कवियों की ग्रन्थावली के सम्पादन में तो आपने पांडित्य, परिश्रम और लगन के साथ समर्थ सम्पादक का रूप रखा है, 'नागरी-प्रचारिणी-पत्रिका' के आप अनेक वर्षों तक सम्पादक भी रहे, उन दिनों 'नागरी-प्रचारिणी-पत्रिका' का स्तर इतना ऊँचा था कि उसके प्रायः सभी लेख शोध और विवेचन के द्वारा अत्यन्त सारगर्भित होते थे। स्वयं शुक्ल जी अपनी सम्पादकीय टिप्पणियों में साहित्य की गति-विधि पर लिखकर पत्रिका को पठनीय एवं संग्रहणीय बनाते थे, उनके बाद पत्रिका का सम्पादन उतने अध्यवसाय के साथ संभव नहीं हुआ।

ग्रन्थ-सम्पादक के रूप में शुक्ल जी ने जो मान-दंड स्थिर किया है उस पर खरे उतरने वाले सम्पादक हिन्दी में अब तक इने-गिने हैं। अध्ययन और अध्यवसाय दोनों गुणों का समन्वित रूप शुक्ल जी का सम्पादक रूप है।

साहित्यकार के अतिरिक्त शुक्ल जी सफल अध्यापक भी थे। निःसंदेह शुक्ल जी हिन्दी के उन उच्चकोटि के अध्यापकों में मूर्धन्य पर आसीन हैं जिनकी शिष्य-परम्परा आज हिन्दी-साहित्य के विविध अंगों की पूर्ति में लीन है। कदाचित् हिन्दी में शुक्ल जी की शिष्य-मंडली योग्यता और संख्या दोनों ही दृष्टियों से सबसे बड़ी है। शुक्ल जी ने अध्ययन-अध्यापन की जो परम्परा अपने पीछे छोड़ी है उसमें उनकी प्रतिभा का पुट सर्वत्र दृष्टि-गत होता है।

६. शुक्लजी की मनोभूमिका

श्री जैनेन्द्रकुमार

१

लेख के लिए आपका तकाजा फिर मिला। यह अदया है। मेरी निरीहता का आपको पता नहीं है? मैं श्रद्धा चाहता हूँ। व्यक्तियों के प्रति आलोचना की आँख अपनी फोड़ लेना चाहता हूँ। यहाँ कौन पूर्ण है? पर गुरु-जन की गुरुता देखूँ, कि अपूर्णता देखूँ? अपूर्णता में झाँकने से क्या हाथ आता है?

पर आप हैं कि उकसाते हैं कि एक स्वर्गीय व्यक्ति का मैं अन्दाज बाँधूँ और आपके ग्रन्थ में लिखूँ। मैं सामान्यतः उस काम के लिए अनाड़ी हूँ। हिन्दी लिखने के किनारे बीस-एक साल पहले जाने मैं कैसे आ लगा था। अब भी गति निगुरे की है। अचरज हो, पर सच है, कि लिखने लगने के काफी दिन बाद तक मैंने शुक्लजी का नाम भी नहीं जाना। मेरी भानजी हिन्दी-परीक्षा में बैठी तब कुछ देर के लिए उनका हिन्दी-इतिहास हाथ में आया था। कुछ देर यों, कि फिर अध्यापक मिल गए और मुझे छुट्टी हुई। तब किताब को जहाँ-तहाँ से कुछ उलटा-पलटा ही था और उसके लेखक शुक्लजी का नाम स्मृति पर नहीं उतरा था।

पहले-पहल इन्दौर-सम्मेलन के सिलसिले में वह नाम मन में आया। वहीं प्रथम दर्शन हुआ। साहित्य-परिषद् के वह सभापति थे। परिषद् बड़े यत्न से उन्हें पा सकी थी। उनकी कृपा कि उन्होंने सभापतित्व स्वीकार किया और आने का कष्ट उठाया। पर आने पर वह परिषद् की कृपा पर दीखते थे। भाषण वह नहीं पढ़ सके। दूसरे ने पढ़ा, पर पूरा नहीं। परिषद् में गड़बड़ भी मची रही। पर शुक्लजी ऐसे बैठे थे कि तटस्थ। मानो सुधि-भूले दर्शक हों। गम्भीर मुद्रा और दूरस्थ अनासक्ति। मैं नहीं जानता कि उस अनासक्ति को कर्म और कौशल वाली अनासक्ति मैं कह सकता हूँ।

मंच पर प्रस्ताव लेकर एक अपरचित आ धमके। जाने वे कौन थे। प्रस्ताव अयाचित अनधिकृत था। सभा में उससे खलबली मची। कुछ लोग उसके विरोध पर उतारू दीखे। मंच पर आकर एक-आध विरोध में बोल भी गए। पर शुक्लजी क्या करें? मानो वह चाहते थे कि कोई बतावे कि वह क्या करें!

पहली यह छाप मुझ पर पड़ी। इतने पास से मनुष्य को आँखों से मनुष्य को ही देखना हो सकता था। साहित्यिक दर्शन के लिए दूर जाना जरूरी था। पास से देखा कि वह झमेले के आदमी नहीं हैं। मानो सामने झमेला आ पड़े तो वह खो रहेंगे। कल्पना और सूझ-बूझ का यौवन उनमें न था, पकी मंथरता थी।

२

उनका भाषण घर आकर मैंने पढ़ा। अपनी लाज कब तक ढकी रखूँ। स्वीकार करूँ कि आसानी से वह भाषण मैं नहीं पढ़ सका। पढ़ते-पढ़ते ऊँघ आ जाती थी। आखिरकार कई रोज लगाकर पार तक पहुँचा।

अब उसकी दो बातें याद रही हैं। शुरू में साहित्य-तत्त्व-विचार था; अन्त की ओर हिन्दी-साहित्य की सामयिक गति-विधि का कुछ लेखा। शुरू में पाश्चात्य सौन्दर्य-शास्त्रियों के मत के विरोध में अपने यहाँ के रस-शास्त्रियों के पक्ष का प्रतिपादन था। अधिकांश इटली के श्री० क्रोचे की खबर ली गई थी।

पहली बात तो यही कि मुझे अप्रसन्नता रही कि मुझे नींद आ जाती थी। सौ फी सदी अपनी शिकायत मैं अपने पर नहीं समाप्त कर पाता हूँ। जी कहता है कि शुक्लजी को भी अपनी बात कुछ सरस बनाकर कहनी चाहिए थी। मैं थक-थक जाऊँ तो ऐसी पढ़ाई के लिए कृतज्ञ कैसे बन सकूँगा और मैं शुक्ल जी के प्रति कृतज्ञ बनना चाहता था।

दूसरी बात यह कि पढ़कर क्रोचे उलटे, मुझे शुक्लजी से सही और सूक्ष्म लगे। उनके उद्धरण मुझे रसीले जान पड़े, और अधिक अनुभूतिपूर्ण। मुझे तब खयाल हुआ था कि क्रोचे महाशय अगर खुद परिषद् में मौजूद होते तो भी शुक्लजी को उत्तर देने की उन्हें अपने लिए आवश्यकता न जान पड़ती। संक्षेप में क्रोचे की मूलस्थिति की पहचान शुक्लजी को हुई है—भाषण से मुझे ऐसा नहीं लगा। यह मेरी धृष्टता भी हो सकती है, क्योंकि क्रोचे महाशय को मैंने तो बिलकुल नहीं पढ़ा है।

सामयिक गति-विधि का जो निरूपण भाषण के अन्त की ओर था उसमें नामों की विशद सूची थी। कोई भागवान ही नाम बचा होगा। वे नाम परस्पर

किस सादृश्य या वै-सादृश्य के द्योतक हैं; इसका विवेचन नहीं था। और मुझे माँग थी तो वैसे विवेचन की।

३

फिर दिन निकल गए। हिन्दी के साहित्य में यों मैं साँस ले रहा था; पर वहाँ क्या-क्या है इसका पता नहीं लेता था। शुक्लजी का नाम सम्मेलन के सभापति-पद के लिए जब-तब सामने आया—यह मैंने जाना। उन्होंने इन्कार किया, यह भी मैंने जाना। इसी काल के लगभग जाना कि वह विश्वविद्यालय में हिन्दी के आचार्य हैं। उनकी प्रतिष्ठा और गौरव और उनके प्रति लोगों की श्रद्धा से मैं प्रभावित हुआ। पर उनका लिखा बाँचने का अवसर तब भी नहीं आया।

अनन्तर किसी संयोग से उनका इतिहास हाथ पड़ा और जहाँ-तहाँ से देख गया। शरम की बात कह दूँ कि इतिहास मैंने यह टटोलने की इच्छा से खोला था कि वहाँ मैं हूँ तो कहाँ, और कैसे हूँ। ग्रन्थ देखकर ग्रन्थकार की गवेषणा और अध्यवसाय की शक्ति से मैं बहुत प्रभावित हुआ। लगभग आतङ्कित ही हो रहा। यह सब छान-बीन और खोज-खबर कैसे की गई होगी; फिर उस सबको एक क्रम में कैसे बाँधा गया होगा? इस सबका धैर्य कैसे उस पुरुष में रहा होगा!

कुछ वर्ष पहले 'चिन्तामणि' देखने का सुयोग मिला। उसको मैं पूरा ध्यानपूर्वक पढ़ गया। पढ़ते-पढ़ते मैं थका तो जरूर, पर रस भी आया। और मुझे यह पाकर बहुत खुशी हुई कि शुक्लजी की शक्ति स्वतन्त्र होकर, (क्योंकि अधिकांश रचनाएं उनकी सामयिक प्रयोजनों को लेकर लिखी गई हैं) वहाँ लगती हैं जहाँ कि लगनी चाहिएं। अर्थात् मन के गूढ़ व्यापारों की तह खोलकर उनका मूलोद्गम पाने के वह प्रयासी हैं उस मूल स्रोत की शोध में वह किस हद तक गहरे पैठ सके; मूल तक पहुँचे अथवा कि नहीं, यह जुदा प्रश्न है। पर अपने तर्क को निर्मम भाव से उन्होंने उस दिशा में बढ़ाया, यह सच है और यह बहुत है।

उसके बाद, काशी-सम्मेलन आया। और वहाँ उनके चरणों में भी मैं पहुँच सका। तब 'साहित्य-सन्देश' में 'आलोचना के मान' के पुनर्विचार का मैंने प्रश्न उठाया था। वही उनके सम्मुख रखा। चाहा कि वह इस पर अपने विचार का प्रकाश दें कि साहित्य का अन्तिम समर्थन किन मूल्यों द्वारा परखा जाय? सौन्दर्य के मान से, नीति के लक्ष्य से अथवा कि सत्य की तुला से?

उनको दमा था और तरह-तरह की व्यस्तताएं थीं। तो भी उनसे मैं आशा लेकर आया कि वह इस बारे में लिखेंगे और अन्धकार को काटेंगे।

काशी के बाद यहाँ आकर उनके 'इतिहास' के नये संस्करण की बात सुनी। उसमें वर्तमान युग पर एक नया अध्याय जोड़ा गया था। नगेन्द्रजी से वह पुस्तक देखने को मिली तो उस जोड़ को देखकर, सच कहूँ तो, तृप्ति नहीं हुई। उनका वर्गीकरण ऊपरी लगा। जगह-जगह ऐसा मालूम हुआ कि उन्होंने चलताऊ काम निबाह दिया है।

उनके विषय में मेरी जानकारी की गति इस तरह रुक-रुक बढ़ रही थी कि हाय यह क्या! अकस्मात् सुना कि वह इस दुनिया के अब नहीं रहे, प्रस्थान कर गए!

४

अपना सिर मैंने पीट लिया। कैसी ग्लानि की बात है कि अपने काल के साहित्यिक इतिहास के मान्य पुरुषों की कृतियों से उसी क्षेत्र में काम करने वाले हम लोग अनजान रहे चले जायं। मुझे क्या हक था कि मैं हिन्दी में जीऊँ और कुछ भी न जानूँ?

सो मैं अपने अनुताप को लेकर भाई नगेन्द्र की शरण गया। उनकी कृपा से 'तुलसी', 'जायसी' यथा-साध्य देख गया; 'काव्य में रहस्यवाद' नामक निबंध पढ़ गया। इतिहास को फिर देखा और छुट-पुट कुछ और भी बाँच लिया।

यह सच है शुक्लजी में हमने हिन्दी के इस युग के एक प्रबल पुरुष को खोया है। उनकी नींव मजबूत थी और वह अडिग थे। ब्यौरों में वह नहीं भूलते थे और सतह को भेदकर नीचे की वस्तु की असलियत टटोलने की ओर उनकी वृत्ति थी। अध्यवसाय उनका उदाहरणीय था और पश्चिम के विचार से वह आक्रांत नहीं थे, यद्यपि उससे उपकृत थे।

५

हिन्दी-साहित्य का इतिहास है और उसकी कड़ी हरिश्चंद्र से नहीं दसियों शताब्दी दूर से मिलती चली आती है इस बात को शुक्लजी से पहले किसी ने जाना भी था तो उसका दान नहीं दिया था। शुक्लजी ने वह दृष्टि प्रस्तुत की। इतिहास और भी लिखे गए हैं, पर यदि वे संकलन से कुछ भी अधिक हैं तो शुक्लजी की दी हुई दृष्टि पर ही आधारित हैं। ब्यौरों में फर्क हो, सामग्री के पेश करने के ढंग में कुछ अंतर हो, लीक वही है। फिर भी कहना होगा कि इतिहास उन्होंने जुटाया है, जगाया नहीं है। अर्थात् सब मिलाकर उनका इतिहास कोई संदेश नहीं देता। "सात-आठ सौ वर्षों की संचित ग्रन्थ-राशि सामने लगी हुई थी,

पर ऐसी निर्दिष्ट सरणियों की उद्‌भावना नहीं हुई थी जिनके अनुसार सुगमता से इस प्रभूत सामग्री का वर्गीकरण होता।" और "इधर जब से विश्व-विद्यालयों में हिन्दी की उच्चशिक्षा का विधान हुआ, तब से उसकी विचार-शृङ्खला इतिहास की आवश्यकता का अनुभव छात्र और अध्यापक दोनों कर रहे थे।" इन्हीं दोनों आवश्यकताओं के फलस्वरूप शुक्लजी का 'इतिहास' बना, जो कि उन्हीं कारणों से यथार्थ इतिहास होने में असमर्थ था।

स्पष्ट है कि अतीत के सम्बन्ध में बहुत-कुछ जानकारी वर्गीकृत रूप में शुक्लजी ने प्रस्तुत की है। उसमें काल-विभाजन है, और कतिपय ब्यौरों को एक विशेष संगति में पिरोने की भी कोशिश है। पर वह अतीत के साथ आज के वर्तमान को किसी घनिष्ठ सम्बन्ध में नहीं जोड़ सके। न वह अतीत को किसी सुस्पष्ट क्रमागत रूप में दिखा सके। इस दिशा में हिन्दी में प्रयत्न होने की आवश्यकता है। इतिहास शुक्लजी के आगे चित्रवत् नहीं आ सका वह उनके निकट एक फाइल के रूप में था। इस प्रकार का इतिहास भविष्य के लिए मार्ग-दर्शक नहीं होता, न कोई विधायक स्फूर्ति दे सकता है। साहित्य का इतिहास संस्कृति का व्यक्त इतिहास है। क्या शुक्लजी को इसकी पहचान थी?

'तुलसी' और 'जायसी' हिन्दी-आलोचना के क्षेत्र में शुक्लजी की विशिष्ट देन हैं। ये विवेचन बहुमूल्य हैं। अपने विषय को चारों खूँट से पकड़-बाँध कर शुक्लजी फिर उसमें डुबकी लगाते और रत्न चुन लाते हैं। उनके प्रतिपादन में एक प्रकार की व्यूह-रचना है। जैसे कोई प्रतिपक्षी हो और उसे घेरकर व्यर्थ करना हो। इसी कारण उनके प्रतिपादन में शास्त्रार्थी के जैसी प्रबलता और उग्रता आ जाती है। मानों तथ्य के उद्‌घाटन से ही शुक्लजी तुष्ट नहीं, उसे विरोधी से मनवा लेना भी चाहते हैं। प्रतिपक्षी के प्रति अनुदार होना उनके लिए कठिन नहीं है। अधिकांश उनके व्यङ्ग कँटीले हैं। उनकी शैली में लोच नहीं है और दूसरे के दृष्टिकोणों के लिए समाई नहीं है।

वस्तु को अपनी परिपार्श्विक परिस्थिति से तोड़कर उसको अपने-आप में एक बंद वृत्त मानकर आलोचना-व्यापार चलाने की पद्धति से मैं सहमत नहीं हूँ। शायद यह पद्धति आज दिन पुरानी भी समझी जा सकती है। अब तक विज्ञान की यही पद्धति मानी जाती थी। अन्य के सामञ्जस्य में नहीं, पर शेष के विरोध (Contrast) में एक वस्तु की यथार्थता और विशिष्टता को तीव्र करके देखा जाता था। पर ऐसे रस खण्ड-खण्ड होकर लुप्त हो जाता है और सत्य, जो अपनी प्रकृति से ही Synthetic है, पकड़ से छूट रहता है। इसी से अब बुद्धि-विश्लेषण

के दाँतों से पकड़ने के बजाय रस-वस्तु को संश्लिष्ट रूप से हृदय की सहानुभूति में उतारने की सलाह दी जाती है। विभक्त करके नेति-नेति मार्ग से वस्तु को पाने में कुछ मदद मिलती हो तो लेखों पर जो वस्तु पाई जाने को है वह तो अविभक्त ही है। इसलिए साहित्य के क्षेत्र में विभक्तीकरण द्वारा पाये जाने वाला रस-बोध नितांत विश्वसनीय नहीं माना जा सकता।

कवि की कविता से लोग अपने नाना प्रयोजन साधते हैं। कोई रस लेते हैं, दूसरे ज्ञान और नीति लेते हैं। एक कपड़े के थान में से अपने-अपने मन के मुताबिक लोग कपड़े बनवा सकते हैं। उन बने हुए कपड़े के तर्ज के लिए श्रेय थान बनाने वाले को देना असंगत है। उसी प्रकार ज्ञान या नीति या सुधार का प्रयोजन किसी काव्य से हम साध लेते हों तो उसका श्रेय हमें ही है। अपने प्रयोजन की माप में नापकर हम कवि को नहीं समझेंगे।

शुक्लजी ने कुछ इसी तरह की भूल की हैं। तुलसी को, जो भीतर तक भीगे निपट भक्त थे, शुक्लजी ने नाना बनाव में देख-दिखा डाला है। उनको विद्वान् माना; नीति-दाता माना; समाज-सुधारक, लोक-संग्राहक, लोक-नेता माना। मैं कहना चाहता हूँ कि यह कृपा आलोचक की अकृपा है। समझदार आदमी कवि को अपनी समझदारी की नाप-काट में देखने को लाचार हो, पर कवि-कर्म समझदारी का कर्म नहीं है; वह तो प्रीति के आवेग द्वारा सम्भव होता है। और मैं मानता हूँ कि शुक्लजी ने जिस रूप में तुलसीदास को ग्रहण किया—वह तुलसीदास का आंतरिक स्वरूप नहीं आरोपित स्वरूप ही है। अर्थात् कवि की आंतरिकता को शुक्लजी अपने अंतर में अनुभव नहीं कर सके। उनका रुख वस्तुवादी (objective) रहा, आत्मलक्षी (subjective) नहीं। इससे तुलसी के 'मानस' के बहिरूप को प्रकाण्ड-पाण्डित्य से वह बाँध सके, पर उनके अंतरंग की झाँकी भी क्या ले और दे सके? ले सके होते तो व्यक्तिगत साधना वाले कहकर दूसरे सन्तों या भक्ति-भीगे और कवियों (जैसे सूरदास) से तुलसी का उन्होंने विरोध नहीं बल्कि सादृश्य ही देखा होता। सच पूछिए तो परिचित अर्थ में लोक-धर्म-प्रतिष्ठाता पुरुषों से तुलसीदास की कोटि एकदम अलग है, और वह सूरदास (यहाँ तक कि कबीरदास भी) आदि की कोटि से लगभग अभिन्न हैं।

पर शुक्ल जी ने 'मानस' को उसकी मूल प्रेरणा की पहचान से अलग हट कर उपयोगिता के धरातल पर अधिक परखा है। और उसी दृष्टि में से उन्होंने तुलसीदास की अपनी धारणा खड़ी की है। धारणा वह विद्वज्जनोचित हो सकती है, पर भीतरी असलियत से खाली है।

मुझे ऐसा मालूम होता है कि समाज-कर्मियों ने तुलसी के 'मानस' में से अपने काम की बहुत-सी सूक्तियाँ पाईं। इससे जाना कि 'मानस' उन्हीं को देने के लिए तुलसीदासजी ने रचा था। पर यों तो कहा जा सकेगा कि मेरे घड़े को भरने के लिए गंगा जी जनमी हैं। बहुतों के बहुत कारज सिद्ध हुए, पर उन कार्यों की सिद्धि रचयिता की प्रवृत्ति प्रेरणा न थी। 'मानस' तो तुलसी के व्यक्तित्व का निश्शेष आत्म-निवेदन है। तब समाज-नीति उसमें अपना निखरा रूप देख ले तो अचरज क्या? पर कवि का दान नीति-दान नहीं आत्म-दान है। शुक्लजी के तुलसीदास जाने क्या-क्या हैं, पर मानस के तुलसी रामचरणों में अकिंचन दासानुदास से अधिक कुछ नहीं हैं। कवि की इस आत्यन्तिक निरीहता को न पाकर उसके कार्य के रूप-वैभव में हम अटक रहते हैं, तो यह तो वैसा ही है कि हम ईश्वर की इस नाना माया को ही सब-कुछ मान बैठें, और उसके भीतर के ऐक्य-भाव की खोज से विरत हो जायं।

शुक्लजी निष्ठा से उतरकर तर्क को सहारा मानकर चले हैं। इसीसे काव्य में अवगाहन करते हुए काव्य में ही रह गए हैं, कवि तक नहीं पहुँच सके हैं। तुलसी को उन्होंने बहुत-कुछ अपनी तस्वीर में देखा है, उनके 'मानस' के बिम्ब में नहीं। इसी कारण व्यक्तिगत साधना और लोक-धर्म भक्त्युपासना और लोक-व्यवहार आदि में विरोध देखने को उन्हें लाचार होना पड़ा है।

भारतीय समाज ने तुलसी से जो पाया है, वह तो भारतीय समाज जो पा सका उतना ही है। अर्थात् तुलसी ने वह नहीं दिया है, क्योंकि तुलसी ने कुछ भी देने का दंभ नहीं किया है। उन्होंने तो सब-का-सब अपने को ही राम-चरणों में दिलाकर बहा दिया है। अब जो उसमें से जो पाये, सो ले। और तुलसी को धन्यवाद भी न दे। क्योंकि जिसने अशेषभाव आत्म-दान किया है, उसे प्रयोजन-दान देने का श्रेय देना अकृतज्ञता ही होगी।

भावार्थ : कवि-कर्म, जैसा शुक्लजी ने समझा, वैसा नीति-दान, सुधार-प्रेरणा या लोक-संग्रह की आकांक्षा के सहारे होने वाला कर्म नहीं है। वह कोई बुद्धि-व्यापार नहीं है। वह तो प्रीत्यावेग की लाचारी में हुआ आत्म-निवेदन है। शुक्लजी ने अपनी उदारता और प्रगाढ़ विद्या में इतना कुछ श्रेय तुलसी को दिया है कि तुलसी होते तो लाज से गड़ जाते। और कहते कि मुझे छोड़कर हे मेरे आलोचक भाई, राम नाम का स्मरण करो, क्योंकि राम की प्रीति का एक-एक कण तुम्हारे नीति-ज्ञान से कई मन भारी है।

७

मेरी लाचारी मैं ही जानता हूँ। अपने से बाहर मुझे अवलम्ब नहीं। इससे

मेरे पास शंका है, पर निर्णय नहीं। इसलिए मैंने अपने विद्वान् मित्र से पूछा :

"आप कहते हैं शुक्लजी की कविता प्रथम श्रेणी की नहीं। इसका कारण ?"

बोले—"कारण क्या ? यही उनकी उसमें उतनी गति न थी।"

"यानी उनमें वह तत्त्व न था जिससे कविता प्रथम श्रेणी की होती।"

बोले—"क्या जरूरी है कि कवि गणितज्ञ भी हो ? ऐसे ही आलोचक अकवि हो सकता है।"

मैंने कहा, "सो तो सही। पर जो किंचित् अकवि है, उसमें तत्किंचित् उस तत्त्व की कमी मानी जा सकती है कि जिसका प्रकाश कविता है।"

मित्र ने इस जगह मुझे मदद नहीं दी। मैंने कहा कि अगर मैं कहूँ कि प्राणों में की प्रीति की स्फूर्ति जब शब्द में फूटती है, तब वह कविता कहाती है, तो क्या आप सहमत होंगे ?

बोले—"हाँ।"

मैंने—"कहा तो, वैसी प्रीति की स्फूर्ति की तरतमता ही काव्य की श्रेष्ठता के न्यूनाधिक्य का कारण कही जा सकती है कि नहीं।"

बोले—"हाँ।"

मैं—"यदि शुक्ल जी की कविता प्रथम श्रेणी की नहीं आप मानते, तो क्या कहा जा सकता है कि उनमें वह स्फूर्ति उतने अंश में कम थी ?"

मित्र इस जगह बताने लगे कि अनमेल चीजों को मिलना नहीं चाहिए। आलोचना अलग, काव्य अलग इत्यादि।

मैंने कहा कि आलोचना और काव्य के अन्तर को मिटाना कौन चाहता है ? पर व्यक्ति तो अपने में एक है। या वहाँ भी खाने हैं ? कविता वाले और आलोचना वाले शुक्ल जी बहस के लिए दो हों, पर क्या सत्य के लिए भी वे दो थे ?

मित्र ने अप्रसन्नता से कहा कि मैं साफ कहूँ कि मेरा मतलब क्या है ? शुक्ल जी-जैसा मर्मज्ञ न हिन्दी में हुआ, न शायद हो। पश्चिम के बड़े-से-बड़े समालोचक के साथ खड़े होकर वह ऊँचे दीख सकते हैं।

मैंने क्षमा माँगी। मैं अनजान। मैंने क्या सीखा है ? बोला—"शुक्ल जी को पढ़ते मुझे थकान हो आई। मैं मान लूँ कि मैं अपात्र था। पर स्फूर्ति का लक्षण है कि वह उँघाये नहीं, जगाये। मैं जगता था, जगने का इच्छुक था, फिर भी ऊँघ पड़ता था। मैं कहूँ कि उसमें स्फूर्ति इतनी न रही होगी कि मुझे छूए, तो मुझ स्वार्थी को क्या इस दोषारोपण के लिए आप टोक देंगे।

बोले—"ऊँची किताबें क्या सब पढ़ सकते हैं ?"

मैंने कहा—"ऊँचाई पर सबसे नहीं जिया जायगा । हवा वहाँ सूक्ष्म होती है। पर कहीं तो बड़े-से-बड़े और छोटे-से-छोटे आदमी में भी समता है । वह समता मूल प्राणों की है, क्या वह आप मुझे मानने देंगे ?"

बोले—"हाँ !"

मैंने कहा कि मेरा मन कहता है कि उन्होंने बुद्धि की ऊँचाई पर से लिखा है, पर प्राणों की स्फूर्ति में से नहीं लिखा। उनके लेखन में अनिवार्यता नहीं, प्रयास है। इसी से कशिश भी उसमें नहीं है। क्या मैं यह नहीं चाह सकता कि रचना हो जो मुझे बरबस अपने साथ खींच ले जाय?……

मित्र ने बीच में मुझे टोका तो, पर मुझे सुनना भी चाहा। मैंने कहा—"वह कशिश नहीं है तो मुझे मौका है कि उसके लाभ से वंचित बना रहूँ। मैं दीन और इससे कंजूस हूँ। अपना लाभ नहीं खोना चाहता। इससे मेरी शिकायत सुनी जानी चाहिए। हिन्दी का परीक्षार्थी ही हिन्दी का पाठक नहीं है। जीवन की विषमताओं से जूझने वाला भी हिन्दी का पाठक है। वह क्या शुक्ल जी को पढ़ सकेगा? अपने-आपमें तो वह खींचते नहीं। मुझे बताइए कि जिसमें प्रसाद नहीं, प्राण-स्पंदन नहीं, प्रीति की खींच नहीं, उसकी ओर कोई किस स्वार्थ से खिंचे? परीक्षार्थी परीक्षा में पास होने के लिए पढ़ता है। वह जीवन का पोषक तत्त्व पाने के लिए थोड़े ही पढ़ता है। मुझे बताइए कि कोई जीवनाकांक्षा या वैसी आवश्यकता से प्रेरित होकर उन किताबों को उठाइए तो उनके पार तक पहुँच सकेगा ? मैं तो कर्तव्य-बुद्धि के सहारे ही उनके साथ बढ़ सका। नहीं तो उन्हें छोड़ चलने को जी होता था।"

मित्र ने कहा—"कोई अभ्यास क्या मीठा होता है? तबियत लगने की बात है तो बाहर खेल-तमाशे हैं । तबियत लगाना है तो मेरे साथ शुक्ल जी की चर्चा लेकर ही क्यों बैठते हो?"

मैंने कहा कि अब तो सहज-शिक्षा, प्रसन्न-शिक्षा के प्रयत्न चल रहे हैं। साहित्य आनन्द द्वारा शिक्षा देने का साधन ही तो है। बड़ी-से-बड़ी वैज्ञानिक बातें खेल-खेल में सिखाई जा रही हैं। ऊँची बातें जब अपने-आप में ही दुर्लभ होती हैं, तब शैली के दोष से उन्हें और दुर्लभ बनाना तो अपराध करना होगा। सच पूछो तो बड़ी बातों के मामले में तो प्रसादमयी शैली और भी अनिवार्य है।

मित्र ने कहा कि शुक्ल जी गम्भीर हैं। हल्की मनोवृत्ति से उनको नहीं पढ़ा जा सकता।

मैंने कहा कि क्या साहित्य को स्कूली और दिमागी कसरत का

काम माना जाय ? क्या यह सच नहीं कि बड़ी बात मस्तिष्क की राह से हृदय में घुल-मिल जाय और अनुभव का अंश बन जाय तो यह अनायास भाव से सरल शब्दों में कही जा सकती है। जितना अधिक प्रयास उसके कहने में लगता है उतना ही शंका का कारण होता है कि वह अनुभूति घुली हुई नहीं है।

खैर, मित्र अंत में इस राय को न छोड़ सके कि गम्भीर साहित्य का पात्र हर कोई नहीं हो सकता। मैं अपनी अपात्रता मानता हूँ। पर हिन्दी के अधिकांश पाठकों की श्रेणी का मैं हूँ। और ऊँचे साहित्य को इसके लिए दुर्गम नहीं होना होगा।

८

एक दूसरे मित्र से ठण्डी चर्चा के अनन्तर मैं इन परिणामों पर पहुँचा—

एक : शुक्ल जी ने सत्य को आत्म-समर्पण द्वारा नहीं, बल्कि बौद्धिक प्रयत्न-वाद के द्वारा ग्रहण किया। परिणाम-स्वरूप त्याग की ज्योति और समन्वय की शक्ति उतनी उनमें नहीं जागी जितनी कि प्रतिपादन की प्रबलता और स्थिति-धर्म के समर्थन का आग्रह पुष्ट हुआ।

दो : वह स्थिति के प्रतिनिधि और गति के विपक्ष में स्थिति के पक्ष के योद्धा के रूप में खड़े हुए और जूझे। वह वीर थे।

तीन : व्यक्ति और समाज को अन्योन्याश्रय में नहीं, बल्कि व्यक्ति को समाज के निमित्त उन्होंने समझा। परिणामतः समाज-नीति की कीमत काफी से अधिक और व्यक्तिगत साधना की कीमत काफी से कम उन्होंने आँकी।

चार : सत्य के उस रूप को उन्होंने स्वीकार भाव से नहीं, बल्कि निषेध भाव से देखा जो उन्नति सम्पन्न करने के लिए स्थिति में परिवर्तन उपस्थित करता है। अर्थात् जीवन में प्रगति पक्ष की सत्यता को वह अंगीकार नहीं कर सके। यानी वह स्वधर्म-निष्ठ से अधिक निजमतवादी थे।

पाँच : पारिवारिक धर्म से आगे अब एक नागरिक धर्म की आवश्यकता है जिसमें व्यक्ति समूचे समाज के प्रति अपने को दायी अनुभव करे, और यह परिवार-धर्म की ही प्रशस्ति है, इसका स्वीकार उनके लेखों में नहीं मिलता। अर्थात् आधुनिक समाजवादी विचारों में जो सत्य है, उसे वह न अपना सके।

छै : उन्होंने इस अंश में वर्तमान का हित किया कि अपनी परम्परा से उसे बिछुड़ने न देने में अपनी शक्ति लगाई। अर्थात् साहित्य में अनुत्तरदायी और उच्छृंखल तत्त्वों को उन्होंने उभरने से रोका।

सात : वर्तमान को भविष्य की ओर बढ़ने में उनसे प्रेरणा नहीं मिली।

आठ : उनके प्रतिपादन और खंडन-मंडन की दृढ़ता पूर्वक स्वीकृति अपने मतवाद में से आती थी। अतीत का विवेचन और (Inter pretation) भी उन्होंने तदनुकूल किया।

नौ : अपने और साहित्य-तत्त्व के बीच उन्होंने एक प्रकार का बौद्धिक हेतुवाद का अन्तर रखा। अर्थात् अपने को उन्होंने साहित्यिक होते-होते बचाया, और हठात् अपने को साहित्यालोचक बनाया। आलोचना में भी वह आलोचक थे, सर्जक नहीं।

७. आचार्य शुक्ल का काव्यालोचन–१

श्री नन्ददुलारे वाजपेयी

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल हिन्दी-आलोचना के लिए युग-प्रवर्तक कार्य कर गए हैं। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के समय तक हिन्दी-आलोचना अपने नये रूप में अवतरित नहीं हुई थी। तब तक वह लक्षण-ग्रन्थों में रसों, अलङ्कारों, नायकों और विशेषकर नायिकाओं की सूची-मात्र बनी हुई थी। वैसे, मैं यह मानता हूँ कि रस और अलङ्कार, नायक और नायिका ही साहित्यिक आलोचना के आधारभूत तत्त्व हैं, पर जिन लक्षण-ग्रन्थों की बात मैं कह रहा हूँ उनमें इन तत्त्वों की मीमांसा बहुत ही स्थूल रूप से की गई थी। इसका नतीजा यह हुआ कि साहित्यिक-शास्त्र अथवा साहित्यिक अनुशासन का कार्य इन लक्षण-ग्रन्थों से नहीं सध सका। अनुशासन तो दूर, साहित्य का साधारण मार्ग-निर्देश अथवा अच्छे-बुरे की पहचान तक ये नहीं करा सके ? फिर इन्हें आलोचना-ग्रन्थ किस अर्थ में कहा जाय, यह भी एक समस्या ही है।

उदाहरण के लिए लक्षण-ग्रन्थों में उल्लेख किये गए किसी भी रस के एक प्रसङ्ग को ले लीजिए। मान लें हम 'शृङ्गार-रस' का कोई प्रसङ्ग लेते हैं। लक्षण-ग्रन्थ द्वारा हम यह तो जान गए कि उक्त उद्धरण शृङ्गार-रस का है। किन्तु वह रस कितने छिछले अथवा कितने सौम्य शृङ्गार का है इसकी तुलनात्मक और मनोवैज्ञानिक विवेचना हम साधारणतः लक्षण-ग्रन्थों में नहीं पाते। दूसरी बात यह कि उस 'रस' विशेष की अभिव्यञ्जना कितनी शक्तिपूर्ण अथवा निःशक्त प्रणाली से हुई है यह कलात्मक विवेचना भी उनमें कम ही दिखाई देती है। तीसरी बात की उस छिछले अथवा सौम्य-शृङ्गार की सामाजिक पृष्ठभूमि क्या है—किन परिस्थितियों की वह प्रतिक्रिया है और सामाजिक जीवन पर वह किस प्रकार का असर डालेगा, इसके जानने का भी कोई साधन नहीं रहता। चौथी और सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह है कि रचनाकार की अपनी मानसिक स्थिति का भी हमें पता नहीं लगता। आलोचना के

ये ही प्रधान सूत्र हैं और लक्षण-ग्रन्थों में इन्हीं का अभाव था।

साहित्यिक ह्रास के युग में आलोचना का भी ह्रास हो जाता है। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के पूर्व जो दशा साहित्य की थी वही इन लक्षण-ग्रन्थों की भी। दोनों ही संस्कार-हीन परम्परा-बद्ध और अन्तर्दृष्टि-रहित हो रहे थे।

जिस प्रकार के लक्षण-ग्रन्थ हिन्दी में प्रस्तुत किये गए उन्हें देखते हुए यह निस्संकोच कहा जा सकता है कि इन लक्षण-ग्रन्थों का प्रस्तुत किया जाना किसी समुन्नत साहित्य-युग में सम्भव न था।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के समय से स्थिति में परिवर्तन हो चला। आँखें खुलीं और यह आभासित हुआ कि रस किसी छन्द में नहीं है, वह तो मानव-संवेदना के विस्तार में है। नायक-नायिका कवि जी की कल्पना में निर्माण होने के लिए नहीं हैं। प्रगतिशील संसार की नानाविध परिस्थितियों और सुख-दुःख की तरंगों में डूबने-उतराने और घुलकर निखरने के लिए हैं और काव्य-कला का सौष्ठव भी अनुभूति की गहराई में है, शब्द-कोष के पन्ने उलटने में नहीं।

यह प्रकाश हमें इस बार पश्चिम से मिला। सुनने में यह बात आश्चर्यजनक मालूम देती है, पर यह सच है कि तुलसीदास का महत्त्व हमने डॉक्टर ग्रियर्सन से सीखा। उसके पहले गोसाईं जी के 'मानस' का एक धार्मिक ग्रन्थ के रूप में आदर अवश्य था, पर काव्य तो बिहारीलाल, पद्माकर और केशव का ही उत्कृष्ट समझा जाता था। उसके पहले क्या उसके पीछे भी हमारे साहित्य में ऐसे 'अन्वेषकों' की कमी नहीं रही जिन्होंने बिहारी की होड़ में 'देव' को तो ला रखा पर कबीर, मीरा, रसखान और जायसी के लिए मौन ही रहे। हमारे विश्वविद्यालयों ने इन अन्वेषकों को सम्मानपूर्ण डिग्रियाँ भी दी हैं। रीतियुग के ये 'अपटूडेट' हिन्दी के प्रतिनिधि हैं।

ठीक इसके विपरीत पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी साहित्य में रीतिकालीन परम्परा के घोर विरोधी और कट्टर नैतिकता के पक्षपाती थे। उन्होंने सामयिक आदर्शों को प्रधानता दी और पुराने कवियों के मुक़ाबले भारतेन्दु हरिश्चन्द्र तथा श्री मैथिलीशरण गुप्त के काव्योत्थान की सराहना की। किसी विशेष वाद अथवा विचार-धारा का काव्य में प्रवेश होना ही उसके उत्कर्ष का साधक है, कुछ ऐसी धारणा द्विवेदी जी की थी। आज के कुछ प्रगतिशील आलोचकों का भी ऐसा ही मत है। वह विचार-धारा या वाद काव्य की अपनी सत्ता के साथ एकाकार हो गया है या नहीं, यह वे नहीं देखना चाहते। मेरे विचार से यह दूसरी हद है। जो कुछ हो, इस अग्रगामिता का प्रसाद द्विवेदी जी को यह मिला कि कई बार प्रस्ताव किये जाने पर

भी विश्वविद्यालयों ने उन्हें सम्मानित डिग्री देना अस्वीकार कर दिया। यही आशा भी की जाती थी।

प्रतिभा किसी कठघरे में बन्द नहीं रहती। यद्यपि द्विवेदी जी साहित्य की अपेक्षा भाषा के अधिक बड़े आचार्य थे पर साहित्य में भी उनकी पैनी निगाह पहुँचकर ही रही।

इसी समय के आस-पास पं० पद्मसिंह शर्मा भी आलोचना के क्षेत्र में आये। शर्मा जी 'बिहारी' की काव्य-कला के बड़े प्रशंसक थे। वे उर्दू-फ़ारसी के भी पण्डित थे और हिन्दी में यदि उन्हें उर्दू-फ़ारसी का मुक़ाबला कर सकने वाला काव्य-चमत्कार कहीं मिल सकता था तो बिहारी में ही। पर काव्य-चमत्कार ही काव्य नहीं है, शर्मा जी इस बात से अपरिचित नहीं थे उनमें इतनी भावुकता और रसज्ञता थी कि इन दोनों के अन्तर को समझ सकें। तो भी उनका झुकाव चमत्कार और काव्य-सज्जा की ओर अधिक था। उनकी शक्ति इस बात में थी कि उनकी निगाह अभिव्यक्ति के सौन्दर्य या अलंकार पर हठात् जा टिकती थी। उनकी कमज़ोरी इस बात में थी कि उस सौन्दर्य का परिचय कराने के लिए उनके पास 'क़लम तोड़ दी' वाली शैली का ही सहारा था। पर इसमें सन्देह नहीं कि वे अभिव्यञ्जना-सौन्दर्य के अद्‌भुत पारखी थे।

काव्य अथवा कला का सम्पूर्ण सौन्दर्य अभिव्यञ्जना का ही सौंदर्य नहीं है। अभिव्यञ्जना काव्य नहीं है। काव्य अभिव्यञ्जना से उच्चतर तत्त्व है। उसका सीधा सम्धन्ब मानव-जगत् और मानव-वृत्तियों से है, जब कि अभिव्यञ्जना का सम्बन्ध केवल सौंदर्यपूर्ण प्रकाशन से है। किंतु शर्मा जी प्रकाशन से ही नहीं प्रकाश से भी जानकारी रखते थे, यह बात उनके लेखों से यत्र-तत्र प्रकट होती है। विशेषकर आधुनिक कवियों के सम्बन्ध में लिखते हुए उन्होंने अपनी यह योग्यता प्रकट की है।

हमारे कितने ही नये समीक्षक ज्ञात या अज्ञात रूप से शर्मा जी के ही रास्ते पर चल रहे हैं। नये कवियों के उद्धरण दे-देकर कुछ नपे-तुले वाक्यों में प्रशंसा कर देने तक ही उनकी समीक्षा सीमित है। शर्मा जी से वे किसी भी अर्थ में आगे नहीं बढ़ सके हैं, पर उनका उपहास करने में वे बहुत आगे हैं।

इसी समय मेरे गुरुदेव अध्यापक श्यामसुन्दरदास का 'साहित्यालोचन' ग्रन्थ प्रकाशित हुआ जिसमें साहित्य-सम्बंधी कुछ सैद्धांतिक व्याख्याएं, मनोवैज्ञानिक निरूपण और व्यावहारिक (साहित्य-तंत्र-विषयक निर्देश किये गए थे। इस ग्रन्थ का बड़ा ही मार्मिक प्रभाव हिंदी के आलोचना-क्षेत्र पर पड़ा।

हिंदी-आलोचना की इसी आरम्भिक किंतु नवचेतन अवस्था में पं० रामचंद्र

शुक्ल का आगमन हुआ। उन्होंने रस और अलंकार-शास्त्र को नवीन मनोवैज्ञानिक दीप्ति दी और उन्हें ऊँची मानसिक भूमि पर ला बिठाया। इस प्रकार रस और अलंकार हिंदी-समीक्षा से बहिष्कृत हो जाने से बचे। दूसरे शब्दों में शुक्ल जी ने समीक्षा के भारतीय साँचे को बना रहने दिया। यही नहीं, उन्होंने इस साँचे के लिए यह दावा भी किया कि भविष्य की साहित्य-समीक्षा का निर्माण इसी के आधार पर होना चाहिए।

यह दावा करते हुए शुक्ल जी ने 'रस और अलंकार' आदिकों को लक्षण-ग्रन्थों वाले निःशक्त रूप में न रहने देकर उन्हें नवीन प्राणों से अनुप्राणित कर दिया। उन्होंने उच्चतर जीवन-सौंदर्य का पर्याय बनाकर 'रस और अलङ्कार'-पद्धति का व्यवहार किया।

जहाँ तक उनकी प्रयोगात्मक (व्यावहारिक) आलोचना है, उन्होंने तुलसी और जायसी-जैसे उच्चतर कवियों को चुना और उनके ऊँचे काव्य-सौन्दर्य के साथ 'रस और अलङ्कार' का विन्यास करके 'रस-पद्धति' को अपूर्व गौरव प्रदान किया और साथ ही उन्होंने काव्य की स्थापना ऐसी ऊँची मानसिक संवेदना के स्तर पर की कि लोग यह भूल ही गए कि रसों और अलङ्कारों का दुरुपयोग भी हो सकता है।

मेरे कहने का मतलब यह है कि शुक्लजी ने अपनी उच्च काव्य-भावना के बल पर समीक्षा की जो शैली निर्धारित की वह उनके लिए ठीक थी। वे स्वतः तुलसी, सूर और जायसी-जैसे कवियों की ही प्रयोगात्मक समीक्षा में प्रवृत्त हुए जिससे उनकी आलोचना के पैमाने आप-ही-आप स्खलित होने से बचे रहे। उत्थानमूलक, आदर्श-वादी विचारणा से उनका कभी सम्पर्क नहीं छूटा।

किन्तु शुक्लजी ने हिन्दी-साहित्य का समीक्षात्मक इतिहास भी लिखा है और यहाँ उन्हें सभी प्रकार के कवियों से संपृक्त होना पड़ा है। यहाँ शुक्ल जी ने अपने समीक्षा-सम्बन्धी पैमानों का प्रयोग अधिकतर इतनी सफलता के साथ किया है कि उनका साहित्यिक इतिहास कवियों और काव्य-धाराओं के मूल्य-निर्धारण में त्रुटिपूर्ण नहीं प्रतीत होता।

अवश्य जहाँ-जहाँ और जब-जब शुक्ल जी ने अपनी काव्य-माप में कुछ व्यक्तिगत रुचियों को प्रवेश करने दिया है—उदाहरण के लिए उन्होंने कथात्मक साहित्य या प्रबन्ध-रचना को मुक्तक काव्य पर तरजीह दी और निर्गुण-सगुण की दार्शनिक धाराओं में सगुण-पक्ष की वकालत की—वहाँ-वहाँ उन्हें अक्सर काव्य की परख करने में कठिनाई हुई है। डी० एल० राय में रवीन्द्रनाथ की अपेक्षा उच्चतर भाव-संवेदन का निरूपण करना इसी प्रकार के पक्षपात का परिणाम है। इसी के फलस्वरूप

उन्हें हिन्दी के आधुनिक कवियों में भी कुछ अनधिकारियों अथवा अल्प अधिकारियों को उचित से अधिक महत्त्व देना पड़ा है।

संवेदना या रसानुभूति के आधार पर स्थिर होने वाली काव्य-समीक्षा के लिए दो शर्तें अनिवार्य हैं—एक यह कि समीक्षक का व्यक्तित्व समुन्नत हो और दूसरी यह कि उसमें कला का मानसिक आधार ग्रहण करने की पूरी शक्ति हो—किसी मतवाद का आग्रह न हो।

शुक्लजी में उच्च कोटि की काव्य-रसज्ञता थी, इसमें सन्देह नहीं। साथ ही उनकी कुछ निजी रुचियाँ और आग्रह भी थे जिन्हें दबाया नहीं। इसका मुख्य कारण यह है कि उनमें आलोचना के साथ-साथ रचनात्मक प्रेरणाएं भी बड़ी प्रमुख थीं। स्वतंत्र रचना के लिए स्वतंत्र अभिरुचि का होना आवश्यक है, किंतु काव्य-समीक्षक को अधिक-से-अधिक निष्पक्ष होना चाहिए। साहित्य के वैज्ञानिक अनुसंधान-कार्य के लिए यह निष्पक्षता बहुत आवश्यक है।

रचनाकार और समीक्षक के लिए अलग-अलग रास्ते हैं। एक के लिए व्यक्तिगत अभिरुचि का अपार क्षेत्र खुला है, दूसरे के लिए उसकी गुन्जाइश नहीं। उसे पूरी तटस्थता बरतनी होगी।

यहाँ पूरी तटस्थता से हमारा मतलब निर्विकल्प या absolute तटस्थता से नहीं है। वह तो सम्भव नहीं है समीक्षक अपने बाहरी (सामाजिक) और भीतरी (व्यक्तिगत) संस्कारों से बरी नहीं हो सकता। वह एक समय और एक वर्ग का लगाव छोड़ नहीं सकता। यहाँ तटस्थता से मेरा मतलब यह नहीं कि वह अपनी सामाजिक और संस्कार-जन्य इयत्ता खो दे। यह सम्भव भी नहीं है। इससे तो समीक्षक के अपने व्यक्तित्व का निर्माण हुआ है। मेरा मतलब सिर्फ यह है कि इन व्यक्तिगत पहलुओं के होते हुए भी, जहाँ तक काव्य के कलात्मक स्वरूप और मनोभूमि के विश्लेषण का प्रश्न है, समीक्षक को तटस्थता कायम रखनी चाहिए।

समीक्षा की तटस्थता से यह आशय न निकालना चाहिए कि उस समीक्षा का सामाजिक सम्पर्क छूटा हुआ है। मैं इस सम्पर्क का लेख के आरम्भ में ही आग्रह कर चुका हूँ और यह सम्पर्क छूट जाने से लक्षण-ग्रन्थों के द्वारा समीक्षा-क्षेत्र की जो दुर्दशा हुई उसका भी उल्लेख कर आया हूँ। शुक्ल जी की काव्य-समीक्षा में बड़े समारोह के साथ इस सामाजिक सम्पर्क का आवाहन है। यह हिन्दी-आलोचना के लिए बड़े महत्त्व की बात सिद्ध हुई। बल्कि मैं तो यह कहूँगा कि नव्यन्तर सामाजिक प्रगति से (विशेषत: राजनीति से) घनिष्ठ सम्बन्ध न रहने के कारण शुक्ल जी साहित्य की आधुनिक प्रवृत्तियों से उतना अधिक तादात्म्य स्थापित नहीं कर सके जितना उनके-

जैसे इस क्षेत्र के अधिनायक से आशा की जाती थी।

युग की संवेदनाओं से समीक्षक का घनिष्ठ परिचय होना चाहिए। तभी वह युग के साहित्य का आकलन सम्यक् रूप से कर सकेगा। जिन नूतन स्थितियों और प्रेरणाओं से नवीन काव्य का निर्माण हुआ है, जिन नवीन वादों की सृष्टि हुई है और जो नई शैलियाँ साहित्य में अपनाई गई हैं, उनका जब तक परिचय नहीं, तब तक साहित्य का मूल्याङ्कन क्या होगा? किन्तु घनिष्ठ-से-घनिष्ठ परिचय में भी तटस्थता समीक्षक के लिए अत्यावश्यक है यह तटस्थता सफल विश्लेषण की पहली शर्त है।

जिस प्रकार शुक्ल जी ने काव्य और कलाओं के सामाजिक सम्पर्क की आवाज उठाई उसी प्रकार उन्होंने रचनाकार की व्यक्तिगत मनःस्थिति का भी हवाला दिया है। रचयिता की मनःस्थिति का पता लगाना आधुनिक काव्य-विवेचक आवश्यक समझता है। इसके लिए काव्यालोचक आज मनोविश्लेषण-विज्ञान की भरपूर सहायता लेना चाहते हैं। शुक्लजी के समय यह विज्ञान हिन्दी में कम व्यवहृत हुआ। इसका व्यवहार बड़ी विशेषज्ञता की अपेक्षा रखता है। रचनाकार के काव्य-निर्माण में उसके व्यक्तिगत संस्कारों का हाथ रहता है। वे संस्कार किस हद तक उसके काव्य को ऊँचा उठाते या नीचा गिराते हैं, यह प्रत्येक समीक्षक जानना चाहेगा। किन्तु इसे जानने के साधन उतने आसान नहीं हैं जितना हम अक्सर समझा करते हैं। शुक्ल जी ने इस दिशा में आरंभिक कार्य का सूत्रपात कर दिया था।

रचनाकार की मानसिक स्थिति का विश्लेषण उसके द्वारा निर्माण किये गए काव्यात्मक चरित्रों के आधार पर भी किया जाता है। कोई भी साहित्यिक रचना पढ़ने पर रचयिता के विचारों, उसकी मनोभावना और मूल प्रेरणा का सामान्य रूप से अन्दाज़ लग जाता है, पर मनोविश्लेषण-शास्त्र द्वारा उस विषय की विशेषज्ञता प्राप्त की जाती है। किन्तु यदि रचनाकार के साथ अन्याय नहीं करना है तो बहुत अधिक सतर्कता के साथ हमें निर्णय करना होगा।

शुक्ल जी बहुत अधिक वादों के पक्षपाती नहीं थे। यूरोप के साहित्य-क्षेत्रों में जो शीघ्र-शीघ्र वाद-परिवर्तन होते रहे हैं उन पर शुक्ल जी की आस्था नहीं थी। वे उन्हें बदलते हुए फैशन-जैसी चीज़ समझते थे। उनका ऐसा समझना एक दृष्टि से ठीक भी है। पर इस विषय में एक दूसरी दृष्टि भी है; वह यह कि यूरोप का साहित्य अतिशय समृद्ध साहित्य है। वहाँ नई-नई कला-शैलियों का आविर्भाव और प्रचार होना स्वाभाविक है। प्रत्येक साहित्य अपनी समृद्धि की अवस्था में बहुविध वेश-विन्यास करेगा ही। यह उसका अनिवार्य गुण है। तब देखना

शब्दावली से मेल खाती है, यह और भी अलग प्रश्न है।

यदि शुक्ल जी में अपने समय और समाज की सीमाएं हैं तो सवाल यह है कि इन सीमाओं से बचा कौन है? महत्त्व सीमाओं का नहीं है, महत्त्व है सीमाओं के भीतर किये गए काम का। शुक्लजी ने अपने समय की एक अर्द्धजागृत-साहित्य-चेतना को दिशा-ज्ञान दिया। रास्ता सुझाया ही नहीं, स्वयं आगे-आगे चले और मंज़िल तय कीं। विपर्यस्त लक्षण-ग्रन्थों की परम्परा को साहित्य-शास्त्र की पदवी पर पहुँचाया, उसे आदर्शात्मक स्वरूप दिया। अपने उच्च कोटि के व्यक्तित्व और अध्ययन की छाप वे साहित्य पर छोड़ गए हैं। प्रांजलता और महाकाव्योचित औदात्त्य के लिए यह युग शुक्लजी को स्मरण करेगा। साहित्य-समीक्षक की हैसियत से सब से बड़ी बात शुक्लजी में यह नहीं है कि उन्होंने उच्चतर काव्य को निम्नतर काव्य से अलग किया, बल्कि उन्होंने वह ज्ञान दिया कि हम भी उस अन्तर को पहचान सकें। यह उनका पहला काम था। तुलसी, जायसी और सूर की समीक्षाओं द्वारा उन्होंने हिन्दी-आलोचना को सुदृढ़ भित्ति पर स्थापित किया। यह भित्ति इतनी मज़बूत है जितनी भारत की किसी भी प्रान्तीय भाषा की भित्ति हो सकती है। शुक्ल जी की सबसे बड़ी विशेषता है समीक्षा के सब अङ्गों का समान रूप से विन्यास। अन्य प्रान्तीय भाषाओं में समीक्षा के किसी एक अङ्ग को लेकर शुक्लजी की टक्कर लेने वाले अथवा उनसे विशेषता रखने वाले समीक्षक मिल सकते हैं, पर सब अङ्गों का समान विकास उनका-सा कोई कर सका है, मैं नहीं जानता। जितना उत्कर्ष उन्हें साहित्य के सिद्धान्तों का निरूपण करने में प्राप्त हुआ उतनी ही दक्षता उन्हें उन सिद्धान्तों का व्यावहारिक प्रयोग करने में हासिल हुई। पांडित्य में उनकी अप्रतिहत गति थी, विवेचना की उनमें विलक्षण शक्ति थी। वे आलोचक या समीक्षक-मात्र नहीं थे, सच्चे अर्थ में साहित्य के आचार्य थे।

समीक्षक की हैसियत से शुक्लजी का आदर्श बहुत ऊँचा है, और उनका एक संदेश है जिसे आज के समीक्षकों को स्मरण रखना चाहिए। वह सन्देश यह है कि साहित्य की समीक्षा किसी एक अङ्ग या पहलू पर समाप्त न हो जानी चाहिए, बल्कि वह सब अङ्गों को ध्यान में रखकर की जानी चाहिए। आज हिन्दी में जो कोई समीक्षा के जिस किसी कोने को पकड़ पाता है उसे ही खींच चलता है। यह समझने की ज़रूरत नहीं समझी जाती कि इस खींच-तान से साहित्य का कोई लाभ नहीं है, बल्कि इससे साधारण पाठकों में भ्रम ही फैला करता है। शुक्लजी ने इस प्रवृत्ति को साहित्यिक कनकौआ उड़ाना कहा है, और उन्होंने इसका ठीक ही नामकरण किया है। यह प्रवृत्ति हमें साहित्य की समीक्षा में बहुत दूर तक नहीं ले जा सकती,

साहित्य की अन्तरात्मा के दर्शन तो करा ही नहीं सकती।

शुक्लजी ने हिन्दी-समीक्षा में क्रान्तिकारी परिवर्तन किया। वे नये युग के विधायक थे। यद्यपि हम यह कहेंगे कि शुक्ल जी की व्यक्तिगत अभिरुचियों और धारणाओं ने विशुद्ध काव्यालोचन में सदैव सहायता ही नहीं पहुँचाई, अनेक बार अड़चनें भी डालीं। और शुक्लजी की समीक्षा में युग की सीमाएं भी स्वभावतः मौजूद हैं।

८. आचार्य शुक्ल का काव्यालोचन—२

श्री नन्ददुलारे वाजपेयी

पण्डित रामचन्द्र शुक्ल का आगमन हिन्दी में द्विवेदी-युग की पूर्ण प्रतिष्ठा का निमित्त हुआ। जिस नीतिवाद, व्यवहारवाद अथवा आदर्शात्मक बुद्धिवाद का द्विवेदी-युग प्रतीक है, उसे पराकाष्ठा पर पहुँचा देने का श्रेय शुक्लजी को प्राप्त है। शुक्ल जी ने अपनी साहित्यिक आलोचनाओं में तो उन्हें अपनाया ही, उनके लिए एक दार्शनिक नींव भी तैयार की, जिससे हिन्दी में एक नये युग का प्रवेश हुआ। अपने युग की नैतिक, आदर्शात्मक और बौद्धिक प्रगतियों की पुष्टि के लिए शुक्ल जी ने गोस्वामी तुलसीदास के 'रामचरितमानस' और जायसी के 'पद्मावत' को चुना, जो दोनों ही महाकाव्य हैं, जिनमें स्वभावतः बाह्य जीवन की परिस्थितियों का बाहुल्य है, जिन्हें आवश्यकतानुसार शुक्ल जी अपने उपयोग में लाए हैं। इसके अतिरिक्त शुक्लजी ने हिन्दी के दूसरे महाकवि सूरदास को भी अपनी काव्य-मीमांसा के लिए छाँटा और उनके काव्य को अपने नीतिमूलक आदर्शवादी विचारों के साँचे में ढालना चाहा, किन्तु इस कार्य में उन्हें आंशिक सफलता ही मिल सकी है। इसका कारण स्पष्ट ही यह है कि सूरदास जी न तो कोई कथाकार हैं, जिनमें बाह्य-जीवन का वैविध्य देखने को मिले और न वे द्विवेदी-युग की नैतिक या बौद्धिक मर्यादा के कायल हैं। प्रेम के तराने अलापने वाला कवि वैसी किसी मर्यादा का कायल हो भी नहीं सकता—आत्म-समर्पण की मर्यादा तो पूर्ण समर्पण में ही है। इसीलिए शुक्लजी ने वहाँ ऐसी गौण बातों की जिज्ञासा से ही सन्तोष कर लिया है कि गोपी-कृष्ण-प्रेम के आविर्भाव की परिस्थितियाँ कैसी हैं, महलों वाला विलासी प्रेम तो उनका नहीं है, आदि-आदि। अवश्य ही यह द्विवेदी-युग की दार्शनिकता के अनुकूल है, किन्तु सूरदास जी के सङ्गीत का माधुर्य इन जिज्ञासाओं से ही व्यक्त नहीं हो सकता। न वह इनका अपेक्षी ही है। उसका माप तो उसके स्वरों में ही छिपा है और छिपा है वह हमारे संवेदनशील हृदयों में। भावात्मक अथवा रहस्यात्मक काव्य बाहरी दुनिया

की अपेक्षा हृदय की टोह पर ही अधिक अवलम्बित है। अवश्य ही यदि हृदय सच्चा है तो बाहरी दुनिया भी उसकी महत्ता स्वीकार करेगी, यद्यपि मूर्त व्यापारों, परिस्थितियों और व्यवहारों में व्यक्त रहने वाली बुद्धि हृदय की गहराई की थाह और उसके निगूढ़ स्रोतों से उत्सर्जित होने वाले स्वच्छ और विशुद्ध जीवन-रस का आस्वाद ज़रा देर से ही पा सकेगी। यही हाल शुक्लजी का भी है। वह एक उच्च कोटि के सहृदय और काव्य-मर्मज्ञ हैं इसमें तो सन्देह नहीं, पर वे अपने युग की बाह्य, आदर्शवादी नीतिमत्ता के हामी होने के कारण व्यवहारों का जो व्यक्त सौन्दर्य देखना चाहते हैं वह उतनी प्रचुर मात्रा में न तो सूरदास जी में ही मिलता है और न आधुनिक छायावाद या रहस्यवाद के काव्य में ही। यही कारण है कि वे एक ओर गोस्वामी तुलसीदास और उनके 'मानस' महाकाव्य के सामने सूरदास जी के भाव-भरे पदों को स्थान नहीं देते और दूसरी ओर नवीन समुन्नत गीतकाव्य के ऊपर ऐसी साधारण प्रबन्ध-रचनाओं को रखना चाहते हैं जैसे काव्य में 'नूरजहाँ' या 'हल्दीघाटी' अथवा गद्य में 'शेष स्मृतियाँ'। जायसी बेचारे बीच में पड़ गए हैं। एक ओर तो वे प्रबन्ध-कथानक के रचयिता हैं और दूसरी ओर रहस्यवादी। मैं कह सकता हूँ कि शुक्लजी ने उनकी प्रबन्ध-पटुता की जितनी प्रशंसा की है और बाह्य जीवन-व्यापारों का जितना विवरण दिया है, उनके रहस्यवाद की ओर वे उतने आकृष्ट नहीं हैं। कहा नहीं जा सकता कि जायसी के बदले उन्हें कोई मुक्तककार रहस्यवादी सूफी कवि दे दिया जाय तो वे उसकी कितनी कद्र करेंगे। मेरा अपना अनुमान तो यही है कि हाफिज, रूमी या शेखसादी-जैसे बड़े-से-बड़े कवि भी उन्हें नहीं जँचेंगे, क्योंकि वे शुक्लजी की बँधी हुई परिपाटी पर नहीं चले हैं। उनकी रुचि और परख में वे पूरे नहीं उतर सकते।

'रामचरित-मानस' के जिस व्यापक आदर्श की ओर शुक्लजी सबसे अधिक आकृष्ट हैं, वह है लोक-धर्म का आदर्श। समाज में सभी व्यक्ति एक-दूसरे के प्रति किसी-न-किसी सम्बन्ध-सूत्र से बँधे हुए हैं। इन समस्त सम्बन्धों का निर्वाह समाज के सुचारु संचालन के लिए अत्यावश्यक है, किन्तु सुचारु संचालन तभी सम्भव है जब सभी लोग अपने-अपने कर्तव्य को समझें। इन कर्तव्यों की बड़ी ही सुन्दर और आदर्श प्रतिष्ठा राम-चरित्र में पाई जाती है। दूसरे शब्दों में लोक-धर्म का बड़ा ही उत्कृष्ट निरूपण उक्त काव्य में किया गया है अवश्य ही वह निरूपण आदर्शात्मक है, क्योंकि उसमें सर्वत्र कर्तव्य-पक्ष की ही प्रधानता है। किसी को अपने अधिकारों का ध्यान नहीं रखना, सबको कर्तव्य का ही पालन करना है। इसी आदर्शात्मक लोक-धर्म में शुक्ल जी की वृत्ति रम गई है, इस त्यागमय धर्म को ही वे व्यवहरा-मंध

मानने लगे हैं।

इस लोक-धर्म की दो विशाल बाहुएं हैं—सत् की रक्षा और असत् का दलन। साधुओं का परित्राण और दुष्टों का विनाश गीता में श्रीकृष्ण ने अपने अवतार का प्रयोजन बताया है। शुक्लजी इन दोनों पक्षों के पूरे हिमायती हैं। मानव-जीवन का सौन्दर्य इन उभय पक्षों के पूर्ण परिपालन में ही है, किन्तु साथ ही हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि रामचरितमानस के लोक-धर्म की नींव एक-मात्र कर्तव्य-निष्ठा पर ही अवलम्बित है। इसमें अधिकारों और कर्तव्यों का दोहरा पक्ष नहीं है। जैसा कि मैं कह चुका हूँ व्यक्ति की दृष्टि से यह पूर्ण त्यागमय धर्म है। दार्शनिक शब्दावली में इसे ही अनासक्त कर्म-योग कहते हैं। स्मरण रखना चाहिए कि यह पाश्चात्य व्यावहारिक दर्शन नहीं है जिसमें कुछ लेकर कुछ देना पड़ता है, यह है भारतीय कर्म-योग, जिसमें व्यक्ति के लिए पूर्ण स्वार्थ-त्याग (सब-कुछ देना) और सर्वस्व समर्पण ही धर्म कहलाता है।

रामचरितमानस के इस वैयक्तिक त्यागमय पक्ष का जब तक पूर्णतः उद्घाटन नहीं किया जाता तब तक कर्तव्य-पक्ष को उसकी उचित आभा नहीं मिल सकती। शुक्ल जी ने वैराग्यमूलक निष्क्रिय (!) अध्यात्म के मुकाबले इस क्रियाशील लोक-धर्म की आवाज़ उठाई है जो सुनने में बड़ी सुहावनी मालूम देती है, किन्तु उन्होंने भारतीय लोक-धर्म की त्यागमूलक भित्ति का यथेष्ट विवरण हमारे सामने नहीं रखा। वे एक प्रकार से इनकी उपेक्षा भी कर गए हैं जिसके कारण भारतीय प्रवृत्ति-मार्ग और निवृत्ति-मार्ग की एक ही भूमि पर खड़ी हुई दार्शनिक शाखाएं शुक्ल जी द्वारा परस्पर विरोधिनी बना दी गई हैं। स्वार्थ या आसक्ति का त्याग प्रवृत्ति के मूल में भी है और निवृत्ति के मूल में भी। दोनों का आधार एक ही है किन्तु शुक्लजी ने आधार के इस ऐक्य की ओर ध्यान न देकर निवृत्ति और प्रवृत्ति, ज्ञान और कर्म, व्यक्तिगत साधना और लोक-धर्म दोनों को एक दूसरे का विरोधी बना दिया है। अवश्य ही शुक्लजी का यह दार्शनिक विपर्यय भारतीय अध्यात्म-शास्त्र के लिए अन्यायपूर्ण हो गया है।

मैं यह नहीं कहता कि प्रवृत्ति और निवृत्तिके मार्गों में कोई अन्तर ही नहीं है और न यही विश्वास दिलाना चाहता हूँ कि निवृत्ति-मूलक अध्यात्म का हमारी राष्ट्रीय अवनति से कोई सम्बन्ध नहीं (यह तो विषय ही उपस्थित नहीं)। मेरा कहना इतना ही है कि प्रवृत्ति और निवृत्ति के दोनों ही मार्ग पूर्ण व्यक्तिगत त्याग पर अवलम्बित हैं और दोनों का दार्शनिक समन्वय भारतीय धर्म-ग्रन्थों में उपलब्ध है। रामचरितमानस भी भारतीय धार्मिक परम्परा का ग्रन्थ है। इसलिए वह भी

प्रवृत्ति और निवृत्ति में कोई तात्त्विक भेद नहीं मानता। यदि शुक्लजी ने इस परम्परा का यथोचित ध्यान रखा होता तो वे दोनों का वैषम्य इतनी कट्टरता के साथ न दिखा पाते। भारतीय धर्म और विशेषकर मध्यकालीन वैष्णव धर्म ज्ञान, भक्ति और कर्म को एक ही दार्शनिक भूमि पर प्रतिष्ठित करता है, यद्यपि आचार्यगण रुचि-वैभिन्य के कारण एक या दूसरे को प्रमुखता अवश्य देते हैं। शुक्लजी ने उनकी दार्शनिक मान्यता को स्पष्ट करने की चेष्टा नहीं की।

इसी का परिणाम यह हुआ कि सारा मध्यकालीन भक्ति-काव्य शुक्ल जी द्वारा दो कठघरों में बन्द कर दिया गया है। उन्हें हम संक्षेप में व्यक्तिगत साधना और लोकधर्म के कठघरे कह सकते हैं (ये उन्हीं के शब्द हैं)। आश्चर्य है कि इस प्रकार का वर्गीकरण शुक्लजी ने किया है जब कि वास्तव में दोनों ही एक-दूसरे से बहुत अंशों तक अनुप्रेरित हैं और दार्शनिक विचारणा में भी एक-दूसरे के समकक्ष हैं। इसका नतीजा यह हुआ है कि शुक्लजी का वैष्णव-साहित्य का अध्ययन परम्परा-प्राप्त मान्यताओं के अनुकूल नहीं हुआ। उन्होंने कृत्रिम विभेदों का आग्रह किया है और काव्यालोचना में भी एक वर्ग को व्यर्थ नीचा देखना पड़ा है। मेरा यह विश्वास है कि द्विवेदी-युग की नैतिकता और आदर्शवादिता का ही यह परिणाम है कि शुक्लजी सूर और तुलसी के बीच, जिनमें एक-सी ही महान् प्रेरणाएँ उपलब्ध हैं, एक खाई खींच लेते हैं और यही कारण है कि वे आधुनिक काव्य के प्रति भी ऐसा ही वर्गीकरण कर डालते हैं।

अवश्य ही यह अधिकार सबको है कि वह अपनी नई दृष्टि से प्राचीन वस्तु की परीक्षा करे, किन्तु वह परीक्षा समीक्षा तभी कहायगी जब वह निष्पक्ष हो और उस वस्तु की चौहद्दी का ठीक-ठीक निरूपण करती हो। काव्य की समीक्षा में तो यह कार्य अपेक्षाकृत सरल है, क्योंकि देश-काल के स्थूल बंधन और आवरण यहाँ कम हैं; किन्तु अन्य पहलुओं का अध्ययन तो बहुत ही सतर्क दृष्टि से करना चाहिए। शुक्लजी ने काव्य-विवेचन में सम्यक् तटस्थता का परिचय नहीं दिया और न मध्य-कालीन वैष्णवधर्म की आधार-भूमि को समझने में सहायता पहुँचाई है। अवश्य ही उनके नवीन दर्शन का अपना विशेष महत्त्व हो सकता है किन्तु हम यह नहीं कह सकते कि उन्होंने प्राचीन काव्य का दार्शनिक अथवा साहित्यिक मूल्य निर्धारण करने में पक्षपात-रहित मनोयोग दिखाया है।

तो शुक्लजी का वह नवीन दर्शन क्या है? सबसे पहले ही हम देखते हैं कि वह नवीन दर्शन है प्रवृत्ति और निवृत्ति : व्यक्ति-धर्म और लोक-धर्म को परस्पर विपरीत दार्शनिक विचारणा का परिणाम बतलाना और प्रवृत्ति तथा लोक-धर्म के

पक्ष में उत्साहपूर्ण आन्दोलन करना। सच पूछिए तो ऐसा करके शुक्लजी ने सम्पूर्ण आध्यात्मिक काव्य की मूल प्रेरक शक्तियों का विघटन कर दिया है। अवश्य ही रामचरितमानस भी उनमें से एक है। यह मानने के लिए हम सभी तैयार होंगे कि महाकाव्य की कर्मण्यता और गीतों की भावमयता में अन्तर होता है और यही अन्तर 'मानस' और 'सूर-सागर' में भी है, किन्तु मानस की क्रिया और सूर-सागर की भावना की प्रेरक शक्तियाँ एक-दूसरे के बहुत निकट हैं—इस पर शुक्लजी ने यथेष्ट विचार नहीं किया। वह प्रेरक शक्ति है आध्यात्मिक इष्ट के प्रति उच्चकोटि का आत्मोत्सर्ग। यह आत्मोत्सर्ग ही प्रवृत्ति और निवृत्ति की दोनों दिशाओं में साधक को ले जाता है। सूर को यह एक ओर ले गया है तुलसी को दूसरी ओर।

किन्तु शुक्लजी जिस अर्थ में प्रवृत्ति का प्रतिपादन करते हैं वह है 'स्पिनोजा' की निरन्तर गतिशील प्रवृत्ति। आप जगत् को ब्रह्म की व्यक्त सत्ता बतलाते हैं और इस सत्ता को निरन्तर परिणामशील ठहराते हैं। गति ही शाश्वत है, किन्तु यह गति क्या किसी नियम से परिचालित है? शुक्लजी का लक्ष्य गति या प्रवृत्ति का ही आग्रह करना है, यद्यपि उन्हें मालूम पड़ रहा है कि वे कितनी कच्ची ज़मीन पर हैं। तभी तो उन्होंने शाश्वत प्रगति के दो भाग कर दिए—प्रवृत्ति और निवृत्ति, और इन दोनों के बीच में एक वृत्ति और स्थापित की—रागात्मिका वृत्ति। यह सारा प्रयास शुक्लजी का अपना निजी है और यह द्विवेदी-युग की स्थूल नैतिकता को असलियत का जामा पहनाने के लिए है।

क्या मैं पूछ सकता हूँ कि जहाँ एक-मात्र प्रगति ही, प्रवृत्ति ही तत्त्व है, वहाँ प्रवृत्ति और निवृत्ति के लिए स्थान कहाँ? और यह तीसरा तत्त्व रागात्मिका वृत्ति क्या है? इसका स्वरूप क्या है, क्या यह कोई शाश्वत पदार्थ है? यहाँ हमारा ध्यान नवीन वैज्ञानिक युग के बुद्धिवादी दर्शनों की ओर आकृष्ट होता है जो भौतिक प्रगति और मानवी व्यावहारिक शक्तियों के बीच दार्शनिक अनुक्रम स्थापित करने की चेष्टा करते हैं। किन्तु उनकी योजनाओं और शुक्लजी की योजनाओं में सबसे अधिक उल्लेखनीय अन्तर यह है कि वैज्ञानिक योजनाएं अपने को व्यावहारिक सत्य कहकर घोषित करती हैं और वे समय के साथ-साथ नये सांस्कृतिक पहलुओं को ग्रहण करती रहती हैं, जब कि शुक्लजी एक युग-विशेष के आदर्श को शाश्वत कहकर प्रतिष्ठित करना चाहते हैं। यदि ऐसा न होता तो प्रवृत्ति और निवृत्ति ऐसे दो शाश्वत नैतिक आदर्शों की स्थापना वे न करते और न उन स्थूल विभागों के बीच एक नित्य रागात्मिका वृत्ति को अधिकार कर लेने देते।

और यदि हम यह मानें कि प्रवृत्ति और निवृत्ति शाश्वत नहीं हैं और रागा-

त्मिका वृत्ति भी सार्वजनीन नहीं है अर्थात् वे तीनों ही देश काल और व्यक्ति के अनुसार विभिन्न रूप और तथ्य धारण कर सकती हैं, तब यह प्रश्न उठ खड़ा होता है कि प्रवृत्ति और निवृत्ति की धारा किन नियमों के अधीन होकर चलती है और रागात्मिका वृत्ति का उनसे किन अवस्थाओं में कैसा सम्बन्ध होता है। दूसरा प्रश्न यह है कि रागात्मिका वृत्ति का परिष्कार और नियमन भी सामाजिक प्रगति के साथ-साथ होता है या नहीं, होना चाहिए या नहीं? जहाँ तक मैं देखता हूँ शुक्लजी ने इन प्रश्नों की बारीकी में घुसने की चेष्टा नहीं की है जिससे मैं इसी निष्कर्ष पर पहुँचता हूँ कि शुक्लजी ने एक युग विशेष की प्रवृत्ति और निवृत्ति को ही शाश्वत पैमाने पर देखा है और उनकी अन्तःकरण-वृत्ति भी किसी विशिष्ट आधार पर स्थिल नहीं। जिस ओजस्विता के साथ उन्होंने काव्य-विवेचन में अपनी विशिष्ट रुचियों का परिचय दिया है—प्रवृत्ति और निवृत्ति की स्थूल रेखाएं क़ायम की हैं, उनसे इस धारणा की पुष्टि होती है।

मैं उनकी प्रवृत्ति और निवृत्ति की रेखाओं को स्थूल इसलिए कहता हूँ कि न तो वे भारतीय आध्यात्मिक दर्शन के अनुसार प्रवृत्ति को भी उसके वास्तविक निवृत्ति-मूलक (त्याग या अनासक्ति-मूलक) स्वरूप में उपस्थित करते हैं और न आधुनिक पाश्चात्य भौतिक विज्ञानियों की भाँति प्रवृत्ति का कोई सांस्कृतिक, मनोवैज्ञानिक या व्यावहारिक आधार ही स्थिर करते हैं। अत्याचारी के प्रति रोष से आविष्ट और पीड़ित के प्रति दया से द्रवित होकर लोक-धर्म की जो प्रेरणा कर्तव्य रूप में विकसित होती है क्या उसका कोई सुव्यवस्थित आधार शुक्लजी ने निरूपित किया है? उदाहरण के लिए क्या उन्होंने मार्क्स की भाँति सामाजिक अत्याचार की कोई रूप-रेखा निर्धारित की है, अथवा क्या उन्होंने यह बताया है कि सामाजिक और सांस्कृतिक प्रगतियों में अत्याचार की पहचान किस प्रकार की जाय? रावण अत्याचारी था किन्तु उसके अत्याचार किस प्रकार के थे, और उसका आशय क्या था? वह साधुओं और ऋषि-मुनियों की तपस्या में विघ्न डाला करता था, क्या इतना कह देना ही उसे अत्याचारी सिद्ध कर देता है? ये ऋषि-मुनि किन तपस्याओं में प्रवृत्त होते थे, उन तपस्याओं के विरुद्ध रावण का लक्ष्य क्या था? क्या रावण अनार्य सभ्यता का प्रतीक है, अथवा वह भौतिक ऐश्वर्य और भोग-विलास का प्रतीक है? अथवा एक निरुद्देश्य आततायी-मात्र है? शुक्लजी रावण को अधर्म का प्रतीक व्यक्ति-मात्र मानते हैं जो स्थूल आचारवादियों का तरीक़ा है। इतना कहकर वे आगे की समस्याओं से छुट्टी पा जाते हैं। अधर्म है क्या वस्तु? वह क्रियाओं द्वारा पहचाना जाता है या उद्देश्यों द्वारा? क्या किसी देश अथवा काल विशेष की बहुजन-मान्य

प्रथा ही धर्म है अथवा धर्म का कोई शाश्वत स्वरूप भी है? इन तफसीलों में जाने की शुक्लजी ने आवश्यकता नहीं समझी। काव्यालोचना के लिए यह सब आवश्यक न भी हो किन्तु शुक्लजी कोरे काव्यालोचक नहीं हैं। उन्होंने लोक-धर्मवादी दार्शनिक का महत्त्वपूर्ण पद भी अधिकृत किया है। अतः उनसे इन विषयों के विवेचन की आशा की जा सकती थी।

इसी प्रकार शुक्ल जी ने यह भी बताया कि अत्याचारी अत्याचार के लिए क्यों सन्नद्ध होता है। क्या यह उसका सहज गुण है या यह समाज की ही देन है? और अत्याचार की प्रतिक्रिया में क्रोध का क्या स्थान है? क्या वह आवश्यक है? यदि आवश्यक है, तो अत्याचार के प्रति या अत्याचारी व्यक्ति के प्रति अथवा उस समाज या सिद्धांत के प्रति, व्यक्ति में जिसकी अभिव्यक्ति हुई है? इन व्यावहारिक प्रश्नों की भी उन्होंने छान-बीन नहीं की। इस कारण हम उन्हें लोक-धर्म के आदर्श का पुजारी उसके महाकाव्योचित उदात्त स्वरूप का भक्त भले ही मान लें, लोक-धर्म का दार्शनिक विवेचक उन्हें बहुत ही स्थूल अर्थ में कहा जा सकता है।

'रामचरित-मानस' आदर्श-प्रधान काव्य है और उसकी राम-राज्य की कल्पना तो एकदम ही स्वर्गीय है। उसमें समाज के व्यावहारिक स्वरूपों और अवश्यम्भावी परिवर्तनों को कहीं भी स्थान नहीं। राम-राज्य का वर्णन और कलियुग का वर्णन एक साथ पढ़ने पर मध्यकालीन समाज-व्यवस्था के सद्गुणों और दुर्गुणों का औसत लगाया जा सकता है। उससे हमें भी पता लगता है कि धर्म और अधर्म के अन्तर्गत समाज में किस प्रकार की रीतियाँ प्रचलित हो रही थीं। तत्कालीन सामाजिक व्यवस्था के अध्ययन के लिए गोस्वामीजी ने अच्छी सामग्री एकत्र कर दी है। किन्तु शुक्ल जी ने राम-राज्य को राम-राज्य (सत्) और कलियुग को कलियुग (असत्) कहकर उन्हें विरोधी शिविरों में स्थान दे दिया है। कोई भी आधुनिक समाज-शास्त्री अथवा इतिहास का अध्येता इतनी आसानी से इस सारी सामग्री को किनारे नहीं लगा सकता जिस आसानी से शुक्ल जी ने उसे चलता कर दिया है। इन सब निदर्शनों से मैं जिस निष्कर्ष पर पहुँचता हूँ वह यह है कि शुक्लजी का विवेचन न तो प्राचीन दार्शनिक पद्धति का अनुसरण करता है और न वे उस प्रकार के सांस्कृतिक और समाज-शास्त्रीय अध्ययन में प्रवृत्त ही हुए हैं जो आज की आलोचना का आवश्यक अंग है।

यह तो हुई दार्शनिक, मनोवैज्ञानिक और सांस्कृतिक अध्ययन की बात, जहाँ तक काव्य-विवेचन का प्रश्न है शुक्ल जी ने सर्वथा असङ्ग होकर काव्य को नहीं देखा, व्यक्तिगत आदर्शों और विचारों की छाया से उसे ढक रखा है। मुक्तक काव्य,

गीत आदि के प्रति उनके विरोधी संस्कारों का अभास हम ऊपर दिखा चुके हैं। काव्य के आकार-प्रकार, उसमें निहित मानव-व्यापार के बाह्य स्वरूपों, वर्गीकरणों आदि से पृथक् करके केवल काव्योत्कर्ष की परख उन्होंने नहीं की। ऐसा उनका मन्तव्य है, यह भी प्रकट नहीं होता। इसीलिए उनका दार्शनिक अनुसंधान, उनका काव्य-विवेचन और उनका सारा विचारात्मक साहित्य उनकी व्यक्तिगत रुचियों और प्रेरणाओं से ऊपर उठकर वैज्ञानिक श्रेणी में नहीं पहुँच सका।

फिर भी अपने युग के लिए शुक्ल जी की साहित्यिक देन कितनी जबर्दस्त है। इसका अनुमान इतने से ही किया जा सकता है कि यद्यपि वे प्राचीन दार्शनिक मान्यताओं के विपरीत निर्देश करते आए हैं किन्तु आज भी वे उस काल के काव्य के प्रामाणिक विवेचक माने जाते हैं और उनकी देख-रेख में प्राचीन अनुसन्धान का कार्य भी होता रहता है (मेरा मतलब यहाँ प्राचीन काव्य के अनुसन्धान से है)। और यह भी उन्हीं के व्यक्तित्व का परिणाम है कि नवीन समुन्नत काव्य को अपना पैर जमाने के लिए (शुक्ल जी के विरोध के बावजूद) लगातार पन्द्रह वर्षों तक अथक उद्योग करना पड़ा है। आज भी स्थिति यह है कि साहित्य और उसके आनु-षंगिक विषयों पर अध्ययन के अधिक प्रशस्त रास्ते खुल जाने पर भी अब तक शुक्ल जी ही साहित्य में अंतिम वाक्य माने जाते हैं। यह सब मैं उनकी प्रशंसा में ही कह रहा हूँ। उनकी लिखी हुई पुस्तकें और उनके तैयार किये हुए विद्यार्थी (जिनमें मैं भी एक होने का गर्व करता हूँ) उनका सन्देश स्कूलों और कालेजों, पत्रों और पत्रिकाओं तथा व्यापक रूप से हिन्दी के क्षेत्र में सुनाया करते हैं। इनमें से बहुत-से उनकी प्रतिध्वनि-मात्र हैं, शुक्लजी के द्वारा हिन्दी का बड़ा हित-साधन हुआ है। गम्भीर विवेचन का उन्होंने ही सूत्रपात किया। कुछ लोग उनकी बातों को दोहराने में ही उनका सच्चा शिष्यत्व समझते हैं। किन्तु प्रतिध्वनि कभी मूलध्वनि की बराबरी नहीं कर सकती। उनका सच्चा शिष्यत्व तो है उनके किये हुए काम को आगे बढ़ाने में, जिस प्रकार स्वयं उन्होंने पिछले किये हुए काम को आगे बढ़ाया। नई काव्य-प्रगति को 'ब्लेंक-चैक' न देकर शुक्लजी ने उसके परिष्कार के कार्य में और उसके बल-संचय में प्रकारान्तर से सहायता ही पहुँचाई। कोई भी व्यक्ति, जिस पर साहित्य का कुछ उत्तरदायित्व है, प्रत्येक नवागत काव्य-धारा में बह जाना पसन्द नहीं कर सकता। शुक्ल जी ने भी इस संबंध में पूर्ण संयम का परिचय दिया। अब आवश्यक यह है कि नई काव्य-शैलियों और नवीन प्रतिभा के अध्ययन और विवेचन के लिए साहित्य का द्वार खोल दिया जाय, युग विशेष के बंधनों और साहित्यिक मान्यताओं को सार्वजनीन माप से बदल दिया जाय, नई सामाजिक प्रगति, नवीन समस्याओं और प्रश्नों के

अनुरूप नये साहित्यिक सृजन और नवीन अध्ययन-शैलियों का स्वागत किया जाय। इसमें तो सन्देह हो क्या है कि इस स्वतंत्रता के साथ-साथ अनीप्सित उच्छृंखलता भी साहित्य में आयगी और बहुमुखी अध्ययन के साथ बहुत-सा वितण्डावाद भी फैलेगा, किंतु इसके लिए हमें तैयार रहना होगा। कड़ा पहरा देना होगा, किंतु द्वार हम नहीं बंद कर सकते। द्वार बंद करने का अर्थ तो होगा साहित्य को पुराने वातावरण में घुट-घुटकर मरने देना। ऐसा हम कदापि नहीं कर सकते। साहित्य हमारे जीवन का, हमारे प्राणों का प्रतिनिधि है। उसे नवीन जीवन से, नये वायु-मण्डल से पृथक् नहीं रखा जा सकता। जो मुसीबतें आयें उन्हें झेलना होगा, किन्तु जीवन की गति अवरुद्ध नहीं की जा सकती। भिक्षुक आयंगे इस भय से भोजन बनाना नहीं बन्द किया जा सकता। जानवर चर जायंगे इस भय से खेती करना नहीं छोड़ा जाता। ये पुरानी कहावतें हैं और हमारे साहित्य में भी लागू होती हैं।

साहित्य, काव्य अथवा किसी भी कला-कृति की समीक्षा में जो बात हमें सदैव स्मरण रखनी चाहिए, किन्तु जिसे शुक्ल जी ने बार-बार भुला दिया है, यह है कि हम किसी पूर्व-निश्चित दार्शनिक अथवा साहित्यिक सिद्धांत को लेकर उसके आधार पर कला की परख नहीं कर सकते। सभी सिद्धांत सीमित हैं, किन्तु कला के लिए कोई भी सीमा नहीं है। कोई बन्धन नहीं है जिसके अन्तर्गत आप उसे बाँधने की चेष्टा करें। (सिर्फ सौंदर्य ही उसकी सीमा या बन्धन है, किन्तु उस सौंदर्य की परख किन्हीं सुनिश्चित सीमाओं में नहीं की जा सकती।) इसका यह मतलब नहीं कि काव्यालोचक अपनी आलोचना में कुछ निष्कर्षों तक नहीं पहुँच सकता, मतलब यह है कि आलोचक अपनी आलोचना के पहले किसी निष्कर्ष विशेष का प्रयोग नहीं कर सकता। उसका पहला और प्रमुख कार्य है कला का अध्ययन और उसका सौन्दर्यानुसन्धान। इस कार्य में उसका व्यापक अध्ययन, उसकी सूक्ष्म सौन्दर्य-दृष्टि और उसकी सिद्धांत-निरपेक्षता ही उसका साथ दे सकती है, सिद्धांत तो उसमें बाधक ही बन सकते हैं। अवश्य प्रत्येक कला-वस्तु में सौंदर्य-सज्जा के अलग-अलग भेद होंगे, उनकी भिन्न-भिन्न कोटियाँ होंगी और सम्भव है उन कृतियों के भिन्न-भिन्न दार्शनिक आधार भी हों, किन्तु हमारा काम यह नहीं है कि अपनी अलग रुचि और अलग मत बनाकर हम काव्य-समीक्षा में प्रवृत्त हों, क्योंकि तब तो हम उसका सौन्दर्य न देखकर अपने मन की छाया उसमें देखने लगेंगे। यह कला आलोचना की बहुत बड़ी बाधा है। हमें यह कभी नहीं भूलना होगा कि किसी भी सिद्धान्त के सम्बन्ध में कभी मतैक्य नहीं हो सकता, किन्तु (कलाकृति के) सौंदर्य के सम्बन्ध में कभी दो रायें नहीं हो सकतीं।

शुक्ल जी का पहला ही सिद्धांत-जगत् अव्यक्त की अभिव्यक्ति है और काव्य उस अभिव्यक्ति की अभिव्यक्ति-कला में स्थूल रूप-चित्रण का पृष्ठपोषक बन गया है। क्या मैं पूछ सकता हूँ कि सारा-का-सारा सूफी काव्य क्या है? रास आदि अनुपम लीलाओं का वैष्णव कवि-कृत चित्रण क्या है? संसार की सुप्रसिद्ध 'मेडोना' की मूर्ति, जिसके प्रतीक, जिसकी मुद्राएं, जिसके रङ्ग सभी अलौकिक तत्त्व का निर्देश करते हैं, क्या है? क्या यह अलौकिक तत्त्व उसमें अभिव्यक्ति का विषय नहीं बन सका? संसार का समुन्नत काव्य अलौकिक तत्त्व को व्यञ्जित करता है। (यही हमारे यहाँ के इस सिद्धांत का निरूपण है) किन्तु शुक्ल जी जिस सिद्धांत-विशेष से आबद्ध हैं, उसमें इन मार्मिक अनुभूतियों के लिए सम्भवतः स्थान ही नहीं है, वहाँ स्थान है महाकाव्य के व्यक्त घटना-क्रम, स्थूल चरित्र-सृष्टि और आदर्श-निरूपण के लिए। शुक्ल जी ने इस प्रकार काव्य के बृहद् अंश और अत्यंत उत्कृष्ट अंश को अपने सिद्धान्त की वेदी पर बलि कर दिया है। मैं यह नहीं कहता कि अव्यक्तवाद ने सदैव उत्कृष्ट कला की ही सृष्टि की है (किसी भी वाद की सब सृष्टियाँ एक-सी नहीं होतीं), किन्तु कुछ सर्वोच्च कोटि की सृष्टियाँ अव्यक्त तत्त्व से अनुप्रेरित अवश्य हुई हैं। काव्य और कलाओं के प्रेमी इस तथ्य से अच्छी तरह परिचित हैं।

और उनका दूसरा सिद्धान्त—जीवन की विस्तृत व्यवहार-दशाओं में कला का पूर्ण प्रस्फुटन—यह केवल घटना परिस्थिति-बहुल महाकाव्य के ही अनुकूल है। किन्तु कथानक-काव्य में कितना रस कथा का है और कितना वास्तविक काव्य का, इसकी भी हमें टोह लगानी होगी। प्रायः ऐसा देखा जाता है कि कथा से अथवा कथा-सूत्र से ही भावों को उच्छ्वसित करने की प्रथा कविजन पकड़ लेते हैं, किन्तु वास्तविक कवि-कर्म इतना ही नहीं है। मनोवेगों का जो उत्थान और काव्य-चरित्रों का जो निर्माण केवल कथा या घटना के सहारे होता है, वह उतना समृद्ध नहीं बन सकता जितना उससे तटस्थ होने पर। चरित्रों का मनोवैज्ञानिक विकास किसी पूर्व-निश्चित कथा के आश्रय से नहीं कराया जा सकता। मन एक स्वतन्त्र वस्तु है, उसकी सूक्ष्म गतियों का निरूपण करना भी कवि का ही काम है। किन्तु इस काम को वह कथा को प्रधानता देकर नहीं कर सकता। शुक्लजी ने महाकाव्य के साथ एक और पंख लगा दिया है—नायक में शक्ति, शील और सौन्दर्य की पराकाष्ठा। अवश्य यह परम्परागत महाकाव्य का लक्षण हो सकता है (नायक का धीरोदात्त होना), किन्तु कोई भी काव्य किसी नियम से बाँधा नहीं जा सकता। फ्रान्सीसी और रूसी क्रान्ति की प्रेरणाओं से बहुत-सी साहित्य-सृष्टियों के नायक कुरूप और दुःशील हैं फिर भी उनके प्रति पाठक की परिपूर्ण सहानुभूति प्राप्त होती है। और शक्ति के सम्बन्ध में

यह कहना अधिक असंगत न होगा कि केवल सुखान्त काव्यों के नायक शक्ति के पूर्ण स्रोत हुआ करते हैं। शेक्सपियर के दुःखान्त महानाटकों की अबला नायिकाएं अपनी निःशक्तता, अपनी विवशता में ही शक्ति का उत्फुल्ल विकास दिखा देती हैं। उन्हें देखने के बाद कौन कह सकता है कि शक्ति, शील और सौन्दर्य की पराकाष्ठा कला का कोई अनिवार्य अङ्ग है। अवश्य रामचरितमानस के नायक में ये तीनों अवयव उपस्थित हैं, किन्तु इसी कारण हम सर्वत्र इन्हीं का अन्वेषण करें यह भ्रान्ति काव्यालोचना से दूर हो जानी चाहिए।

शुक्लजी का एक तीसरा सिद्धान्त, जो इसी से सम्बद्ध है, प्रवृत्ति और निवृत्ति का सिद्धान्त है। उसकी दार्शनिक परीक्षा का प्रयास ऊपर किया जा चुका है। काव्य में इस प्रवृत्ति और निवृत्ति का स्वरूप हमें रामचरितमानस के आदर्शों को लेकर देखने को मिलता है। राम का चरित्र जहाँ तक है वहाँ तक हमारी प्रवृत्ति है, रावण का चरित्र जहाँ तक है वहाँ तक निवृत्ति है। उसे हम छोड़ना चाहते हैं। जो वृत्ति हमें राम की ओर लगाती और रावण से अलग करती है वही रागात्मिका वृत्ति है। जहाँ ऐसे दो विरोधी चरित्रों का प्रश्न हो वहाँ तो इससे काम चल जाता है। किन्तु काव्य में ऐसे भेद सर्वत्र देखने को नहीं मिलते। ऐसे अनेक अवसर आते हैं जब हम यह निर्णय भी नहीं कर पाते कि दो पात्रों में कौन हमारी सहानुभूति का अधिक अधिकारी है और रचयिता के लिए तो सभी पात्र एक-से महत्त्वपूर्ण हैं। सभी में उसका कौशल व्यक्त हुआ है। ऐसी अवस्था में प्रवृत्ति और निवृत्ति का रूढ़िबद्ध विभाजन अशेष मानव-जीवन का सीमा-निर्धारण करना ही होगा; जिसका समर्थन आज की साहित्य-मीमांसा किसी प्रकार नहीं कर सकती।

काव्य में प्रकृति के चित्रण-सम्बन्धी शुक्लजी की धारणा और ग्रियर्सन-अनुयायी उसके मानवादर्शवाद के प्रति दो शब्द कहकर हम इस प्रसंग को समाप्त करेंगे। मानव-जीवन के पुराने सहचर वृक्ष, लता, पगडण्डी, पटपर, लम्बे मैदान, लहराती जल-राशि, वर्षा की झड़ी, कोई पालतू या जंगली पशु हमारी सोई हुई चेतना को जगाने में बहुत समर्थ हैं। अपेक्षाकृत नई चीजें जैसे आज की इमारतें, पार्क, मिल आदि इस कार्य में उतने ही सबल सिद्ध नहीं हो सकते। शुक्लजी का यह कथन एक स्वतन्त्र रचनाकार की हैसियत से समुचित हो सकता है, किन्तु कला की आलोचना में ऐसा कोई सिद्धान्त लागू नहीं होता। किस रचनाकार ने किन परिस्थितियों से प्रभावित होकर अपनी रचना की है, वह कितनी गहरी सहानुभूति उत्पन्न करती है इसकी तो वह कृति ही प्रमाण है। इसके सम्बन्ध में न तो हम कोई सीमा पहले से बाँध सकते हैं और न कोई नियम ही बना सकते हैं। अवश्य शुक्लजी की रुचि के

अनुकूल प्रकृतिवादियों की एक परम्परा साहित्य में पाई जाती है, किन्तु उसमें भी सभी कलाकार एक श्रेणी के नहीं हुए। प्राकृतिक चित्रणों में शुक्लजी वाल्मीकि को अपना आदर्श मानते हैं। अवश्य ही वाल्मीकि की प्राकृतिक वर्णना हृदय-हारिणी है। अवश्य ही यह काव्य की एक उत्तम विभूति है। किन्तु आज का साहित्य-सृष्टा जिन परिस्थितियों से होकर गुज़र रहा है, उसमें यह आशा हमें नहीं दिखाई देती कि वह निकट भविष्य में वन्य प्रकृति की रमणीयता की ओर उसी सहज गति से आकर्षित होगा जिससे वाल्मीकि हुए हैं। आज की हमारी समस्याएं और आज का हमारा जीवन हमें उस ओर जाने का अवकाश ही नहीं देता।

ग्रियर्सन साहब ने 'रामचरितमानस' की समीक्षा करते हुए यह कहा है कि मानस में राम-जैसे उदात्त पात्र की अपेक्षा लक्ष्मण और कैकेयी-जैसे मानवीय पात्रों का चित्रण आकर्षक हुआ है। शुक्लजी ने भी इस विषय में ग्रियर्सन का साथ दिया है। अवश्य, एक दृष्टि से इसे हम ठीक भी मान सकते हैं, किन्तु तब हमें रामचरितमानस के महाकाव्योचित गौरव की ओर से आँखें हटा लेनी पड़ेंगी और मानवीय चरित्र-चित्रण की दृष्टि से काव्य को देखना पड़ेगा। किन्तु क्या रामचरितमानस का प्रमुख तात्पर्य मानवीय चारित्र का प्रदर्शन करना है? इसे तो कोई भी मानस-समीक्षक स्वीकार न करेगा। गोस्वामी जी ने बहुत ही स्पष्ट शब्दों में, स्थान-स्थान पर स्वयं ही अपने काव्य का उद्देश्य राम के अलौकिक चरित्र का निर्माण और उनके गुणों का गान करना बताया है। तो क्या हम उनके इस उद्देश्य की उपेक्षा कर सकते हैं अथवा यह कह सकते हैं कि गोस्वामीजी अपने उद्देश्य में सफल नहीं हुए। मेरे विचार से ऐसा कहना बहुत बड़ी धृष्टता होगी। वैसी अवस्था ग्रियर्सन की मानवादर्शवादिता को छोड़कर रामचरितमानस काव्य की मुख्य कला—अलौकिक रामचरित के निर्माण के प्रति आस्था नहीं खोनी होगी और उन समस्त कलात्मक सूत्रों को एकत्र करना होगा जिनसे तुलसी के मानस में अङ्कित राम का चरित्र अलौकिक पद पर पहुँच सका है—चरित्र की दृष्टि से भी और कला की दृष्टि से भी परिपूर्ण और सर्वोत्तम बन पाया है।

इसके लिए हमें ग्रियर्सन की मानवादर्शवादिता के बदले गोस्वामी जी और वैष्णव-काव्य की आध्यात्मिकता को अपनाना होगा जो शुक्लजी ने नहीं किया। अन्त में हम फिर कहेंगे कि शुक्लजी की सारी विचारणा द्विवेदी-युग की व्यक्तिगत, भावात्मक और आदर्शोन्मुख नीतिमत्ता पर स्थित है। समाज-शास्त्र, संस्कृति और मनोविज्ञान की वस्तून्मुखी मीमांसा उन्होंने नहीं की है। प्रवृत्ति-विषयक उनकी धारणा भारतीय धार्मिक धारणा की अपेक्षा पाश्चात्य अधिक है। उनका काव्य-विवेचन भी प्रबंध-

कथानक और जीवन-सौंदर्य के व्यक्त रूपों का आग्रह करने के कारण सर्वाङ्गीण और तटस्थ नहीं कहा जा सकता। नवीन युग की सामाजिक और सांस्कृतिक जटिलताओं का विवेचन और उनसे होकर बहने वाली काव्य-धारा का आकलन हम शुक्ल जी में नहीं मानते। यह स्वाभाविक ही है, क्योंकि शुक्ल जी जिस युग के प्रतिनिधि हैं, उसे हम पार कर चुके हैं। उस युग के सारे संस्कार शैशव कालीन आदर्शवादिता, व्यक्त रूपों का सौंदर्य, आचारों का दो हिस्सों में विभाजन आदि—हमें शुक्लजी में मिलते हैं। वे हमारी साहित्य-समीक्षा के बालारुण हैं। किंतु दिन अब चढ़ चुका है और नये प्रकाश तथा नई ऊष्मा का अनुभव हिंदी-साहित्य-समीक्षा कर रही है।

९. शुक्लजी का रस-सिद्धांत

श्री शिवनाथ

भारतीय समीक्षकों ने काव्य वा साहित्य का चरम लक्ष्य रसानुभूति माना है और उस पर अनेक दृष्टियों से विचार किया है। अभारतीय समीक्षक भी प्रस्थानभेद से अन्ततः इसी लक्ष्य तक पहुँच रहे हैं। आचार्य शुक्ल ने भी रस पर अपने ढंग से विचार करके उसके विषय में कुछ मौलिक वा उपज्ञात (ओरिजनल) सिद्धान्त-स्थापना की है। इस क्षेत्र में आचार्य शुक्ल का यह अधिकारपूर्ण कार्य हिन्दी को भारतीय साहित्य की चिन्तन-परम्परा से जोड़ता है। रस-मीमांसा के क्षेत्र में आचार्य शुक्ल की मौलिकता से तात्पर्य रसानुभूति के विषय में उनके विचार, उसके आलंबन वा सीमा के विस्तार-प्रसार तथा तत्सम्बन्धी अन्य बातों से है। रसानुभूति में सहायक उसके (रस के) अवयवों—आश्रय, आलंबन, अनुभाव, उद्दीपन, आदि—को उन्होंने भी माना है। अभिप्राय यह कि रस के विषय में आचार्य शुक्ल का आधार तो प्राचीन ही है, पर उसकी प्रक्रिया, प्रसार आदि पर उनके विचार कुछ नवीन हैं।

रस-मीमांसा

आचार्य शुक्ल उन समीक्षाकारों में से हैं जो साहित्य की अपनी स्वतंत्र सत्ता मानते हैं और उसे दर्शन, विज्ञान आदि बुद्धि से संबद्ध विषयों के या तो समकक्ष प्रतिष्ठित करते हैं या उनसे बढ़कर घोषित करते हैं। साहित्य वा काव्य का सम्बन्ध प्रधानतः हृदय से है और दर्शन का बुद्धि से। एक भाव-क्षेत्र की वस्तु है, जिसका आधार है हृदय; और दूसरी ज्ञान-क्षेत्र की, जिसका आधार है बुद्धि। काव्य और दर्शन के चरम लक्ष्य की एकता के कारण वे इन्हें एक ही श्रेणी में रखते हैं। वे कविता को एक साधना मानते हैं, जो हृदय को मुक्तावस्था तक पहुँचाती है और इस साधना को 'भाव योग' कहते हैं तथा इसे ज्ञान योग और कर्म योग के समकक्ष रखते हैं, क्योंकि अंतिम दोनों

काव्य और दर्शन

योगों का लक्ष्य भी कविता की भाँति अंततः मुक्ति ही निरूपित किया जाता है।—(देखिए 'चिंतामणि' पृष्ठ १९३)। उनकी धारणा है कि जिस प्रकार ज्ञान को चरम सीमा ज्ञाता और ज्ञेय की एकता समझी जाती है उसी प्रकार काव्य की चरम सीमा भी आश्रय और आलंबन की एकता हो है। अभिप्राय यह है कि जो ज्ञान-क्षेत्र में ज्ञाता और ज्ञेय है वही भाव-क्षेत्र में आश्रय और आलंबन, दोनों अपनी-अपनी परिमिति में रहकर अंततः एक ही लक्ष्य तक पहुँचते हैं, अतः लक्ष्य की दृष्टि से काव्य और दर्शन एक ही हैं।—(देखिए 'गोस्वामी तुलसीदास' पृष्ठ ९८) इस प्रकार काव्य वा साहित्य तथा दर्शन की एकता का प्रतिपादन करके आचार्य शुक्ल ने साहित्य का पक्ष स्पष्ट कर दिया है। कहना न होगा कि उन्होंने इनकी एकता की स्थापना उन दार्शनिकों वा ज्ञानियों की इस व्यवस्था के कारण ही की है जो काव्य को दर्शन वा ज्ञान-क्षेत्र के लक्ष्य में बाधक समझते हैं। काव्य पढ़ने का निषेध कई दार्शनिकों, ज्ञानियों वा धर्माचार्यों ने किया है, इसे सभी जानते हैं। वे इसे केवल विलास की वस्तु समझते हैं। पर वस्तुतः बात ऐसी नहीं है, दोनों का लक्ष्य सात्विक है। यहाँ हमारा प्रतिपाद्य यही है कि आचार्य शुक्ल लक्ष्य की दृष्टि से दर्शन और काव्य को एक मानते हैं। दर्शन पर तो हमें विचार करना नहीं है, विचार करना है केवल काव्य पर, जिसका चरम लक्ष्य है रसानुभव, जो आश्रय और आलंबन की एकता का मुख्य विषय है।

रस का क्षेत्र काव्य

भारत के प्रचीन साहित्याचार्यों ने काव्य—विशेषतः दृश्यकाव्य—को लेकर ही रस-मीमांसा की है। इसका एक कारण तो यह है कि वे काव्य के अंतर्गत ही प्रायः साहित्य-मात्र का ग्रहण कर लेते थे। दूसरा कारण यह है कि वर्तमान गद्य-युग के पूर्व भारत में काव्य का ही निर्माण प्रधानतः होता रहा; अतः आचार्यों के संमुख लक्ष्य-रूप में काव्य ही था। रस-निरूपण करते हुए आचार्य शुक्ल ने भी काव्य को ही लक्ष्य में रखा है। वस्तुतः बात यह है कि काव्य की संक्षिप्त परिमिति में रसावयवों की योजना, उसकी परिपक्वता के स्पष्ट निर्देश तथा प्रभावात्मकता के कारण उसे ही इस कार्य की सिद्धि के लिए दृष्टि-पथ में रखा जाता है। अभिप्राय यह है कि रस का संबंध काव्य से ही माना जाता रहा है और इस विषय में साहित्यकारों की धारणा अब भी ऐसी ही है। काव्य ही वह भूमि है जहाँ पहुँचने पर रसानुभूति होती है। प्रश्न उठता है, उस काव्य-भूमि का स्वरूप क्या है, जो रसानुभूति का आधार है। काव्य के विषय में आचार्य शुक्ल की सदैव यही धारणा रही है कि वह ऐसी साधना है जिसके द्वारा शेष सृष्टि के साथ मानव के

काव्य-कला तथा कल्पना के घनिष्ठ सम्बन्ध का प्रतिपादन साहित्य-मीमांसक बहुत दिनों से करते चले आ रहे हैं। इनका सम्बन्ध उतनी ही दूर तक समझना चाहिए जहाँ तक कल्पना काव्य के साधन के रूप में ग्राह्य हो।

कल्पना

काव्य-कला तथा कल्पना के घनिष्ठ संबंध से हमारा तात्पर्य कल्पनावादियों द्वारा प्रतिपादित मत से नहीं है, जो इसको ही लेकर एक अतिवाद (एक्स्ट्रीमिज़्म) की स्थापना करना चाहते हैं। यह हमें विदित है कि आचार्य शुक्ल भी कल्पना को काव्य के प्रमुख साधन के रूप में ही स्वीकार करते हैं। रसात्मक प्रतीति की भूमि कविता ही है, अतः इसके लिए भी कल्पना की अपेक्षा होती है, ऐसी कल्पना की जो भाव-प्रेरित और मार्मिक रूप-विधायिनी होती है, कोरी-ही-कोरी और निराली दुनिया खड़ी करने वाली नहीं। रसात्मक प्रतीति में और अन्यत्र भी कल्पना का जो स्वरूप आचार्य शुक्ल स्थिर करते हैं वह यही है। यहीं इसका भी निर्देश कर देना आवश्यक है कि रसानुभूति की सृष्टि करने के लिए काव्यकार कवि में और उसका ग्रहण वा आस्वादन करने के लिए पाठक वा श्रोता में भी कल्पना की स्थिति वांछनीय है। पूर्ण वा सच्ची रसानुभूति के लिए कवि की विधायिनी कल्पना की समानधर्मिणी श्रोता वा पाठक की ग्राहिका कल्पना की भी आवश्यकता है। आचार्य शुक्ल की भी ऐसी ही धारणा है।

मुनिवर भरत ने अपने 'नाट्य-शास्त्र' में विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भाव के संयोग से रस-निष्पत्ति की मान्यता स्वीकार की है[१]। यहाँ इससे हमारा तात्पर्य केवल इतना ही है कि रसानुभूति की सृष्टि में ये तीन अवयव जुड़ते हैं, जिनमें प्रथम दो प्रधान हैं। विभाव के अन्तर्गत आश्रय तथा आलंबन और उनकी चेष्टाएँ अर्थात् उद्दीपन तथा आश्रय और अनुभाव के अंतर्गत भाव के आश्रय की चेष्टाएँ आती हैं।

आश्रय तथा आलंबन; अनुभाव तथा उद्दीपन

अभिप्राय यह है कि रस-निष्पत्ति वा रसानुभूति के लिए कवि को आलंबन और उद्दीपन तथा आश्रय और अनुभाव का विधान करना पड़ता है। विभाव अर्थात् आश्रय और आलम्बन के अंतर्गत 'शेष सृष्टि' के अनेक रूप और व्यापार आते हैं। आश्रय की चेष्टाएँ अनुभाव की व्यंजना वा उनका प्रकटीकरण दो रूपों में दिखाई पड़ता है, एक तो आश्रय में भावोत्पत्ति के फलस्वरूप उसकी चेष्टाओं के रूप में, जिसका क्षेत्र अति परिमित है, और दूसरे उसमें भावोत्पत्ति के फलस्वरूप वाचिक रूप में, जिसकी सीमा—वाणी की अनंतता के कारण— अति विस्तृत है। आचार्य शुक्ल का कथन

---

१ विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः

है कि विभाव के इन सभी रूपों व अवयवों के विधान के लिए कवि में कल्पना की आवश्यकता होती है (देखिए चिन्तामणि, पृष्ठ २६०--२६१), क्योंकि काव्य-रचना-काल में विभाव कवि की आँखों के संमुख उपस्थित नहीं रहता, वह इनका विधान अन्त:साक्षात्कार की सहायता से, जिन्हें पहले देख और सुन चुका रहता है, कल्पना द्वारा ही करता है। रूप-व्यापार-विधान में भी उसे कल्पना का साहाय्य ग्रहण करना पड़ता है और वाणी-विधान में भी। आचार्य शुक्ल की धारणा है कि इस विधान में कल्पना की प्रधानता के कारण ही भारतीय प्राचीन साहित्य-शास्त्रियों ने कल्पित रूप-विधान में ही रसानुभूति का प्रतिपादन किया है: "रूपों और व्यापारों के प्रत्यक्ष बोध और उससे सबद्ध वास्तविक भावानुभूति की बात अलग ही रखी गई।"—(देखिए चिन्तामणि, पृष्ठ ३३३)। आचार्य शुक्ल प्रत्यक्ष रूप-विधान और स्मृत रूप-विधान में भी रसानुभूति मानते हैं, जिन पर यथास्थान विचार किया जायगा।

रसानुभूति और कल्पना के रहस्य के साथ ही एक बात और अवलोकनीय है। वह यह कि रसात्मक बोध की प्रक्रिया में भाव तथा ज्ञान दोनों के समन्वित कार्य की अपेक्षा होती है, केवल कल्पना की ही आवश्यकता नहीं पड़ती।

रस-बोध में भाव तथा ज्ञान का समन्वित कार्य

बात यह है कि रस-बोध के लिए प्रधान आवश्यक अवयव आलंबन की योजना है, जिसको पहले ज्ञानेन्द्रियाँ ही उपस्थित करती हैं और तत्पश्चात् इनके द्वारा उपस्थित आलंबन-सामग्री को लेकर कल्पना वा भावना इनका रसात्मक विधान करती है। इस प्रकार आलंबन के मार्मिक विधान में ज्ञान और भाव—बुद्धि और हृदय—दोनों का योग रहता है। आचार्य शुक्ल का मत है—"भावों के लिए आलंबन आरम्भ में ज्ञानेन्द्रियाँ उपस्थित करती हैं, फिर ज्ञानेन्द्रियों द्वारा प्राप्त सामग्री से कल्पना उनकी योजना करती है। अतः यह कहा जा सकता है कि ज्ञान ही भावों के संचार के लिए मार्ग खोलता है। ज्ञान-प्रसार के भीतर ही भाव-प्रसार होता है।"—(काव्य में रहस्यवाद, पृष्ठ ७७, और देखिए चिन्तामणि, पृष्ठ २१३) यदि विचारपूर्वक देखा जाय तो विदित होगा कि हमारे सभी कार्यों का प्रथम प्रयास ज्ञानात्मक ही होता है। जब हम किसी कार्य में—चाहे वह ज्ञानात्मक हो चाहे भावात्मक—बुद्धिपूर्वक प्रवृत्त होते हैं तभी उसमें सफलता प्राप्त होती है। अतः रसात्मक आलंबन के विधान में प्रथमतः ज्ञानेंद्रियाँ ही प्रवृत्त होती हैं। और तब हृदय का व्यापार आरम्भ होता है। रसानुभूति में ज्ञान की भी आवश्यकता के कारण ही इस क्षेत्र में दार्शनिकों ने भी अपनी धारणाओं के अनुसार कार्य किया है; और इसे वे पूर्णता की ओर ले गए हैं।

इतने विवेचन से यह स्पष्ट है कि रसानुभूति में विभाव-पक्ष की ही प्रधानता है और इसको प्रस्तुत करने के लिए ज्ञान और कल्पना की आवश्यता पड़ती है। आलम्बन के विषय की चर्चा भी हम कर चुके हैं। अब देखना है कि रसानुभूति के लिए कवि आलंबन का विधान किसमें करे, वह कैसा आलंबन खड़ा करे कि रसानुभूति हो। आचार्य शुक्ल के काव्य-सिद्धान्तों की विवेचना करते हुए हम देख चुके हैं कि वे काव्य का लक्ष्य बिंब-ग्रहण कराना मानते हैं; अर्थ-ग्रहण कराना-मात्र नहीं। और बिंब वा मूर्ति जब होगी तब विशेष व्यक्ति वा वस्तु की ही होगी, सामान्य वा जाति-मात्र की नहीं। बात यह है कि कवि को प्रभावात्मकता व मार्मिकता, जो रसानुभूति के स्तर तक पहुँचाने वाला तत्त्व है, उत्पन्न करने के लिए काव्य में चुने हुए रूप-व्यापार की योजना करनी पड़ती है। चुनाव करते समय उसके सम्मुख जाति वा सामान्य रहता तो है, पर वह उसमें से व्यक्ति वा विशेष का ही ग्रहण करता है। इसे यों कहें कि उसके काव्य के रूप-व्यापार व्यक्ति वा विशेष के रूप में आकर जाति वा सामान्य का प्रतिनिधित्व करते हैं। जाति-मात्र के चित्रण के लिए न उसके पास समय और स्थान ही रहता है और न इसकी आवश्यकता ही पड़ती है। आचार्य शुक्ल का कथन है कि जाति वा सामान्य के सिद्धान्त आदि की स्थापना तो तर्क और विधान का काम है, काव्य का नहीं। रसानुभूति के लिए आलंबन प्रस्तुत करने में भी कवि काव्य की बिंब-ग्रहण-प्रणाली से ही काम लेता है, वह आलम्बन-रूप में विशेष का ही चित्र उपस्थित करता है।

रसानुभूति में आलंबन-विधान का रूप

आचार्य शुक्ल की दृष्टि से व्यक्ति-रूप में आलंबन की प्रतिष्ठा के विषय में दो बातें और कहनी हैं। कुछ काव्य ऐसे होते हैं, जिनमें केवल भावों का ही प्रदर्शन या चित्रण होता है। आचार्य शुक्ल इन्हें 'भाव-प्रदर्शक' काव्य कहते हैं। आधुनिक युग के प्रगीत मुक्तक (लीरिक्स) इस प्रकार के काव्य के अच्छे उदाहरण हैं, जिनमें प्रायः भाव की ही व्यंजना की जाती है, विभाव का चित्रण बहुत ही कम रहता है। ऐसे काव्य का अध्ययन करते समय, आचार्य शुक्ल कहते हैं, श्रोता वा पाठक अपनी ओर से आलंबन का आरोप कर लेता है। कहना न होगा कि श्रोता वा पाठक द्वारा आलंबन का आरोप अपनी-अपनी रुचि के अनुकूल व्यक्ति-रूप में ही होगा। कभी-कभी यह होता है कि "पाठक या श्रोता की मनोवृत्ति या संस्कार के कारण वर्णित व्यक्ति-विशेष के स्थान पर कल्पना में उसी के समान धर्म वाली कोई मूर्ति-विशेष आ जाती है।...कहने की आवश्यकता नहीं कि वह कल्पित मूर्ति भी

आलंबन का आरोप और उसका महत्त्व

है कि विभाव के इन सभी रूपों व अवयवों के विधान के लिए कवि में कल्पना की आवश्यकता होती है (देखिए चिन्तामणि, पृष्ठ ३६०--३६६), क्योंकि काव्य-रचना-काल में विभाव कवि की आँखों के संमुख उपस्थित नहीं रहता, वह इनका विधान अन्तःसाक्षात्कार की सहायता से, जिन्हें पहले देख और सुन चुका रहता है, कल्पना द्वारा ही करता है। रूप-व्यापार-विधान में भी उसे कल्पना का साहाय्य ग्रहण करना पड़ता है और वाणी-विधान में भी। आचार्य शुक्ल की धारणा है कि इस विधान में कल्पना की प्रधानता के कारण ही भारतीय प्राचीन साहित्य-शास्त्रियों ने कल्पित रूप-विधान में ही रसानुभूति का प्रतिपादन किया है: "रूपों और व्यापारों के प्रत्यक्ष बोध और उससे सबद्ध वास्तविक भावानुभूति की बात अलग ही रखी गई।"—(देखिए चिन्तामणि, पृष्ठ ३३३)। आचार्य शुक्ल प्रत्यक्ष रूप-विधान और स्मृत रूप-विधान में भी रसानुभूति मानते हैं, जिन पर यथास्थान विचार किया जायगा।

रसानुभूति और कल्पना के रहस्य के साथ ही एक बात और अवलोकनीय है। वह यह कि रसात्मक बोध की प्रक्रिया में भाव तथा ज्ञान दोनों के समन्वित कार्य की अपेक्षा होती है, केवल कल्पना की ही आवश्यकता नहीं पड़ती।

रस-बोध में भाव तथा ज्ञान का समन्वित कार्य

बात यह है कि रस-बोध के लिए प्रधान आवश्यक अवयव आलंबन की योजना है, जिसको पहले ज्ञानेन्द्रियाँ ही उपस्थित करती हैं और तत्पश्चात् इनके द्वारा उपस्थित आलंबन-सामग्री को लेकर कल्पना वा भावना इनका रसात्मक विधान करती है। इस प्रकार आलंबन के मार्मिक विधान में ज्ञान और भाव—बुद्धि और हृदय—दोनों का योग रहता है। आचार्य शुक्ल का मत है—"भावों के लिए आलंबन आरम्भ में ज्ञानेन्द्रियाँ उपस्थित करती हैं, फिर ज्ञानेन्द्रियों द्वारा प्राप्त सामग्री से कल्पना उनकी योजना करती है। अतः यह कहा जा सकता है कि ज्ञान ही भावों के संचार के लिए मार्ग खोलता है। ज्ञान-प्रसार के भीतर ही भाव-प्रसार होता है।"—(काव्य में रहस्यवाद, पृष्ठ ७७, और देखिए चिन्तामणि, पृष्ठ २१३) यदि विचारपूर्वक देखा जाय तो विदित होगा कि हमारे सभी कार्यों का प्रथम प्रयास ज्ञानात्मक ही होता है। जब हम किसी कार्य में—चाहे वह ज्ञानात्मक हो चाहे भावात्मक—बुद्धिपूर्वक प्रवृत्त होते हैं तभी उसमें सफलता प्राप्त होती है। अतः रसात्मक आलंबन के विधान में प्रथमतः ज्ञानेंद्रियाँ ही प्रवृत्त होती हैं। और तब हृदय का व्यापार आरम्भ होता है। रसानुभूति में ज्ञान की भी आवश्यकता के कारण ही इस क्षेत्र में दार्शनिकों ने भी अपनी धारणाओं के अनुसार कार्य किया है; और इसे वे पूर्णता की ओर ले गए हैं।

इतने विवेचन से यह स्पष्ट है कि रसानुभूति में विभाव-पक्ष की ही प्रधानता है और इसको प्रस्तुत करने के लिए ज्ञान और कल्पना की आवश्यता पड़ती है।

रसानुभूति में आलंबन-विधान का रूप

आलम्बन के विषय की चर्चा भी हम कर चुके हैं। अब देखना है कि रसानुभूति के लिए कवि आलंबन का विधान किसमें करे, वह कैसा आलंबन खड़ा करे कि रसानुभूति हो। आचार्य शुक्ल के काव्य-सिद्धान्तों की विवेचना करते हुए हम देख चुके हैं कि वे काव्य का लक्ष्य बिंब-ग्रहण कराना मानते हैं; अर्थ-ग्रहण कराना-मात्र नहीं। और बिंब वा मूर्ति जब होगी तब विशेष व्यक्ति वा वस्तु की ही होगी, सामान्य वा जाति-मात्र की नहीं। बात यह है कि कवि को प्रभावात्मकता व मार्मिकता, जो रसानुभूति के स्तर तक पहुँचाने वाला तत्व है, उत्पन्न करने के लिए काव्य में चुने हुए रूप-व्यापार की योजना करनी पड़ती है। चुनाव करते समय उसके सम्मुख जाति वा सामान्य रहता तो है, पर वह उसमें से व्यक्ति वा विशेष का ही ग्रहण करता है। इसे यों कहें कि उसके काव्य के रूप-व्यापार व्यक्ति वा विशेष के रूप में आकर जाति वा सामान्य का प्रतिनिधित्व करते हैं। जाति-मात्र के चित्रण के लिए न उसके पास समय और स्थान ही रहता है और न इसकी आवश्यकता ही पड़ती है। आचार्य शुक्ल का कथन है कि जाति वा सामान्य के सिद्धान्त आदि की स्थापना तो तर्क और विधान का काम है, काव्य का नहीं। रसानुभूति के लिए आलंबन प्रस्तुत करने में भी कवि काव्य को बिंब-ग्रहण-प्रणाली से ही काम लेता है, वह आलम्बन-रूप में विशेष का ही चित्र उपस्थित करता है।

आचार्य शुक्ल की दृष्टि से व्यक्ति-रूप में आलंबन की प्रतिष्ठा के विषय में दो बातें और कहनी हैं। कुछ काव्य ऐसे होते हैं, जिनमें केवल भावों का ही प्रदर्शन या चित्रण होता है। आचार्य शुक्ल इन्हें 'भाव-प्रदर्शक' काव्य कहते हैं। आधुनिक युग के प्रगीत मुक्तक (लीरिक्स) इस प्रकार के काव्य के अच्छे उदाहरण हैं, जिनमें प्रायः भाव की ही व्यंजना की जाती है, विभाव का चित्रण बहुत ही कम रहता है। ऐसे काव्य का अध्ययन करते समय, आचार्य शुक्ल कहते हैं, श्रोता वा पाठक अपनी ओर से आलंबन का आरोप कर लेता है। कहना न होगा कि श्रोता वा पाठक द्वारा आलंबन का आरोप अपनी-अपनी रुचि के अनुकूल व्यक्ति-रूप में ही होगा। कभी-कभी यह होता है कि "पाठक या श्रोता की मनोवृत्ति या संस्कार के कारण वर्णित व्यक्ति-विशेष के स्थान पर कल्पना में उसी के समान धर्म वाली कोई मूर्ति-विशेष आ जाती है।...कहने की आवश्यकता नहीं कि वह कल्पित मूर्ति भी

आलंबन का आरोप और उसका महत्त्व

विशेष ही होगी—व्यक्ति की ही होगी।"—(चिन्तामणि, पृष्ठ ३१२)। इस प्रकार हम देखते हैं कि आचार्य शुक्ल का काव्य को लेकर बिंब-ग्रहण वाला सिद्धान्त रस-निरूपण में भी पूर्णतः घटित होता है। इस विवेचन से एक और बात लक्षित होती है, वह यह कि रस के अवयवों की नियोजना में आलम्बन का बड़ा महत्त्व है। आचार्य शुक्ल की भी इस विषय में यही धारणा है, वे केवल इसी के चित्रण द्वारा भी रसानुभूति मानने को तैयार हैं। उनका कहना है—"मैं आलम्बन-मात्र के विशुद्ध वर्णन को श्रोता में रसानुभव (भावानुभव सही) उत्पन्न करने में पूर्ण समर्थ मानता हूँ।"—(काव्य में प्राकृतिक दृश्य)।

रस के सभी प्रधान अवयवों पर विचार करने के पश्चात् अब विचार इस पर करना है कि इनके द्वारा रसानुभूति का रहस्य क्या है। रसानुभूति के साधक के रूप में ये क्यों और कैसे उपस्थित होते हैं, अर्थात् रस की प्रक्रिया क्या है। रस-निष्पत्ति वा अनुभूति की प्रक्रिया के विषय में मुनिवर भरत ने केवल इतना ही कहा है कि विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भाव के संयोग से इसकी सृष्टि होती है। इतने से ही विषय का परिपूर्ण उद्घाटन न होने के कारण उनके पश्चात् कई आचार्यों ने, जिनकी संख्या ग्यारह है, अपनी-अपनी धारणाओं के अनुकूल इस पर विचार किया। इन ग्यारह आचार्यों में से चार—भट्ट लोल्लट, शंकुक, भट्ट नायक और अभिनव गुप्तपादाचार्य—के मत विचारणीय हैं। भट्ट लोल्लट की दृष्टि से रस की स्थिति अनुकार्य वा पात्र में होती है, जिसके रूप-रंग, वेश-भूषा, कार्य-कलाप की वर्णिका (रोल) में अभिनेता रंग-मंच पर उपस्थित होता है। दर्शक अनुकार्य का अनुकरणकर्ता अभिनेता में उसके (अनुकार्य के) रूप-व्यापार की नियोजना देखकर उसे (अभिनेता को) ही अनुकार्य के रूप में ग्रहण करता है। इस पर अनुकार्य के भावों की 'उत्पत्ति' अभिनेता में हो जाती है। दर्शक इस अवस्था में चमत्कृत हो जाता है, यद्यपि रस की स्थिति अनुकार्य में होती है, जो अभिनेता के रूप में उपस्थित रहता है। भट्ट लोल्लट का यह मत 'उत्पत्तिवाद' के नाम से प्रचलित है। इस मत का यह पक्ष कि श्रोता, दर्शक वा पाठक में रस की स्थिति नहीं है, ठीक नहीं। भारतीय तथा अभारतीय सभी शिष्ट साहित्य-मीमांसकों की यह मान्यता है कि रसानुभव दर्शक को होता है। पर उत्पत्तिवाद द्वारा यह अवश्य अवगत होता है कि दर्शक को हृदय है और वह—चमत्कार रूप में ही सही—आलंबन-रूप अभिनेता द्वारा कुछ-न-कुछ प्रभावित अवश्य होता है। 'रस की स्थिति अनुकार्य में होती है, अभिनेता जिसका प्रतिनिधि है'—इसका अर्थ यदि यह लिया जाय कि अभिनय के समय अनुकार्य के

रस-प्रक्रिया: भट्ट लोल्लट का मत

रूप, गुण, शील, क्रिया-कलाप आदि की अवतारणा (उत्पत्ति) अभिनेता की पटुतावश उसमें (अभिनेता में) स्वतः हो जाती है, और वह अनुकार्य के रूप में—(दृश्य) काव्य में वर्णित आलंबन के रूप में—उपस्थित होता है; जिसे देख दर्शक चमत्कृत होकर अपने हृदय का रंजन करता है, और 'रंजन' से 'रमना' का अर्थ गृहीत हो, तो इस मत में विशेष आपत्ति की सम्भावना नहीं प्रतीत होती। इस स्थिति में 'रस की स्थिति अनुकार्य में है' का तात्पर्य यह होगा कि वह रस का कारण है।

आचार्य शुक्ल का मत

आचार्य शंकुक ने भी रस-निष्पत्ति के विषय में अपना मत स्थापित किया और वह 'अनुमितिवाद' कहलाया। उन्होंने भी यह प्रतिपादित किया कि रस की स्थिति अनुकार्य में ही होती है, पर अभिनेता द्वारा उसके अनुकरण से रस की 'उत्पत्ति' नट में नहीं होती, प्रत्युत अनुमान से दर्शक उसे (अभिनेता को) ही नायक वा अनुकार्य मानकर चमत्कृत हो आनन्दित होता है। भट्ट लोल्लट और शंकुक के मत में अन्तर यही प्रतीत होता है कि एक रस की उत्पत्ति अभिनेता में मानते हैं और दूसरे 'अनुमिति' से अभिनेता को नायक के रूप में ग्रहण करते हैं। दोनों ही रस की स्थिति अनुकार्य में प्रतिपादित करते हैं। दर्शक में रस की स्थिति दोनों ही नहीं स्वीकार करते। दर्शक के पक्ष में दोनों की धारणाएं समान हैं। अनुमितिवाद के विषय में विचार करने पर विदित होगा कि इसमें दर्शक का पक्ष कुछ अधिक आया, उसमें अनुमान करने की शक्ति मानी गई और तत्पश्चात् चमत्कृत और आनंदित होने की। पर बाधा यह उपस्थित होती है कि रस की स्थिति उनमें नहीं मानी गई, क्योंकि कुशल दर्शक अनुमान से भी रस-कोटि के कुछ निकट पहुँच सकता है। इस वाद के अनुकार्य-पक्ष पर विचार करने से ज्ञात होता है कि उत्पत्तिवाद की भाँति रस का मूल वही (अनुकार्य ही) है, अंतर केवल इतना ही है कि नट की कला द्वारा अनुकार्य के भाव आदि की अवतारणा (उत्पत्ति) उसमें (नट में) होती है और इस वाद में उसके (कला के) प्रदर्शन पर अनुकार्य का उसमें (नट में) अनुमान। उत्पत्ति की प्रक्रिया लघु और अनुमिति की विस्तृत प्रतीत होती है। पर सूक्ष्मतः दोनों का लक्ष्य प्रस्थान-भेद होते हुए भी एक ही निर्धारित किया जा सकता है। दोनों का लक्ष्य आलंबन-रूप अनुकार्य को अनुकर्ता में स्थापित करके दर्शक में चमत्कार द्वारा आनंद की अनुभूति का प्रतिपादन करना है।

रसवाद के यथार्थ स्वरूप की स्थापना इनके पश्चात् के दोनों आचार्यों—

भट्ट नायक और अभिनव गुप्तपादाचार्य—ने की। इन्होंने यह स्थापित किया कि रस की स्थिति अनुकार्य में नहीं, दर्शक, श्रोता वा पाठक में होती है, जो बुद्धि-संगत तथ्य है। यह तो स्पष्ट है कि सभी रस-मीमांसकों के संमुख लक्ष्य-रूप में दृश्यकाव्य था। भट्ट नायक ने रस-निष्पत्ति वा रसानुभूति की प्रक्रिया की पूर्णता के लिए तीन वृत्तियाँ वा शक्तियाँ मानीं, जिनके नाम हैं—अभिधा, भोजक और भोग।

भट्ट नायक, अभिनव गुप्तपादाचार्य तथा आचार्य शुक्ल का मत

अभिनव गुप्तपादाचार्य ने भट्ट नायक की अन्तिम दो वृत्तियों की कल्पना का विरोध यह कहकर किया कि इनको मानने की आवश्यकता क्या है, जब कि इनका काम पहले से ही मानी हुई व्यंजना नामी वृत्ति से चल जाता है। अभिधा वृत्ति द्वारा काव्य के अर्थ का ज्ञान श्रोता, पाठक वा दर्शक को हो जाता है। इस वृत्ति की सहायता से आगे बढ़ने पर काव्य में ऐसी वृत्ति की स्थापना होती है जिसके द्वारा वह श्रोता, पाठक वा दर्शक के भोगने वा ग्रहण करने योग्य हो जाता है, इसे उन्होंने 'भोजक वृत्ति' नाम दिया। कहने की आवश्यकता नहीं कि इन दोनों वृत्तियों का संबंध काव्यगत कवि-कर्म से है, जिसके अंतर्गत उसके हृदय तथा कला-पक्ष दोनों की संस्थिति समझनी चाहिए, और जिनका लक्ष्य काव्य की पूर्णता होता है। यहीं इसका भी निर्देश कर दें कि रस-सिद्धान्त के क्षेत्र में आचार्य शुक्ल का कुछ-कुछ वैसा ही पक्ष है, जैसा कि आचार्य भट्ट नायक का। अतः यद्यपि आचार्य शुक्ल ने उपर्युक्त वृत्तियों की स्थापना नहीं की है, तथापि कवि-कर्म के विषय में उनके जो मत हैं, (जिनका निर्देश उनके काव्य-सिद्धांत की विवेचना करते हुए भी किया जाता है, और रस-सिद्धांत की प्रक्रिया की विवेचना करते हुए भी) वे भट्ट नायक की 'भोजक वृत्ति' के अंतर्गत रखे जा सकते हैं, क्योंकि दोनों का लक्ष्य एक ही है। वस्तुतः भट्ट नायक द्वारा मान्य 'भोजक वृत्ति' का साधन सफल कवि-कर्म ही है।

भट्ट नायक की 'भोग वृत्ति' का संबंध श्रोता, पाठक वा दर्शक से है, यह काव्य के सुनने, पढ़ने वा देखने पर उसके हृदय में जगती है, और वह काव्य के भोग करने योग्य बन जाता है। भोग वृत्ति को मानने के कारण भट्ट नायक का मत 'भुक्तिवाद' के नाम से प्रसिद्ध है। अभिनव गुप्तपादाचार्य का मत 'व्यक्तिवाद' वा 'अभिव्यक्तिवाद' कहलाता है। इसका कारण यह है कि उनके मत के अनुसार अपनी शक्ति और वृत्ति के द्वारा काव्य श्रोता, पाठक वा दर्शक में वासना-रूप में स्थित भाव को जगाकर उनकी व्यक्ति वा अभिव्यक्ति कर देता है, और वह रस का अनुभव करता है। श्रोता, पाठक वा दर्शक को दृष्टि में रखकर विचार करने पर हमें भट्ट नायक तथा अभिनव गुप्तपादाचार्य के सिद्धांतों में कोई विशेष अंतर नहीं लक्षित होता।

यह तो स्पष्ट है कि दोनों रस की स्थिति श्रोता, पाठक वा दर्शक में मानते हैं। भट्ट नायक कहते हैं कि भोग-वृत्ति के द्वारा रसानुभूति होती है, जो श्रोता, पाठक वा दर्शक में काव्य के सुनने, पढ़ने वा देखने पर जगती है; अर्थात् काव्य इस वृत्ति को जगाता है। कहना न होगा कि जो वृत्ति जगती है उसका अस्तित्व श्रोता, पाठक वा दर्शक में अवश्य है, तभी वह जगती है! अभिप्राय यह है कि इस वृत्ति का जगना वस्तुतः भाव के जगने के अतिरिक्त और कुछ नहीं है, जो रसानुभव की प्रथम श्रेणी मानी जा सकती है। आचार्य शुक्ल का भी यही पक्ष है। वे हृदय को अनेक भावात्मक मानते हैं, और काव्य द्वारा इनका उद्बुद्ध होना। तात्पर्य यह कि आचार्य शुक्ल यद्यपि इन दोनों आचार्यों की भाँति वृत्ति आदि की स्थापना नहीं करते पर श्रोता, पाठक वा दर्शक को भाव-संपन्न तथा काव्य को ग्रहण करने योग्य अवश्य मानते हैं। श्रोता, पाठक वा दर्शक से उनका तात्पर्य ऐसे ही व्यक्ति से है जो भावुक है और रसानुभव के योग्य है। अभिनव गुप्तपादाचार्य का कथन है कि काव्य उन वासनाओं को जगाता वा अभिव्यक्त कर देता है जो हृदय में सोई हुई वा अव्यक्त रहती हैं[१]। ध्यान पूर्वक विचार करने पर विदित होगा कि मुक्तिवाद में दर्शक आदि की भोग-वृत्ति का जगना और अभिव्यक्तिवाद में वासना का जगना वा अभिव्यक्त होना सूक्ष्मतः एक है, दोनों मतों में जगना भाव (वा उसका मूल रूप वासना) ही है और इसको जगाने वाला है काव्य। अतः इस दृष्टि से दोनों मत एक ही लक्ष्य पर पहुँचे हैं। यदि अभिव्यक्तिवाद में काव्य द्वारा वासना अभिव्यक्त होती है तो मुक्तिवाद में भी इसके द्वारा भोग वृत्ति (वा भाव) जगती है अर्थात् वह सब काल में जगी नहीं रहती, काव्य के प्रदर्शन, श्रवण वा पठन से ही जगती है। आचार्य शुक्ल की भी यही धारणा है, इसे हम ऊपर देख चुके हैं।

इन आचार्यों के रस-सिद्धान्त के विषय में एक और बात विचारणीय है।

---

[१] अंग्रेज समीक्षक एवरक्रांबी का भी इस विषय में यही मत है—

"But an audience does not go into a theatre in a state of pity and fear. Everyone is liable to these emotions, but they are not present unless they are provoked—Lascelles Abercrombie M. A.'s *Principles of Literary Criticism*, p. 109.

वह है 'साधारणीकरण' का सिद्धान्त। साधारणीकरण का प्रश्न इस रूप में उठा कि काव्य—प्रायः दृश्यकाव्य—में ऐसे व्यक्तियों का भी वर्णन होता है जिनके प्रति दर्शक, श्रोता वा पाठक की पूज्य भावना होती है, इस स्थिति में इन व्यक्तियों के श्रृङ्गार आदि के व्यापार का ग्रहण रस-रूप में दर्शक आदि कैसे कर सकते हैं। इस उलझन को सुलझाते हुए भट्ट नायक ने यह प्रतिपादित किया है कि भोजक-वृत्ति द्वारा पूज्य भावना के आलम्बन (वा अधिकारी व्यक्ति) अपने विशेषत्व (पूज्य भावना वा आलम्बनत्व) का त्याग करके 'साधारण' रूप में उपस्थित होते हैं। वे व्यक्ति-मात्र रह जाते हैं—किसी भी विशेषता के आवरण का त्याग करके। अभिप्राय यह है कि साधारणीकरण का मुख्य साधन भोजक-वृत्ति है। हम ऊपर इसकी विवेचना कर चुके हैं कि यह वृत्ति सफल कवि-कर्म के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। इसका निष्कर्ष यह है कि साधारणीकरण कवि-कर्म-सापेक्ष्य है, अर्थात् कवि अपनी कला द्वारा आलम्बन को इस रूप में उपस्थित करे कि वह सभी-दर्शक, श्रोता वा पाठक-को साधारण रूप में प्रतीत हो। आचार्य शुक्ल की साधारणीकरण के विषय में भट्ट नायक की-सी ही धारणा है। उसका कथन है—"जब तक किसी भाव का कोई विषय इस रूप में नहीं लाया जाता कि वह सामान्यतः सबके उसी भाव का आलंबन हो सके तब तक उसमें रसोद्बोधन की पूर्ण शक्ति नहीं आती। इस रूप में लाया जाना हमारे यहाँ 'साधारणीकरण' कहलाता है"—(चिन्तामणि, पृष्ठ ३०८)। उन्होंने यह भी स्पष्टतः कहा है कि "साधारणीकरण आलम्बनत्व धर्म का होता है।"—(वही, पृष्ठ ३१२) इस रूप में साधारणीकरण होने के कारण ही एक काव्य अनेक जनों को एक साथ रसानुभूति कराता है। आचार्य शुक्ल की भी इस विषय में यही धारणा है।—(देखिए चिन्तामणि, पृष्ठ ३०८)। यहाँ इसका निर्देश कर देना अतिप्रसंग न होगा कि साधारणीकरण उपस्थित करने में कवि-कर्म की वे सभी कलाएं अपेक्षित हैं जिनकी विवेचना, आचार्य शुक्ल की दृष्टि से, ऊपर हो चुकी है।

साधारणीकरण: भट्ट नायक और आचार्य शुक्ल का मत

साधारणीकरण के विषय में अभिनव गुप्तपादाचार्य का मत इससे भिन्न है। उनका कथन है कि साधारणीकरण आलम्बनत्व धर्म का नहीं होता, साधारणीकरण दर्शक, श्रोता वा पाठक का हृदय करता है। इसका अभिप्राय यह है कि आलम्बन चाहे जैसा भी हो दर्शक आदि के हृदय की एक ऐसी अवस्था आती है जिसमें वह उसको साधारण समझता है—किसी भी विशेषता से मुक्त। पर स्मरण

अभिनव गुप्तपादाचार्य का मत

यह रखना चाहिए कि अभिनव गुप्तपादाचार्य भी हृदय में वासना-रूप में स्थित भाव को जगाने की प्रथम क्रिया काव्य वा आलम्बन द्वारा ही मानते हैं अतः यदि यह माना जाय कि साधारणीकरण हृदय करता है तो भी आलंबन इसका मूल कारण ठहरता है, क्योंकि उक्त अवस्था तक श्रोता, पाठक वा दर्शक काव्य को पढ़कर ही पहुँचता है। यहाँ इसका भी ध्यान रखना चाहिए कि इस मत के अनुसार साधारणीकरण करने वाला हृदय सामान्य व्यक्ति का न होगा। ऐसे असामान्य व्यक्तियों का होगा जो गिने-चुने होते हैं, पर काव्य केवल गिने-चुने लोगों को ही रसानुभव नहीं कराता। इसलिए भट्ट नायक का यह प्रतिपादन कि भोजक-वृत्ति द्वारा दर्शक, श्रोता वा पाठक का हृदय सत्त्व, रज और तम गुणों में अंतिम दोनों से मुक्त होकर केवल सत्त्व गुणमय रह जाता है, सर्वसुलभ तथा सर्वबोधगम्य प्रतीत होता है।

साधारणीकरण के सिद्धान्त की विवेचना करते हुए यह भी विचारणीय है कि किन अवस्थाओं में रसानुभव के उपयुक्त साधारणीकरण हो सकता है।

रसानुभव के उपयुक्त साधारणीकरण की अवस्था

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि इसके लिए आलंबन का अनेक श्रोता, पाठक वा दर्शक के लिए सामान्य (कॉमन) होना अत्यावश्यक है। इस सामान्यत्व (कॉमननेस) की स्थापना के कई हेतु हो सकते हैं। आलंबन के प्रति श्रोता, पाठक वा दर्शक स्वाभाविक आकर्षण, उसकी लोकगत ख्याति, अथवा उसके विधान वा चित्रण में कवि-कौशल आलंबन के सामान्य रूप में श्रोता, पाठक वा दर्शक के संमुख आने के प्रधान कारण हैं। तात्पर्य यह है कि साधारणीकरण के लिए आलंबन का ऐसा आकर्षण भरा होना आवश्यक है कि वह मनुष्य-मात्र के किसी भाव का विषय (वा आलम्बन) हो सके। आचार्य शुक्ल की भी धारणा इस विषय में यही है।—(देखिए काव्य में रहस्यवाद, पृष्ठ ६०–६१)। स्त्री तथा पुरुष के स्वभावतः पारस्परिक आकर्षण के कारण ही प्रेम वा शृङ्गार-काव्य का आधिक्य सर्वत्र प्राप्त होता है। प्रेम वा शृङ्गार के अतिरिक्त अन्य भावों के लिए यह आवश्यक नहीं है कि आलम्बन मनुष्य-मात्र के भावों का पात्र हो सके। आचार्य शुक्ल कहते हैं कि रौद्र रस की अनुभूति के लिए यह आवश्यक नहीं है कि आश्रय का आलंबन सभी के क्रोध का आलंबन स्वभावतः हो, प्रत्युत इसके लिए यह आवश्यक है कि उसकी (आलंबन की) क्रूरता; अन्याय, उसका अत्याचार आदि इस रूप का हो कि वह मनुष्य-मात्र के क्रोध का आलंबन वा पात्र बन सके—(देखिए वही) यहाँ आलम्बन में आकर्षण की नैसर्गिकता की आवश्यकता नहीं है, आवश्यकता है

उसमें ऐसे कर्म की स्थापना की, जो मनुष्य-मात्र के भाव का विषय हो सके; चाहे आलम्बन अपरिचित ही क्यों न हो। रसानुभूति के उपयुक्त साधारणीकरण के लिए एक और बात का होना आवश्यक है, वह है आलम्बन का औचित्य, अर्थात् आश्रय की भाव-व्यंजना ऐसे पात्र के प्रति हो जो वस्तुतः सभी, पाठक वा दर्शक के भाव का पात्र बन जाय और किसी श्रोता आदि के भाव का न बन सके। आचार्य शुक्ल कहते हैं—"यदि भाव-व्यंजना में भाव अनुचित है, ऐसे के प्रति है जैसे के प्रति न होना चाहिए, तो 'साधारणीकरण' न होगा; अर्थात् श्रोता या पाठक का हृदय उस भाव में लीन न होगा।"—(इन्दौर वाला भाषण, पृष्ठ ३७ और देखिए, चिंतामणि, पृष्ठ २०१)। इस विवेचन का अभिप्राय यह है कि रसानुभूति के उपयुक्त साधारणीकरण के लिए आलंबन की उपयुक्तता भी आवश्यक है।

अब विचारणीय यह है कि रसानुभूति का स्वरूप क्या है? इस विषय में प्राचीन साहित्य-मीमांसकों और आचार्य शुक्ल में मत-वैभिन्य ज्ञात होता है।

रसानुभूति का स्वरूप: प्राचीन आचार्यों तथा आचार्य शुक्ल में मत-वैभिन्य

प्राचीन आचार्यों ने रसानुभूति को 'आनंदमय', 'ब्रह्मानन्द-सहोदर', 'लोकोत्तर' आदि रूपों में प्रतिपादित किया है। आचार्य शुक्ल की धारणा यह है कि रसानुभूति का इस रूप में ग्रहण केवल 'अर्थवाद के रूप में' है। काव्यानुभूति की प्रतिष्ठा वा गौरव की स्थापना के लिए इसे ये विशेषण दिये गए हैं। इस विषय में उनका अपना मत यह है कि काव्यानुभूति वा रसानुभूति वस्तुतः "जीवन के भीतर की ही अनुभूति है" (देखिए काव्य में रहस्यवाद, पृष्ठ ८१-८२), उससे बाहर वा परे की नहीं; "इसलिए यह धारणा कि शब्द, रंग या पत्थर के द्वारा जो अनुभूति उत्पन्न की जाती है केवल वही काव्यानुभूति हो सकती है, ठीक नहीं।"—(वही, पृष्ठ ८)। इस विषय में आचार्य शुक्ल की धारणा सर्वत्र ऐसी ही रही है। इसके साथ ही यह भी स्मरण रखना चाहिए कि यद्यपि उन्होंने इसे लोकानुभूति वा जीवन की अनुभूति के समान ही ग्रहण किया है तथापि वे भी इसके साथ 'उदात्त और अवदात' विशेषण जोड़ते हैं। इस उद्धरण से रसानुभूति के विषय में आचार्य शुक्ल की सारी मान्यताएँ स्पष्ट हो जायंगी— 'रसानुभूति प्रत्यक्ष या वास्तविक अनुभूति से सर्वथा पृथक् कोई अंतर्वृत्ति नहीं है, बल्कि उसी का एक उदात्त और अवदात स्वरूप है।"—(चिंतामणि, पृष्ठ ३४४)। अभिप्राय यह है कि रसानुभूति है तो जीवन की अनुभूति के सदृश ही, पर उसमें कुछ वैशिष्ट्य अवश्य है। प्रतीत ऐसा होता है कि जिसे आचार्य शुक्ल उदात्त और अवदात कहते हैं प्राचीन मीमांसकों ने उसी को महत्त्व देने के लिए लोको-

तर आदि के रूप में ग्रहण किया। पर आचार्य शुक्ल के पक्ष की स्पष्टता के लिए यहाँ एक बात का निर्देश कर देना आवश्यक प्रतीत होता है। आरंभ में ही हम कह चुके हैं कि काव्य तथा रस का घनिष्ठ सम्बन्ध है। एक स्थान पर काव्य के विषय में आचार्य शुक्ल ने कहा है—"मनोमय कोश ही प्रकृत काव्य-भूमि है, यही हमारा पक्ष है।"—(काव्य में रहस्यवाद, पृष्ठ ३७)। इस प्रकार रस का संबंध भी, उनकी दृष्टि से, इसी कोश से है। यह मनोमय कोश क्या है। वेदान्त-शास्त्रियों की धारणा है कि मनुष्य में पाँच कोशों की स्थिति है—अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञान-मय और आनन्दमय। यहाँ हमारा तात्पर्य केवल तृतीय और पंचम कोश से है। पंच ज्ञानेन्द्रिय (बाह्यकरण) और मन (अंतःकरण) को मनोमय कोश कहते हैं। यही कोश अविद्या-रूप है और इसी से सांसारिक विषयों की प्रतीति होती है। सत्वगुणविशिष्ट परमात्मा के आवरक (आच्छादक) का नाम आनन्दमय कोश है। जो रस-मीमांसक वस्तुतः रस को ब्रह्मानन्द-सहोदर, आनन्दमय, लोकोत्तर आदि रूप में ग्रहण करते हैं उनकी धारणा के अनुसार रस की पूर्ण अनुभूति इसी आनन्दमय कोश में होती है। पर आचार्य शुक्ल की दृष्टि से रस की पूर्ण अनुभूति मनोमय कोश में ही हो जाती है आनन्दमय कोश तक पहुँचने की आवश्यकता ही नहीं पड़ती। यह बात काव्य-संबंधी उनके ऊपर के उद्धरण से स्पष्ट है। मनोमय कोश में ही रस की सिद्धि हो जाने के कारण ही वे रसानुभूति को 'प्रत्यक्ष वा वास्तविक अनुभूति' से भिन्न-अनुभूति नहीं स्वीकार करते।

रसानुभूति वा रस-दशा का स्वरूप

मूलतः रसानुभूति वा रस-दशा क्या है, अब इसे देखें। कवि वाणी द्वारा काव्य को श्रोता, पाठक वा दर्शक तक पहुँचाता है—किसी-न-किसी उद्देश्य से ही। यदि विचार किया जाय तो विदित होगा कि उसके उद्देश्य के मूल में यही भावना निहित रहती है कि श्रोता, पाठक वा दर्शक का हृदय उसके काव्य से प्रभावित हो, कुछ-न-कुछ प्रभाव ग्रहण करे। रसानुभूति वा सौंदर्यानुभूति आदि इस प्रभाव के ही उच्च वा निम्न रूप वा उसकी मात्राएँ (डिग्रीज) हैं। आचार्य शुक्ल की दृष्टि से भी मन का किसी भाव में रमना और हृदय का उससे प्रभावित होना ही रसानुभूति है।—(देखिए काव्य में रहस्यवाद, पृष्ठ ८७)। रस-दशा के विषय में आचार्य शुक्ल ने मुख्यतः तीन बातें कही हैं एक तो यह कि वे इस दशा को हृदय की मुक्तावस्था मानते हैं, जिसमें व्यक्ति अपने-पराये के भेद-भाव से छूटकर अनुभूति-मात्र रह जाता है वा काव्य द्वारा उपस्थित भाव का ही अनुभव करता है और किसी वस्तु का नहीं।—(देखिए चिंतामणि पृष्ठ १९२ और इन्दौर वाला भाषण, पृष्ठ ४१)।

इस विषय में दूसरी बात उन्होंने यह कही है कि रस-दशा वा रसानुभूति की अवस्था में व्यक्ति-हृदय लोक-हृदय में लीन हो जाता है। इस अवस्था को वे 'भाव की पवित्र भूमि' या 'पुनीत रसभूमि' कहते हैं। व्यक्ति-हृदय का लोक-हृदय में लीन होने से आचार्य शुक्ल का अभिप्राय है मनुष्य-मात्र के लिए सामान्य आलम्बन में श्रोता, पाठक व दर्शक के हृदय का लीन होना। जिस सामान्य आलम्बन में मनुष्य-मात्र का हृदय लीन होता है उसी में एक श्रोता, पाठक वा दर्शक के हृदय का लीन होना वे लोक-हृदय में व्यक्ति-हृदय का लय होना मानते हैं, और इस अवस्था की अनुभूति को रस-दशा की अनुभूति स्वीकार करते हैं।—(देखिए चिंतामणि, पृष्ठ २०८-२०९ और काव्य में रहस्यवाद, पृष्ठ २६०)। विचार करने पर ज्ञात होता है कि रस दशा को हृदय की मुक्तावस्था मानना तथा लोक-हृदय में व्यक्ति-हृदय का होना स्वीकृत करना सूक्ष्मतः एक ही बात है, क्योंकि दोनों अवस्थाओं में लोक के साथ व्यक्तिगत सम्बन्ध की भावना का परिहार या त्याग अपेक्षित है। अंग्रेज समीक्षक रिचर्ड्स भी सौन्दर्य ग्रहण (एस्थेटिक-रिस्पांस) की अवस्था को इसी रूप में स्वीकार करते हैं। उनका भी कथन है कि इस दशा में लोकगत वैयक्तिक सम्बन्ध का त्याग हो जाता है[१]।

---

१ With the preliminary disavowal of undue certainty we may proceed. The equilibrium of opposed impulses, which we suspect to be the ground-plan of the most valuable aesthetic responses, brings into play far more of our personality than is possible in experiences of a more defined emotion. We cease to be orientated in one definite direction ; more facts of the mind are exposed and, what is the same thing, more aspects of things are able to effect us. To respond, not through one narrow channel of interest, but simultaneously and coherently through many, is to be '*disinterested*' in the only sense of the word which concerns us here. A state of mind which is not disinterested is one which sees things only from one standpoint or under one aspect. At the same time since more of our personality is engaged the independence and individuality of other things becomes greater. We seem to see '*all round*' them, to see them as they really are ; we see them apart from any one particular interest which they may have for us. Of course without some interest we should not see them at all, but the less any our particular interest is

रस-दशा के सम्बन्ध में तीसरी बात कहने के पूर्व आधुनिक काल में प्रचलित एक साहित्यिक वाद के विषय में कुछ निर्देश कर देना आवश्यक है। इस युग में पाश्चात्य साहित्य के अन्तर्गत सौन्दर्यवाद (एस्थेटिसिज़्म) की प्रचुर विवेचना हुई और इसका प्रचार भी खूब रहा। हिन्दी-साहित्य में भी इसके विषय में चर्चा प्रायः हुआ करती है। सौन्दर्यानुभूति (एस्थेटिक एक्सपीरियंस) के विषय में आचार्य शुक्ल ने जो विवेचना की है उससे विदित होता है कि वे इस अनुभूति को भी रसानुभूति के रूप में ही ग्रहण करते हैं। सौन्दर्य, रूप-व्यापार, कर्म आदि को देखकर 'अन्तस्सत्ता' की उनमें 'तदाकारपरिणति' को वे सौन्दर्यानुभूति कहते हैं—"कुछ रूप-रंग की वस्तुएं ऐसी होती हैं जो हमारे मन में आते ही थोड़ी देर के लिए हमारी सत्ता पर ऐसा अधिकार कर लेती हैं कि उसका ज्ञान ही हवा हो जाता है और हम उन वस्तुओं की भावना के रूप में ही परिणत हो जाते हैं। हमारी अन्तस्सत्ता की यही तदाकारपरिणति सौन्दर्य की अनुभूति है।"—(चिन्तामणि, पृष्ठ २२४-२२५)। कहना न होगा कि हमारी सत्ता पर उन रूप-रंगमयी वस्तुओं का अधिकार कर लेना उनके द्वारा हमारा प्रभावित होना ही है और तदाकारपरिणति उनमें लीन होना वा रमना। अतः सौन्दर्यानुभूति की अवस्था रस-दशा के समान ही होगी। इस प्रकार हम देखते हैं कि यद्यपि आचार्य शुक्ल ने रस-दशा के विषय में मुख्यतः तीन बातें कही हैं, पर मूलतः उनमें कोई भेद नहीं है, उनका लक्ष्य एक ही है।

दुःखात्मक भावों की रसानुभूतिः दुःखमय इस दुःख की रसात्मकता

आचार्य शुक्ल की दृष्टि से हम इस पर विचार कर चुके हैं कि रसानुभूति वा काव्यानुभूति जीवनगत प्रत्यक्ष वा वास्तविक अनुभूति के अतिरिक्त और किसी प्रकार की अनुभूति नहीं होती। हाँ उसका स्वरूप इस अनुभूति से उदात्त और अवदात अवश्य होता है। इस स्थिति में विचारणीय यह है कि काव्यगत दुःखात्मक भावों की अनुभूति दुःखमय होगी अथवा आनन्दमय, क्योंकि जीवन में ये भाव प्रतिकूलवेदनीय ही होते हैं। इस विषय में आचार्य शुक्ल की मान्यता यह है कि काव्यगत दुःखात्मक भावों की अनुभूति जीवन की अनुभूति के समान दुःखमय ही होती है, क्योंकि करुण रस के काव्य वा नाटक पढ़ने वा देखने पर

---

indispensable, the more '*detached*', our attitude becomes. And to say we are '*impersonal*', is merely a curious way of saying that one personality is more '*completely*' involved.

—I. A. Richards's *Principles of Literary Criticism*, P. P. 251-252.

आँसू का आना मनोविज्ञान की दृष्टि से दुःखानुभूति का ही लक्षण (सिम्टम) है। उनका कथन है कि ऐसी अवस्था में "यह कहना कि 'आनन्द में भी तो आँसू आते हैं' केवल बात टालना है। दर्शक वास्तव में दुःख ही का अनुभव करते हैं।"—(देखिए चिन्तामणि, पृष्ठ २४१–४२)। अभिप्राय यह है कि वे काव्यगत दुःखात्मक भावों की अनुभूति दुःखमय ही मानते हैं। बेनिडीटो क्रोचे की भी यही धारणा है कि काव्यगत भावों की अनुभूति सुखात्मक और दुःखात्मक दोनों होती हैं। (देखिए इन्दौर वाला भाषण, पृष्ठ ४०–४१)। आचार्य शुक्ल का कथन यह है कि काव्यगत दुःख की अनुभूति दुःखात्मक तो अवश्य ही होती है, पर "हृदय की मुक्त दशा में होने के कारण वह दुःख भी रसात्मक होता है।"—(चिन्तामणि, पृष्ठ २४२)। यहाँ रसात्मक से तात्पर्य 'भोग्य' से है। इस विषय में भी आचार्य शुक्ल का पक्ष बड़ा सटीक प्रतीत होता है। बात यह है कि परिस्थितिवश दुःखात्मक तथा सुखात्मक दोनों प्रकार के भावों में लीन होने वाले व्यक्ति दिखाई पड़ते हैं। कुछ व्यक्तियों का यह कहना है कि 'मुझे रोने दो, रोने में ही सुख मिलता है' का तात्पर्य यही है कि दुःख भी उन्हें परिस्थिति विशेष में अनुकूलवेदनीय प्रतीत होता है, और इसका कारण है उनकी तन्मयता।

कवि की रसोन्मुख अवस्था

यह हमें विदित है कि रस की स्थिति श्रोता, पाठक वा दर्शक में होती है। उसमें रस की अनुभूति के लिए ग्राहक कल्पना की भी आवश्यकता है, इसे भी हम देख चुके हैं। कवि में विधायक कल्पना होती है और वह अपनी भावुकता (इसे हम इस स्थान पर काव्य-रचना की चाह के रूप में प्रयोग करना चाहते हैं) के कारण इस कल्पना को रूप-विधान की ओर प्रवृत्त करके काव्य प्रस्तुत करता है। आचार्य शुक्ल का कथन है कि "...... कवि अपनी स्वभावगत भावुकता की जिस उमंग में रचना करने में प्रवृत्त होता है और उसके विधान में तत्पर रहता है, उसे यदि हम कुछ कहना चाहें तो रस-प्रवणता या रसोन्मुखता कह सकते हैं।"—(काव्य में रहस्यवाद, पृष्ठ ७६)। अभिप्राय यह है कि प्रस्तुत हो जाने पर काव्य रसात्मक तो होता ही है, उसकी रचना के समय कवि भी रसोन्मुख अवस्था में रहता है। वस्तुतः काव्य-रचना की उमंग में उसमें तन्मयता ही रसोन्मुखता है, जिसे हम पूर्ण रस-दशा तो नहीं कह सकते, पर इस अवस्था में भी कुछ क्षण ऐसे आया करते हैं जिनमें रसात्मकता का आभास अवश्य मिला करता है।

रसानुभूति की प्रक्रिया पर शास्त्रीय दृष्टि से भी विचार कर लेना चाहिए। 'रस' को भारतीय प्राचीन आचार्यों ने व्यंग्य कहा है। इन आचार्यों का पक्ष यह है

कि काव्य में जिन भावों और वस्तुओं की व्यंजना होती है वे भाव वा वस्तु श्रोता, पाठक वा दर्शक को रस-भूमि पर पहुँचाते हैं। आचार्य शुक्ल की मान्यता है कि "व्यंजना में अर्थात् व्यंजक वाक्य में रस होता है।"—(काव्य में रहस्यवाद, पृष्ठ ६९) अर्थात् किसी काव्य द्वारा ध्वनित यह तथ्य कि 'अमुक करुणा, क्रोध वा प्रेम कर रहा है' रस नहीं है, प्रत्युत काव्यमयी वाणी ही सब-कुछ है, उक्ति ही सब-कुछ है, जो रसानुभूति कराती है।—(देखिए काव्य में रहस्यवाद, पृष्ठ ६८-६९)। आचार्य शुक्ल व्यंजक वाक्य को ही काव्य भी मानते हैं, काव्य पर विचार करते हुए हम इसे भी देख चुके हैं। आचार्य शुक्ल की यह मान्यता यों भी व्यक्त की जा सकती है कि काव्य-शरीर ही काव्य की आत्मा का अनुभव कराता है, उसकी आत्मा तक पहुँचने का मार्ग उसका शरीर ही है। जहाँ तक उनकी इस धारणा का सम्बन्ध है कि 'उक्ति ही कविता है' वहाँ तक वे भारतीय समीक्षा के 'रीतिवाद' के निकट प्रतीत होते हैं, जिसका प्रतिपाद्य यह है कि 'रीति ही काव्य की आत्मा है'—'रीतिरात्मा काव्यस्य'। पर हमें इसे भी नहीं भूल जाना चाहिए कि वे रीति को काव्य की आत्मा नहीं मानते, प्रत्युत रस को मानते हैं। आचार्य शुक्ल भी रसवादियों की ही श्रेणी में आते हैं। अभिप्राय यह है कि वे काव्य की रीति के समर्थक तो हैं, पर उसे ही उसकी आत्मा नहीं स्वीकार करते। उनकी दृष्टि में काव्य की आत्मा रस ही है।

व्यञ्जक वाक्य में रस

अब विचारणीय यह है कि 'रस व्यङ्ग्य में होता है अथवा व्यञ्जना में' अर्थात् 'व्यञ्जक वाक्य में रस होता है' जिस (प्रथम) पक्ष का आचार्य शुक्ल ने विरोध किया है उसमें तथा उनके पक्ष में हमें कोई विशेष अंतर नहीं दिखाई पड़ता, क्योंकि उन्होंने काव्य में जिस उक्ति का प्रतिपादन किया है, उसका विरोध प्राचीन रसवादी वा ध्वनिवादी करते नहीं दिखाई पड़ते। वे भी काव्य-कला को तो स्वीकार करते ही हैं, इसी के द्वारा रस की व्यञ्जना होती है, अर्थात् व्यंजक काव्यमय वाक्यों से रस, जो व्यंग्य है, की प्रतीति होती है। ध्यानपूर्वक विचार करने पर विदित होता है कि रसवादी सम्प्रदाय भी आचार्य शुक्ल की भाँति ही काव्य को उक्ति की मान्यता अस्वीकार नहीं करता, वह काव्यगत भाव की व्यंजना को रस मानता है, जो उक्ति द्वारा साध्य है। 'रस व्यंग्य है' इसका अर्थ आचार्य शुक्ल यह लेते हैं कि काव्य में जिस भाव की व्यंजना होती है वही भाव रस है, काव्य में शृङ्गार की व्यंजना हुई, तो प्रेम भाव रस हुआ। इस पक्ष के समर्थन में यह कहा जा सकता है कि काव्य में वर्णित प्रेम का अनुभव पाठक, श्रोता वा दर्शक उसकी व्यंजना होने पर प्रेम भाव के ही रूप में करता है, क्योंकि रस रूप में प्रेम-भाव का व्यंग्य होना

रस वा काव्य-संभार वा उपकरण के द्वारा श्रोता, पाठक वा दर्शक पर इस भाव के समन्वित प्रभाव (टोटल इम्प्रैसन) के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। व्यंजक वाक्यों की रस-रूप में अनुभूति भी इसी प्रभाव के ढंग की ही होती है। इस प्रकार हमें विदित होता है कि जिस रसवाद का आचार्य शुक्ल ने विचार किया है वह भी विचारणीय है।

व्यंजना की प्रक्रिया

ऊपर काव्यानुभूति की चर्चा के साथ रस वा भाव-व्यंजना और वस्तु-व्यंजना की बात आई है। यहाँ इसे भी देख लेना चाहिए कि इन व्यंजनाओं की प्रक्रिया क्या है, क्योंकि वाच्यार्थ से व्यंग्यार्थ तक पहुँचने पर ही व्यंजना होती है। बोध की जिस प्रक्रियावश वाच्यार्थ से व्यंग्यार्थ तक पहुँचा जाता है, उसे दृष्टि में रखकर व्यंजना के दो रूप निर्धारित किये गए हैं—संलक्ष्य क्रम और असंलक्ष्य क्रम। वस्तु-व्यंजना संलक्ष्य क्रम की प्रक्रिया से और भाव-व्यंजना असंलक्ष्य क्रम की प्रक्रिया से होती है। व्यक्तिविवेककार महिम भट्ट (जो नैयायिक थे) ने व्यंजना पर विचार करते हुए कहा है कि वाच्यार्थ से व्यंग्यार्थ तक पहुँचने की प्रक्रिया अनुमान द्वारा होती है। विचार करने पर विदित होता है कि वस्तु-व्यंजना में महिम भट्ट द्वारा प्रतिपादित अनुमान का कोटि-क्रम सटीक उतरता है, पर भाव-व्यंजना में यह लागू नहीं होता, क्योंकि भाव वा रस की व्यंजना में श्रोता, पाठक वा दर्शक काव्य को सुन, पढ़ वा देखकर अनुमान करने के पश्चात् उसका (भाव वा रस का) अनुभव नहीं करता, इसमें अनुमान का कोटि-क्रम नहीं लक्षित होता, क्योंकि इसकी व्यंजना की प्रक्रिया बड़ी ही तीव्र गति से अपना कार्य-सम्पादन करती है। श्रोता, पाठक वा दर्शक काव्य को सुनने, पढ़ने वा देखने के साथ ही तुरंत व्यंजना की कोटि पर पहुँच जाता है। उसके मन में अनुमान की प्रक्रिया होती है, पर इतनी तीव्रगति से कि उसका पता नहीं चलता। इसी से भाव-व्यंजना असंलक्ष्य-क्रम-व्यंजना के अन्तर्गत रखी गई है[1]। आचार्य शुक्ल की भी यही धारणा है कि वस्तु-व्यंजना में तो अनुमान की प्रक्रिया उचित प्रतीत होती है, पर भाव-व्यंजना में नहीं।—(देखिए इंदौर वाला भाषण, पृष्ठ १०)। वस्तुतः बात यह है कि वस्तु-व्यंजना में जैसे वाच्यार्थ से व्यंग्यार्थ तक पहुँचा जाता है वही बात भाव-व्यंजना वा रस-व्यंजना में नहीं होती। भाव-व्यंजना में हृदय किसी तथ्य के बोध से चमत्कृत नहीं होता, प्रत्युत उस भाव

१ इस विषय में विशेष अभिज्ञता के लिए देखिए—पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र-कृत 'वाङ्मय-विमर्श,' पृष्ठ १३५—१३७।

वा रस में लीन होता है। अतः भाव-व्यञ्जना वस्तु-व्यञ्जना की भाँति अनुमानाश्रित नहीं।

रस वा रसानुभूति का सत्स्वरूप सर्वतः पूर्ण (ऍब्सोल्यूट) मानना चाहिए। उसमें भेद करके उसकी श्रेणी (डिग्री) स्थापित करना उसकी पूर्णता और अखंडता से छेड़खानी करना ही होगा। ज्ञान के क्षेत्र में जैसे ब्रह्म अखंड और पूर्ण (इंडिविजिवल एण्ड अब्सौल्यूट) है वैसे ही साहित्य वा काव्य के क्षेत्र में रस वा रसानुभूति को भी अखंड और पूर्ण स्वीकार किया जा सकता है। प्रतीत ऐसा होता है कि इसी अखंडता और पूर्णता की मान्यता के कारण ही प्राचीन भारतीय समीक्षकों ने इसकी श्रेणियाँ नहीं स्थापित कीं। इसकी अनुभूति की इस पूर्णता और अखंडता को ही हम इसका महत्त्व मानते हैं, क्योंकि यह स्वतः अपने में पूर्ण है। यद्यपि वस्तुस्थिति (रीयलिटी) यह है तथापि काव्य वा साहित्य के पठन-पाठन द्वारा विदित होता है कि रस की पूर्ण अनुभूति के अतिरिक्त हमें कुछ अनुभूतियाँ ऐसी भी होती हैं जो इससे (रसानुभूति से) निम्न श्रेणी में रखी जा सकती हैं। आचार्य शुक्ल ने इसी अनुभव के आधार पर रस की श्रेणियाँ नियत की हैं। उनकी तो यह धारणा है कि "दो प्रकार की अनुभूति तो लक्षण-ग्रन्थों की रस-पद्धति के भीतर ही, सूक्ष्मता से विचार करने से, मिलती हैं' (१) जिस भाव की व्यंजना हो उसी में लीन हो जाना। (२) जिस भाव की व्यंजना हो उसी भाव में लीन तो न होना; पर उसकी व्यंजना की स्वाभाविकता और उत्कर्ष का हृदय से अनुमोदन करना।"—(देखिए 'काव्य में रहस्यवाद', पृष्ठ ५९–६०)। द्वितीय प्रकार की अनुभूति वा प्रभाव को वे मध्यम कोटि में रखते हैं। कहना न होगा कि भाव-व्यंजना की स्वाभाविकता और उत्कर्ष का हृदय से यह अनुमोदन काव्य-प्रशंसा (पोयटिक अप्रेसिएशन) के अतिरिक्त और कुछ नहीं है, जो श्रोता, पाठक वा दर्शक की काव्य के प्रति मुग्धता का परिणाम होता है।

रस की कोटियाँ

रस की कोटियाँ स्थापित करने के लिए आचार्य शुक्ल की दृष्टि में कई कारण उपस्थित थे। उनका कथन है कि यदि ध्यानपूर्वक विचार किया जाय तो भाव की तीन दशाएं निर्धारित होती हैं—क्षणिक दशा, स्थायी दशा और शील-दशा। उनका मत है कि "किसी भाव की क्षणिक दशा एक अवसर पर एक आलंबन के प्रति होती है" और इसकी अनुभूति मुक्तक रचनाओं में की जाती है। आचार्य शुक्ल भाव की क्षणिक दशा का सम्बन्ध मुक्तक रचनाओं से ही जोड़ते हैं।

भाव की क्षणिक दशा

भाव की स्थायी दशा के विषय में आचार्य शुक्ल की मान्यता यह है कि

वह "अनेक अवसरों पर एक ही आलंबन के प्रति होती है।" इसकी स्थिति वे प्रबन्ध-काव्यों में बतलाते हैं। शील दशा के विषय में उनका कथन है कि वह "अनेक अवसरों पर अनेक आलंबनों के प्रति होती है।" इसकी अनुभूति पात्रों के चरित्र-चित्रण में होती है।—(देखिए इंदौर वाला भाषण पृष्ठ ८४–८५)। भाव की शील-दशा की अनुभूति को आचार्य शुक्ल रसानुभूति की मध्यम कोटि मानते हैं, जिस पर प्राचीन भारतीय समीक्षकों ने विचार नहीं किया है। आचार्य शुक्ल की इस पर अपनी मौलिक विवेचना है।

भाव की स्थायी और शील दशा

हमें यह विदित है कि रसानुभूति के लिए आचार्य शुक्ल और प्राचीन समीक्षक भी श्रोता, पाठक वा दर्शक का काव्य-वर्णित आश्रय के साथ तादात्म्य तथा आलंबन के साथ उसका साधारणीकरण आवश्यक बतलाते हैं। इस स्थिति में की गई रसानुभूति तो उत्तम कोटि की होगी। आचार्य शुक्ल का पक्ष यह है कि इसके अतिरिक्त एक मध्यम कोटि की भी रसानुभूति होती है जिसमें "किसी भाव की व्यंजना करने वाला; कोई क्रिया वा व्यापार करने वाला पात्र भी शील की दृष्टि से श्रोता (या दर्शक) के किसी भाव का—जैसे, श्रद्धा, भक्ति, घृणा, रोष, आश्चर्य, कुतूहल या अनुराग का—आलंबन होता है।"—(चिंतामणि, पृष्ठ ३१४)। रस की इस स्थिति में श्रोता, पाठक वा दर्शक के हृदय में उस भाव का उद्बोधन नहीं होता जिस भाव की व्यंजना आलंबन-रूप में आया पात्र किसी अन्य पात्र के प्रति करता है; अर्थात् श्रोता, पाठक वा दर्शक का हृदय आलंबन के रूप में चित्रित पात्र के हृदय से भिन्न स्थिति में वर्तमान रहता है। इसे यों कहिए कि आलंबन के साथ साधारणीकरण और आश्रय के साथ तादात्म्य रस की इस कोटि में नहीं होता; श्रोता, पाठक वा दर्शक किसी दूसरे ही भाव का अनुभव करता है और आलंबन व्यंजना करता है किसी दूसरे ही भाव की। "ऐसी दशा में आश्रय के साथ तादात्म्य या सहानुभूति न होगी, बल्कि श्रोता या पाठक उक्त पात्र के शील-द्रष्टा या प्रकृति-द्रष्टा के रूप में प्रभाव ग्रहण करेगा और यह प्रभाव भी रसात्मक ही होगा।"—(चिंतामणि, पृष्ठ ३१४)।

रस की मध्यम कोटि

यह हम देख चुके हैं कि रसानुभूति के लिए आश्रय के साथ श्रोता, पाठक व दर्शक का तादात्म्य तथा आलंबन के साथ उसका साधारणीकरण आवश्यक है। प्रत्यक्षतः तो नहीं पर परोक्षतः रस की मध्यम दशा में भी यह बात देखी जाती है। यह तो स्पष्ट है कि रस की इस कोटि में भी भाव-व्यंजना करने वाले पात्र के

प्रति श्रोता, पाठक वा दर्शक का कोई भाव अवश्य उद्बुद्ध रहता है, अर्थात् काव्य में वर्णित भाव का आश्रय श्रोता, पाठक वा दर्शक का आश्रय नहीं होता, प्रत्युत वह उसका आलंबन हो जाता है। आचार्य शुक्ल का कथन है कि ऐसी स्थिति में "तादात्म्य कवि के उस अव्यक्त भाव के साथ होता है जिसके अनुरूप वह पात्र का स्वरूप संघटित करता है। जो स्वरूप कवि अपनी कल्पना में लाता है उसके प्रति उसका कुछ-न-कुछ भाव अवश्य रहता है। वह उसके किसी भाव का आलंबन अवश्य होता है। अतः पात्र का स्वरूप कवि के जिस भाव का आलंबन रहता है, पाठक या दर्शक के भी उसी भाव का आलंबन प्रायः हो जाता है।"—(चिंतामणि; पृष्ठ ३१९)। आलंबन और आश्रय की इस प्रकार स्थापना के पश्चात् साधारणीकरण और तादात्म्य की प्रक्रिया के पूर्ण हो जाने में कोई बाधा उपस्थित नहीं होती दिखाई पड़ती। इतने विवेचन से यह तो स्पष्ट ही हो गया होगा कि रस की मध्यम कोटि की अनुभूति का सम्बन्ध काव्यगत पात्रों के चरित्र-चित्रण वा शील-निरूपण से ही विशेष है। कुपात्र जब सुपात्र के प्रति ऐसे भाव की व्यंजना वा कार्य-व्यापार (हरकत) करता है जैसे की वह (सुपात्र) पात्र नहीं होता, तब कुपात्र के प्रति विरोधी भाव तथा सुपात्र के प्रति अनुकूल भाव का उद्बोधन श्रोता, पाठक वा दर्शक के हृदय में होता है। ऐसी स्थिति में जब काव्यगत तीसरा पात्र आकर कुपात्र के प्रति विरोधी भाव की व्यंजना करके सुपात्र के प्रति अनुकूल भाव की व्यंजना करता है तब श्रोता, पाठक वा दर्शक को 'अपूर्व तुष्टि होती है। यह तुष्टि ही रस की मध्यम कोटि है। आचार्य शुक्ल की दृष्टि से रस की इस कोटि के विषय में एक बात और कहनी है; वह यह कि इसमें "श्रोता या पाठक अपनी पृथक् सत्ता अलग सँभाले रहता है"; और रस की उच्च कोटि की अनुभूति में वह "···अपनी पृथक् सत्ता का कुछ क्षणों के लिए विसर्जन करके आश्रय की भावात्मक सत्ता में मिल जाता है।"—(चिन्तामणि, पृष्ठ ३१६)। आचार्य शुक्ल द्वारा स्थापित रस की मध्यम कोटि की अनुभूति पर सम्यक् रूप से विचार करने पर स्पष्टतः विदित हो जाता है कि उनका पक्ष सटीक है और इस अवस्था में भी रस की-सी ही अनुभूति होती है—पर अनुभूति की मात्रा कुछ कम रहती है। इस अवस्था में काव्य हृदय पर ऐसा प्रभाव डालता है जिसके द्वारा उसका (हृदय का) अपूर्व प्रसादन वा तुष्टि होती है। वस्तुतः रस की इस कोटि का सम्बन्ध हृदय की तुष्टि से ही समझना चाहिए।

आचार्य शुक्ल रस की एक निकृष्ट दशा की भी मान्यता स्वीकार करते जान

पड़ते हैं, जिसके अन्तर्गत वे चमत्कारवादियों के कुतूहल को रखना चाहते हैं। उनका कथन है—"चमत्कारवादियों के कुतूहल को भी काव्यानुभूति के अन्तर्गत ले लेने पर रसानुभूति की क्रमशः उत्तम, मध्यम और निकृष्ट तीन दशाएँ हो जाती हैं।"

रस की निकृष्ट कोटि

—(इन्दौर वाला भाषण, पृष्ठ ८६)।

रस-विषयक सभी सामान्य (कॉमन और जनरल) विषयों की विवेचना हम प्रस्तुत कर चुके हैं। इन्हें दृष्टि-पथ में रखकर अब 'रसात्मक बोध के विविध रूप' पर विचार करना है। रसानुभूति का क्षेत्र काव्य है, इसका निर्देश आरंम्भ में हो चुका है, और यह भी हमें विदित है कि काव्य हमारे संमुख मूर्ति, चित्र वा रूप ही रखता है—'रमणीय अर्थ का प्रतिपादक शब्द काव्य है—'रमणीयार्थ प्रतिपादकः शब्दः काव्यम्'—का तात्पर्य यही है। काव्यगत इस मूर्ति, चित्र वा रूप का आधार क्या है, इसका मूल क्या है। विचार करने पर विदित होता है कि काव्यगत चित्रों वा रूपों के आधार 'देखी-सुनी बहु लोक की बातें' ही हैं। हम ज्ञानेन्द्रियों द्वारा किसी-न-किसी रूप में प्रत्यक्ष किये हुए विषयों को ही काव्य में उपस्थित करते हैं। देखना यह है कि इन्हें किन रूपों में उपस्थित करते हैं। अब यह तो स्पष्ट है कि काव्यगत रूप-विधान का मूलाधार ज्ञानेन्द्रियों द्वारा प्रत्यक्ष विषय ही है। प्रायः होता यह है कि जब कवि इन प्रत्यक्ष विषयों या रूपों का विधान करने बैठता है तब उसे इन्हें काव्य में उपस्थित करने के लिए काव्य के दो प्रधान साधनों का अवलम्ब लेना पड़ता है। वे साधन वा उपकरण हैं—स्मृति और कल्पना। कभी वह किसी देश-काल में प्रत्यक्ष किये हुए वा अनुभूत रूपों को स्मृति के सहारे काव्य में ज्यों-का-त्यों रख देता है और कभी इन्हें अपनी कल्पना द्वारा कुछ घटा-बढ़ाकर प्रत्यक्ष से कुछ भिन्न वा नवीन रूप में चित्रित करता है। इन उपकरणों के आधार पर प्रस्तुत रूपों की प्रक्रिया को हम 'स्मृति रूप-विधान' और 'कल्पित रूप विधान' कह सकते हैं और जिस प्रत्यक्ष के आधार पर ये दो रूप-विधान हुए हैं उसको 'प्रत्यक्ष रूप-विधान'। स्मरण यह रखना चाहिए कि स्मृति और कल्पित रूप-विधानों का सम्बन्ध अभ्यन्तर से है और प्रत्यक्ष रूप-विधान का बाह्य से। भारत के प्राचीन साहित्य-शास्त्रियों की धारणा यह है कि इनमें से केवल कल्पित रूप-विधान में ही रसानुभूति उत्पन्न करने की शक्ति होती है। आचार्य शुक्ल की मान्यता वा सिद्धांत (थीयरी) यह है कि कल्पित रूप-विधान द्वारा रसानुभूति तो होती ही है स्मृति और प्रत्यक्ष रूप-विधानों में भी यह शक्ति होती है कि वे रस प्रतीति- करा

स्मृत और प्रत्यक्ष रूप-विधानों द्वारा भी रस-प्रतीति

सकें । प्राचीन आचार्यों ने केवल कल्पित रूप-विधान में ही रसानुभूति क्यों मानी है, इस पर विचार हो चुका है ।

'प्रत्यक्ष' से आचार्य शुक्ल का अभिप्राय चक्षु-विषयक रूप से ही नहीं है प्रत्युत इसके (रूप के) अन्तर्गत अन्य ज्ञानेन्द्रियों के विषय शब्द, गंध, रस और स्पर्श भी हैं । कवि-गण इनकी भी योजना अपने काव्य में किया करते हैं । प्रत्यक्ष रूप-विधान में रसात्मक बोध कराने की शक्ति होती है वा उनके द्वारा रसानुभूति होती है; इस विषय में आचार्य शुक्ल का प्रतिपाद्य यह है कि "जिस प्रकार काव्य में वर्णित आलंबनों के कल्पना में उपस्थित होने पर साधारणीकरण होता है, उसी प्रकार हमारे भावों के कुछ आलंबनों के प्रत्यक्ष सामने आने पर भी उन आलंबनों के सम्बन्ध में लोक के साथ या कम-से-कम सहृदयों के साथ—हमारा तादात्म्य रहता है । ऐसे विषयों या आलंबनों के प्रति हमारा जो भाव रहता है वही भाव और भी बहुत-से उपस्थित मनुष्यों का होता है ।"—(देखिए चिन्तामणि, पृष्ठ ३३७--३३८) । हम पहले ही इस पर विचार कर चुके हैं कि आचार्य शुक्ल जीवन की प्रत्यक्ष वा वास्तविक अनुभूति तथा काव्यगत रसानुभूति में कोई अन्तर नहीं स्वीकार करते, ऐसी स्थिति में जगत् और जीवन के वास्तविक वा प्रत्यक्ष लोक-सामान्य आलंबनों के उपस्थित होने पर रस-दशा को भाँति दर्शक के व्यक्तित्व का कुछ क्षणों के लिए उसमें (आलंबन में) लय हो जाना कोई आश्चर्यजनक बात नहीं है । "अतः इस प्रकार की प्रत्यक्ष वा वास्तविक अनुभूतियों को रसानुभूति के अन्तर्गत मानने में कोई बाधा नहीं ।"—(चिन्तामणि, पृष्ठ ३३७) ।

प्रत्यक्ष वा वास्तविक अनुभूतियों द्वारा रसानुभूति

जिस प्रकार जीवन की प्रत्यक्ष अनुभूति को आचार्य शुक्ल रसात्मक बोध के समकक्ष प्रतिष्ठित करते हैं उसी प्रकार उनका प्रतिपाद्य यह भी है कि जीवन में घटित वास्तविक स्मरण या स्मृति, जो किसी काव्य में वर्णित नहीं होती, भी रसात्मक अनुभूति उत्पन्न करने में समर्थ होती है । उनकी धारणा है कि अतीत में प्रत्यक्ष की हुई वस्तुओं के वास्तविक स्मरण द्वारा भी कभी-कभी हम हृदय को उस स्थिति में पहुँचते हैं जहाँ केवल शुद्ध भाव का ही अनुभव होता है, जहाँ हम अपने-पराये के भेद-भाव से छूटे रहते हैं ।

स्मृति द्वारा रसानुभूति

स्मृति के दो रूप हमारे संमुख आते हैं, एक विशुद्ध स्मृति और दूसरी प्रत्यक्षाश्रित स्मृति वा प्रत्यभिज्ञान । साहित्य-ग्रन्थों में 'स्मरण' संचारी भाव माना जाता है । इसका अभिप्राय यह है कि स्थायी भाव के सम्बन्ध से आए स्मरण का

अनुभूति रसकोटि की होगी, किसी भूली बात का स्मरण वा कहीं रखी हुई वस्तु का स्मरण रसात्मक न होगा। आचार्य शुक्ल की मान्यता है कि प्रायः रति, हास और करुणा से संबद्ध स्मरण ही रसात्मक बोध उत्पन्न करने की शक्ति रखता है। वे कहते हैं—"प्रिय का स्मरण बाल्य-काल या यौवन-काल के अतीत जीवन का स्मरण, प्रवास में स्वदेश के स्थलों का स्मरण ऐसा ही होता है।"—(चिन्तामणि, पृष्ठ ३४६)। रति, हास और करुणा के आलंबनों के अतिरिक्त अन्य भावों के आलंबनों के स्मरण में भी आचार्य शुक्ल रसात्मकता स्वीकार करते हैं। पर इस स्थिति में ऐसे आलंबन का होना आवश्यक है जो किसी व्यक्ति विशेष की भाव-सत्ता से नहीं, प्रत्युक्त संपूर्ण नर-जीवन की भाव-सत्ता से संबद्ध हो।

अपनी प्रिय वस्तु और व्यक्ति की स्मृति तो 'मधु में लिपटी हुई' आती ही है, जिस वस्तु और व्यक्ति से हमारा संबंध अतीत में रुचिकर और घनिष्ठ नहीं होता, देश-काल के व्यवधान के कारण उनकी स्मृति भी माधुर्य लिये हुए आती है। 'इस माधुर्य का रहस्य क्या है ?' आचार्य शुक्ल कहते हैं—"जो हो हमें तो ऐसा दिखाई पड़ता है कि हमारी यह काल-यात्रा, जिसे जीवन कहते हैं, जिन-जिन रूपों के बीच से होती चली आती है, हमारा हृदय उन सबको पास समेटकर अपनी रागात्मक सत्ता के अंतर्भूत करने का प्रयत्न करता है। यहाँ से वहाँ तक वह एक भाव-सत्ता की प्रतिष्ठा चाहता है।" —(चिंतामणि, पृष्ठ ३४७)।

यह तो सत्य है कि प्रिय वस्तु और व्यक्ति का स्मरण वा उनकी स्मृति मधुमय होती है। कल्पनाशील व्यक्ति स्मृति की प्रवणता के कारण कभी-कभी अतीत से संबद्ध वस्तु-व्यक्ति को अंतःपट पर लाकर उनसे मिलन का-सा रसात्मक अनुभव करता हुआ उसमें लीन रहता है। प्रश्न यह है कि अरुचिकर वा अप्रिय वस्तु-व्यक्ति की स्मृति मधुमय होती है अथवा नहीं। अप्रिय, अरुचिकर वा ऐसी वस्तुएं, जिनसे हमारा संबंध अतीत काल में नहीं रहता, उनका स्मरण देश-काल के व्यवधान पड़ने पर रसात्मक अवश्य होता है और इसका कारण प्रतीत होता है उनसे देशकालगत विरह के कारण हल्का अवसाद, जो (अवसाद) परिस्थितिवश अवदात वा प्रिय लगता है। अतीत में जिन व्यक्तियों से हम 'चिढ़ते या लड़ते झगड़ते थे' उनमें से उन्हीं की स्मृति का अनुभव हम रस सिक्त रूप में करते हैं जिनका संबंध हमसे इस रूप में होते हुए भी प्रिय का-सा अपरिहार्य और स्वाभाविक वा 'हेतुज्ञानशून्य' होता है। शत्रु का स्मरण हमें मधुर नहीं लगता। यहाँ हम उन व्यक्तियों की चर्चा नहीं कर रहे हैं जो ऋषि-मुनिवत् होते हैं, सांसारिकों की बात कह रहे हैं। देश-काल के व्यवधान के कारण शुद्ध हृदय वाला व्यक्ति शत्रु की स्मृति का अनुभव भी

रसात्मक रूप में कर सकता है यदि वह (शत्रु) करुणा वा हास का आलंबन बने। यहाँ इसका ध्यान अवश्य रहना चाहिए कि स्मरणकर्ता विशुद्ध हृदय वाला व्यक्ति हो।

स्मृति के दूसरे रूप प्रत्यभिज्ञान में भी—जो प्रत्यक्ष के आधार पर स्थित रहता है, जिसमें प्रत्यक्ष का अंश न्यून रहता है और स्मरण का अंश अत्यधिक—काव्य की भाँति ही रसात्मक बोध कराने की तीव्र शक्ति होती है। किसी वस्तु और व्यक्ति के प्रत्यक्ष होने पर उनसे संबद्ध अतीत के अनेक व्यक्ति, व्यापार, भाव, विचार आदि का स्मरण हो आता है, यही प्रत्यभिज्ञान वा पहचान है। आचार्य शुक्ल का कथन है कि प्रत्यभिज्ञान की प्रक्रिया द्वारा रस-संचार का विधान वक्ता और कविगण भी किया करते हैं। ऐसी स्थिति में प्रायः सुख-समृद्धि के पश्चात् दुःख-दारिद्र्य, दैन्य आदि की दशा के आधार पर प्रत्यभिज्ञान का विधान विशेष कारुणिक होता है।

प्रत्यभिज्ञान द्वारा रस-बोध

ऊपर रसात्मक विशुद्ध स्मृति और प्रत्यभिज्ञान की विवेचना हुई है, जिनमें रसात्मकता का प्रधान कारण अतीत में प्रत्यक्षीभूत वस्तु, व्यक्ति, व्यापार आदि होते हैं। आचार्य शुक्ल 'स्मृत्याभास-कल्पना' में भी रस-संचार करने की शक्ति स्वीकार करते हैं। यह स्मृत्याभास-कल्पना है क्या? इससे आचार्य शुक्ल का अभिप्राय है उस प्रकार की कल्पना का "जो स्मृति वा प्रत्यभिज्ञान का-सा रूप धारण करके प्रवृत्त होती है।"—(चिंतामणि, पृष्ठ ३५०)। इस प्रकार से प्रयुक्त स्मृति और प्रत्यभिज्ञान का संबंध अतीत में देखे वस्तु-व्यक्तियों से नहीं, प्रत्युत या तो भूत काल में सुने वा पढ़े गए वस्तु-व्यक्तियों से अथवा अनुमान द्वारा पूर्णतः निश्चित वस्तु-व्यक्तियों से होता है। अभिप्राय यह है कि इस प्रकार के रसात्मक बोध में प्रत्यक्षीभूत बातों का आधार नहीं लिया जाता, इनमें ऐसी बातों का आधार होता है जो या तो कहीं सुनी गई हैं वा पढ़ी अथवा जो पूर्णतः अनुमित हैं। इस प्रकार के रसात्मक बोध की प्रक्रिया में कल्पना का प्रमुख हाथ होता है, यह बात भी स्पष्ट हो जानी चाहिए। स्मृति द्वारा रस-संचार होता है, यह तो हमें विदित है। आचार्य शुक्ल के मतानुसार "अतीत की कल्पना भावुकों में स्मृति की-सी सजीवता प्राप्त करती है और कभी-कभी अतीत का कोई बचा हुआ चिह्न पाकर प्रत्यभिज्ञान का-सा रूप ग्रहण करती है।" (चिंतामणि, पृष्ठ ३५०—३५१)। इस उद्धरण से स्पष्ट है कि आचार्य शुक्ल की दृष्टि से स्मृति और अतीत की कल्पना में, भावुकों के लिए, कोई भेद नहीं है, दोनों

स्मृत्याभास-कल्पना द्वारा रस-सञ्चार

मार्मिक प्रभाव का कारण वे यह बतलाते हैं कि वह सत्य के आधार पर स्थित है। यहाँ 'सत्य' से आचार्य शुक्ल का तात्पर्य 'केवल वस्तुतः घटित वृत्त' से ही नहीं प्रत्युत 'निश्चयात्मकता से प्रतीत वृत्त' से भी है। कहना न होगा कि इस 'निश्चयात्मकता से प्रतीत वृत्त' का आधार वह 'विश्वास' होता है जिसके मूल में परंपरा से सुनी और पढ़ी बातें निहित रहती हैं। पर निश्चयात्मकता में सर्वथा विपरीत प्रमाणों द्वारा धक्का लगने पर सजीव कल्पना न जागरित होगी। स्मृतिस्वरूपा कल्पना जगाने के लिए यह आवश्यक है कि चाहे आप्त वचन वा इतिहास द्वारा अपुष्ट वृत्त ही हो, पर कल्पना के आश्रय को उस पर विश्वास होना चाहिए। ऊपर हम देख चुके हैं कि स्मृत्याभास कल्पना का आधार दो वस्तुएं होती हैं, एक तो सुनी वा पढ़ी बातें, जिनका संबंध आप्त वचन वा इतिहास से होता है और दूसरा शुद्ध अनुमान।

इतिहासाधृत स्मृत्याभास कल्पना द्वारा रसानुभूति

आचार्य शुक्ल के इस पक्ष का निर्देश हम कर चुके हैं कि स्मृत्याभास कल्पना द्वारा भी रसात्मक अनुभूति होती है। इतिहास (आप्त शब्द वा वचन) के आधार पर स्थित इस कल्पना में भी यह (रसात्मक अनुभूति) निहित है। इतिहास वस्तुतः अतीत मानव तथा उसके जीवन में घटित अनेक क्रिया-कलापों का संग्रह ही है। जैसे एक व्यक्ति का अतीत से संबंध होता है वैसे ही इतिहास का संबंध समष्टिगत मानव से है। इतिहास को पूर्णतः (एज ए होल) ग्रहण करने से विदित होता है कि वह अतीत के अनेक नर-जीवन का समष्टि रूप है, जैसा कि व्यक्तिगत अतीत नर-जीवन का संबंध व्यष्टि से होता है। हमें यह भी विदित है कि अतीत की स्मृति रसात्मक होती है, अतः अतीत से संबद्ध इतिहास के संकेत पर चलती स्मृत्याभास कल्पना में भी रस-संचार की शक्ति की मान्यता आचार्य शुक्ल द्वारा अनुपयुक्त नहीं प्रतीत होती। जैसे अतीत की स्मृति में मानव-हृदय को लीन करने की शक्ति होती है वैसे ही इतिहास पर आधृत स्मृति की समानधर्मिणी कल्पना में भी समष्टि रूप में अतीत नर-जीवन के साथ तादात्म्य स्थापित करने की क्षमता है।

प्रत्यभिज्ञानाधृत स्मृत्याभास कल्पना द्वारा रस-सञ्चार

कभी-कभी यह कल्पना प्रत्यभिज्ञान का रूप धारण करके भी मार्मिकता की सृष्टि करती है। जैसे इतिहास के व्यक्ति, वस्तु, व्यापार आदि को कल्पना में लाकर हम उनमें लीन होते हैं, वैसे ही किसी प्रसिद्ध ऐतिहासिक स्थल का दर्शन करके हम उस स्थल के व्यक्ति, वहाँ घटित घटनाओं आदि का कल्पना के साहाय्य से स्मरण करके उनमें लीन होते हैं और रस को अनुभव करते हैं। इस प्रत्यभिज्ञान द्वारा रसानुभूति के लिए सूक्ष्म ऐतिहासिक अध्ययन, गहरी भावुकता तथा तीव्र कल्पना-शक्ति

अपेक्षित है, जिसके द्वारा अधिक ऐतिहासिक ब्यौरे का मूर्त विधान होगा, जिनमें तादात्म्य की क्षमता होती है। आचार्य शुक्ल का कथन है कि "आप्त वचन या इतिहास के संकेत पर चलनेवाली कल्पना या मूर्त भावना अनुमान का भी सहारा लेती है।"—(चिंतामणि, पृष्ठ ३५३)।

इतिहास पर आधृत स्मृत्याभास कल्पना और प्रत्यभिज्ञानाधृत स्मृत्याभास कल्पना पर विचार हुआ। अब उस स्मृत्याभास कल्पना का विचार करना है जो शुद्ध अनुमान के आधार पर चलती है। यहाँ इसका संकेत कर देना आवश्यक है कि अनुमान बिना प्रत्यक्ष व्यक्ति, वस्तु आदि के नहीं हो सकता, अतः इस कल्पना में भी प्रत्यभिज्ञान की प्रक्रिया अपेक्षित है। किसी अपरिचित ध्वंसावशेष को देखकर भावुक व्यक्ति उसमें घटित अतीत क्रीड़ा-कलरव, हास-विलास, चहल-पहल आदि का अनुभव अनुमानाश्रित कल्पना के आधार पर करता है और उसमें लीन होता है। पहले किसी अपरिचित प्रत्यक्ष वस्तु का दर्शन होता है, फिर इसी प्रत्यक्ष दर्शन के आधार पर अनुमान का सहारा लेकर कल्पना रूप-विधान करती है, जिसमें हृदय लीन होता है। इस प्रक्रिया से स्पष्ट है कि अनुमानाश्रित प्रत्यभिज्ञानरूपा कल्पना रस-संचार के उपयुक्त है। आचार्य शुक्ल कहते हैं कि इस प्रकार खड़े "रूप और व्यापार हमारे जिस मार्मिक रागात्मक भाव के आलंबन होते हैं उसका हमारे व्यक्तिगत योग-क्षेम से कोई सम्बन्ध नहीं, अतः उसकी रसात्मकता स्पष्ट है।"—(चिंतामणि, पृष्ठ ३५३)।

शुद्ध अनुमानाश्रित स्मृत्याभास कल्पना द्वारा रसानुभूति

ऊपर 'स्मृत रूप-विधान' की रसात्मकता का विवेचन हुआ है। इससे स्पष्ट है कि इसका सम्बन्ध प्रधानरूपेण अतीत से ही है। प्रश्न उठता है कि क्या अतीत वृत्त में रसात्मकता की स्थिति है? आचार्य शुक्ल कहते हैं—हाँ। उनके मतानुसार अतीत की स्मृति में मनुष्य के लिए जो स्वाभाविक आकर्षण है, वह मुक्ति लोक है, जहाँ मानव अनेक बंधनों से छूटकर अपने विशुद्ध रूप में विचरता है। और हम यह देख चुके हैं कि आचार्य शुक्ल हृदय की मुक्तावस्था को ही रसानुभूति की अवस्था मानते हैं। इस विवेचन से यह भी स्पष्ट है कि प्रत्यक्ष स्मृत रूप-विधान में भी रसात्मक बोध की शक्ति है, जो आचार्य शुक्ल की मौलिक मान्यता है।

रसात्मक बोध के एक और रूप की विवेचना करनी है। आचार्य शुक्ल के प्रकृति-प्रेम की चर्चा हम कई स्थलों पर कर चुके हैं। वे काव्य में यथातथ्य संश्लिष्ट प्रकृति-वर्णन के कितने बड़े समर्थक हैं, यह बात किसी पर अप्रकट नहीं है। उनकी धारणा है कि प्रत्यक्ष प्रकृति-दर्शन तथा काव्यगत यथातथ्य संश्लिष्ट प्रकृति-

वर्णन दोनों में रसात्मक बोध की क्षमता विद्यमान है। यह तो सर्वमान्य है कि आज की नागरिक सभ्यता ग्राम, वन, पर्वत आदि प्रकृति की विभूति में बसकर इस रूप में दिखाई पड़ रही है। अभिप्राय यह कि आज के नगर-निवासियों के पूर्वज कभी ग्राम, वन, पर्वत पर निवास करते थे, जहाँ प्रकृति का साम्राज्य तब भी छाया रहता था और वह (साम्राज्य) अब भी किन्हीं रूपों में अक्षुण्ण है। निष्कर्ष यह कि प्रकृति से हमारा साहचर्य बहुत ही प्राचीन है। साहचर्य द्वारा हेतुज्ञानशून्य प्रेम की सृष्टि होती है। अतः प्रकृति से हमारे प्रेम की स्थापना स्वाभाविक है। आचार्य शुक्ल का कथन है कि प्रकृति-प्रेम हमारे अन्तःकरण में वासना के रूप में वंश-परम्परा से विद्यमान है। ऐसी स्थिति में प्रकृति का, हमारे प्रेम भाव का आलंबन होकर, रसानुभूति कराना स्वाभाविक ही है।

प्रत्यक्ष प्रकृति-दर्शन द्वारा रस-बोध

ऊपर हमने कहा है कि आचार्य शुक्ल प्रकृति को लेकर दो स्थितियों में रसानुभूति का प्रतिपादन करते हैं, एक प्रत्यक्ष प्रकृति-दर्शन में और दूसरे काव्यगत यथातथ्य संश्लिष्ट प्रकृति-वर्णन में। प्रत्यक्ष प्रकृति-दर्शन में रसानुभूति प्रत्यक्ष रूप-विधान में रसानुभूति के अतिरिक्त और कुछ नहीं है, जिसकी विवेचना हम पहले कर चुके हैं। यहाँ इस विषय में यह उद्धरण ही अलम् होगा—"मैंने पहाड़ों पर या जंगलों में घूमते समय बहुत-से ऐसे साधु देखे हैं, जो लहराते हुए हरे-भरे जंगलों, स्वच्छ शिलाओं पर चाँदी से ढलते हुए झरनों, चौकड़ी भरते हुए हिरनों और जल को झुककर चूमती हुई डालियों पर कलरव कर रहे विहंगों को देख कर मुग्ध हो गए हैं। काले मेघ जब अपनी छाया डालकर चित्रकूट के पर्वतों को नील-वर्ण कर देते हैं, तब नाचते हुए नीलकंठों (मोरों) को देखकर सभ्यताभिमान के कारण शरीर चाहे न नाचे, पर मन अवश्य नाचने लगता है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि ऐसे दृश्यों को देखकर हर्ष होता है। हर्ष एक संचारी भाव है। इसलिए यह मानना पड़ेगा कि उसके मूल में रति-भाव वर्तमान है, और वह रति-भाव उन दृश्यों के प्रति है।"—(काव्य में प्राकृतिक दृश्य)।

अब काव्यगत प्रकृति-वर्णन में रसात्मक बोध उत्पन्न करने की क्षमता पर विचार करना है। ऊपर के उद्धरण से स्पष्ट है कि प्रत्यक्ष प्रकृति-दर्शन में रसानुभूति की प्रक्रिया के अंतर्गत प्रकृति-दर्शन के रति-भाव का आलंबन है। प्रकृति का यथातथ्य संश्लिष्ट चित्रण जब काव्य में होगा तब भी प्रकृति कवि के रति-भाव का आलंबन रहेगी, क्योंकि वह (कवि) उसके प्रति प्रेम के कारण ही उसका वर्णन करता है; और जब

काव्यगत यथातथ्य-संश्लिष्ट प्रकृति-चित्रण द्वारा रस-बोध

पाठक वा श्रोता इसको पढ़े या सुनेगा तब उसके लिए भी यह आलंबन हो रहेगी, भाव का आश्रय वह, कवि की भाँति, स्वयं होगा। तात्पर्य यह है कि कवि, पाठक और श्रोता तीनों की दृष्टि से प्रकृति आलंबन ठहरती है। यहीं उन विषयों का भी समाधान हो जाना चाहिए जो प्रकृति को आलंबन के रूप में ग्रहण करने पर उठ सकते हैं। पहला प्रश्न तो यह उठता है कि जब रसानुभूति के लिए विभाव पक्ष—आश्रय और आलंबन—के पूरे चित्रण की आवश्यकता साहित्य-शास्त्र में उल्लिखित है तब केवल आलंबन के चित्रण द्वारा रसानुभूति कैसे होगी ? इस विषय में आचार्य शुक्ल का कथन यह है कि प्रकृति को लेकर विभाव, अनुभाव और संचारी से पुष्ट भाव-व्यञ्जना भी हो सकती है, पर "मैं आलंबन-मात्र के विशद वर्णन को श्रोता में रसानुभव (भावानुभव सही) उत्पन्न करने में पूर्ण समर्थ मानता हूँ।"—(काव्य में प्राकृतिक दृश्य)। उनका मत है कि यदि ऐसा न माना जायगा तो 'नायिका-भेद' और 'नख-शिख' के सैकड़ों ग्रन्थों की रचना व्यर्थ समझनी पड़ेगी, जिनमें आलंबन वा उसके किसी-अंग मात्र का ही वर्णन होता है। विचार करने पर आचार्य शुक्ल का पक्ष बहुत सटीक प्रतीत होता है, क्योंकि ऐसी स्थिति में कवि आश्रय के रूप में अपने को स्थित करके उनका वर्णन तो करता ही है, श्रोता और पाठक भी उनको पढ़ते समय या तो स्वयं आश्रय बन जाता है अथवा किसी आश्रय की कल्पना कर लेता है। साहित्य-शास्त्र के ग्रन्थों में रस के सभी अवयवों की नियोजना के पश्चात् रस-निष्पत्ति की स्थापना का भी कारण है। वह यह कि रस-सिद्धांत की विवेचना करते समय आचार्यों के सम्मुख दृश्य काव्य ही थे, जिनमें रस के सभी अवयवों की नियोजना हो सकती है। पर पाठ्य काव्यों द्वारा भी रसानुभूति होती है जिनमें कभी-कभी आलंबन के चित्रण-मात्र से रस-निष्पत्ति हो सकती है, क्योंकि इस अवस्था में पाठक वा श्रोता आश्रय का आक्षेप कर लेता है। अतः इस विषय में आचार्य शुक्ल की स्थापना (थीयरी) युक्ति-संगत है।

प्रकृति को आलंबन-रूप में ग्रहण करने में दूसरे विवाद की आशंका यह है कि साहित्य-शास्त्रों में प्रकृति उद्दीपन के रूप में ही गृहीत है, आलंबन के रूप में नहीं; अतः यह सिद्धान्त उचित नहीं। ऐसे लोगों का पक्ष यह है कि आलंबन का चेतनायुक्त या सजीव होना आवश्यक है, जिससे वह आश्रय के भावों का ग्रहण (रिस्पांस) कर सके। और प्रकृति जड़ है, ऐसी स्थिति में रसानुभूति संभव नहीं। आचार्य शुक्ल के पक्ष से यह कहा जा सकता है कि वीभत्स रस में घृणा का आलंबन जड़ भी होता है और उसके द्वारा रस-प्रतीति होती है, अतः आलम्बन के जड़त्व को

लेकर विवाद उपस्थित करना ठीक नहीं। कहना न होगा कि यह विवाद भी दृश्य-काव्य को ही लेकर है। फिर प्रकृति के यथातथ्य संश्लिष्ट चित्रण में जड़ समझी जाने वाली प्रकृति ही, जिसमें पेड़, पौधे आदि आते हैं, उपयोग में नहीं आती, उसमें उसके सजीव प्राणियों का भी चित्रण मिश्रित रहता है। एक बात और। काव्य के क्षेत्र में वस्तुतः जड़ मानी जाने वाली प्रकृति भी प्रायः जड़ के रूप में नहीं गृहीत होती। प्रकृति पर भावनाओं का आरोप करके कविगण जो उसे सजीव बना देते हैं, उसकी विवेचना हम काव्य और प्रकृति पर विचार करते हुए कर चुके हैं। लक्षण-ग्रन्थों में उद्दीपन के रूप में गृहीत प्रकृति भी सर्वत्र जड़ के रूप में ही चित्रित नहीं होती। वह हँसती, बोलती, सुनती, रूठती-सी भी वर्णित होती है। इस प्रकार हमें विदित होता है कि आचार्य शुक्ल द्वारा प्रतिपादित यह मत कि प्रकृति-दर्शन और वर्णन में रसात्मक बोध की क्षमता है विवेचना करने के पश्चात् ठीक उतरता है।

आचार्य शुक्ल ने रस के कुछ अवयवों पर अपने विचार प्रकट किए हैं, जो हिंदी की परंपरा के विरुद्ध जान पड़ते हैं। पर उनके तद्विषयक विचार संस्कृत के रस-ग्रन्थों से मेल खाते हैं। हिंदी के कुछ रस-चिंतकों ने भी ऐसी बातें कही हैं, जो आचार्य शुक्ल के विचारों के अनुकूल पड़ती हैं। आगे हम इन्हीं पर विचार करें। आचार्य शुक्ल 'हाव' और 'अनुभाव' की भिन्नता प्रतिपादित करते हैं—आलंबन और आश्रय की दृष्टि से। हिंदी के लक्षण-ग्रन्थों में इन्हें एक माना गया है—आश्रय की चेष्टा के रूप में। आचार्य शुक्ल का पक्ष यह है कि आश्रय की चेष्टाएं अनुभाव हैं, और हाव नायिका को रमणीयता देने के लिए अलंकार-मात्र हैं। नायिका आलंबन हुआ करती है, उसकी मनोमोहकता बढ़ाने के लिए जो अलंकार वा हाव उसके रूप-चित्रण में नियोजित किये जायंगे, वे आश्रय के भावों को उद्दीप्त करेंगे। इसलिए हाव का सीधा संबंध आलंबनगत उद्दीपन से है, आश्रयगत अनुभाव से नहीं।—(देखिए काव्य में रहस्यवाद, पृष्ठ ५८–५९ और गोस्वामी तुलसीदास, पृष्ठ १०१-१०२)। विचार करने पर ज्ञात होता है कि आचार्य शुक्ल का पक्ष काव्य शास्त्रानुमोदित है। अनुभाव और हाव की पृथक्-पृथक् विवेचना करने से बात स्पष्ट हो जायगी। इस विषय में विचार करने के पूर्व यह समझ रखना चाहिए कि लक्षण-ग्रन्थों में नायिका प्रायः आलंबन मानी गई है और नायक आश्रय। व्यावहारिक दृष्टि से विचार करने पर विदित होता है कि इनमें विपर्यय भी हो सकता है और होता है। भानुभट्ट ने इस विपर्यय को स्वीकार किया है। उनका कहना है कि कटाक्ष आदि आश्रय के हृदयगत भावों को व्यक्त करने के कारण वा साधन हैं, इस दृष्टि से तो ये अनुभाव

हाव और अनुभाव की भिन्नता

हैं। पर आश्रय की इन चेष्टाओं को देखकर आलंबन के हृदय के भाव उद्दीप्त होते हैं, ये चेष्टाएं आलंबन के भावों का विषय बनती हैं, इस दृष्टि से कटाक्ष आदि चेष्टाएं उद्दीपन हैं[1]। हिन्दी में गुलाम नबी ने अपने 'रस-प्रबोध' में इस विषय में ऐसी ही बातें कही हैं[2]। अभिप्राय यह है कि अनुभाव का संबंध सदैव भाव के आश्रय से होता है, इसमें किसी प्रकार विपर्यय नहीं उपस्थित होता। अनुभाव विषय-भेद से उद्दीपन के रूप में ग्रहण किया जाय, यह दूसरी बात है। आलंबन की चेष्टाएं कभी अनुभाव के रूप में ग्राह्य नहीं हो सकतीं। अनुभाव के विषय में आचार्य शुक्ल यही कहते हैं।

ऊपर हमने देखा कि हाव को आचार्य शुक्ल आलंबन से संबद्ध उद्दीपन के रूप में ग्रहण करते हैं, जो उसका आलंबन होता है। वे आश्रय से इसका संबंध नहीं स्वीकार करते। अतः वह अनुभाव के समकक्ष नहीं रखा जा सकता, जैसा कि हिंदी के लक्षण ग्रंथकार कवि मानते हैं। भानुभट्ट हाव के विषय में वैसी ही बातें कहते हैं, जैसी कि आचार्य शुक्ल। उनका कहना है कि स्त्रियों की शृङ्गारिक चेष्टाएं हाव हैं। ये स्त्रियों में स्वभावज हैं। पुरुषों में हाव स्वाभाविक नहीं प्रत्युत औपाधिक है[3]। और इसका हम निर्देश कर चुके हैं कि काव्य-शास्त्रीय ग्रन्थों में नायिका आलंबन के रूप में गृहीत होती है। अतः हाव आलंबनगत है, अनुभाव से इसका कोई संबंध

---

[1]ननु कटाक्षादयः कथमुद्दीपनविभावा न भवन्ति दृष्टे कटाक्षादौ कामिनोर्मनोविकारः परिपूर्णो भवति। अनुभवसिद्धत्वेनापह्नोतुमशक्यत्वात्। किंच, प्राचीनसंमतिरपि......इत्यादयः इति चेत्। सत्यम्, कटाक्षादीनां करणत्वेनानुभावकत्वम्, विषयत्वेनोद्दीपनविभावत्वम्, तथा चात्मनि रसानुभव-करणत्वेन नायकं प्रति कटाक्षादयोऽनुभावाः। ते च दृष्टिगोचरीभूतः कामिनोर्मनोविकारं कारयन्तो विषयत्वेनोद्दीपनविभाव इति।

रस-तरंगिणी, तृतीय तरंग।

[2]तन विभचारिन बिछिति हव, ये सब सात्विक भाव।
भावै परगट करन हित गने जात अनुभाव॥
नारी औ नर करत हैं जो अनुभाव उदोत।
ते वै दूजे और को नित उद्दीपन होत॥ ५७५–७६॥

—पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र-कृत 'वाङ्मय-विमर्श', पृष्ठ २९८ से उद्धृत।

[3]नारीणाँ शृङ्गारचेष्टा हावः। स च स्वभावजो नारीणाम्। ननु विब्वोकविलासविच्छित्ति-विभ्रमाः पुरुषाणामपि संभवन्तीति चेत्। सत्यम्, तेषान्त्वौपाधिकाः स्वभावजाः स्त्रीणामेव। नन्वेवं यदि तासां सदैव ते कथं न भवन्तीति चेत्। सत्यम, उद्दीपकान्वयव्यतिरेकाभ्यां नायिकानां हावाविर्भाव-तिरोभावाविति।

—रस-तरंगिणी, षष्ठ तरंग

नहीं। इस प्रकार हम देखते हैं कि अनुभाव और हाव की भिन्नता के विषय में आचार्य शुक्ल का विचार युक्तियुक्त और स्पष्ट है।

'उत्साह' आलंबन के विषय में आचार्य शुक्ल की मान्यता यह है कि वह (आलंबन) "कोई विकट या दुष्कर 'कर्म' ही होता है।"—(गोस्वामी तुलसीदास, पृष्ठ ११३)। शास्त्रीय ग्रन्थों में युद्ध वीर के आलंबन के रूप में

उत्साह का आलंबन विजेतव्य निर्धारित किया गया है, जो शत्रु हुआ करता है।

दुष्कर कर्म 'उत्साह' के आलंबन के विषय में आचार्य शुक्ल ने धनुष-यज्ञ का प्रसंग लेकर विचार किया है, जहाँ धनुष ही विजेतव्य है। उनका कहना है कि धनुष तो शत्रु की भाँति ललकार नहीं रहा है। अतः उत्साह का आलंबन दुष्कर कर्म होता है। जहाँ तक जड़ आलंबन का संबंध है आचार्य शुक्ल का पक्ष बहुत ही ठीक है, पर चेतन आलंबन के उपस्थित होने पर साहित्य ग्रन्थों के पक्ष की अवमानना भी नहीं की जा सकती। हाँ, उत्साह का भाव जागरित होने पर कुछ कठिन कार्य करने का लक्ष्य अवश्य होता है, यह बात दूसरी है कि कार्य को हाथ में ले लेने पर वह हमारी शक्ति द्वारा सरल प्रतीत हो।

संचारी भावों पर विचार करते हुए आचार्य शुक्ल ने यह कहा है कि एक संचारी भाव दूसरे संचारी भाव का स्थायी भाव बनकर आ सकता है। उनका मत है कि कोई संचारी भाव विभाव, अनुभाव और संचारी से युक्त होकर

संचारी भाव का स्थायी भावत्व स्थायी भाव का-सा अनुभव करा सकता है, पर यह ऐसा स्थायी भाव न होगा जो रसावस्था तक पहुँचा सके। उनके कहने का अभिप्राय यह कि संचारियों के इस प्रकार के विधान द्वारा उनके स्थायी भावों की अनुभूति दबकर उन्हीं की अनुभूति होती है। अतः ये स्वतंत्र रूप से अपना कार्य करके रसावस्था के आस-पास तक पहुँचाने का प्रयत्न करते हैं। रति के के संचारी असूया और अमर्ष को वे इसी कोटि में रखते हैं।—(देखिए जायसी-ग्रन्थावली, पृष्ठ १३४—३५)। साहित्य-ग्रन्थों में भी संचारियों की ऐसी विवेचना हुई है। अतः यह न समझना चाहिए कि उन्होंने परंपरा-विरुद्ध कोई बात कही है।

'काव्य में लोक-मंगल की साधनावस्था' पर विचार करते हुए आचार्य शुक्ल ने कहा है कि किसी प्रबन्ध-काव्य के प्रधान पात्र वा नायक में कोई मूल प्रेरक भाव वा बीज भाव की स्थिति रहती है जिसकी प्रेरणा से काव्य का

बीज भाव कार्य-व्यापार चलता है। इस बीज की प्रेरणा से ही अन्य भावों का भी स्फुरण होता है। प्रधान पात्रगत इस बीज भाव का कार्य वैसा ही है जैसा कि आश्रयगत स्थायी भाव का, जिससे अनेक संचारी भाव संबद्ध

हैं। आचार्य शुक्ल की धारणा है कि बीज भाव प्रायः करुणा और प्रेम होता है। बीज भाव वा मूल प्रेरक भाव की प्रेरणा से कोमल और परुष दोनों प्रकार के भावों की अवतारणा काव्य में हो सकती है, और बीज भावों का सम्बन्ध यदि लोक के मंगल-विधान से होता है तो परुष वा कठोर भाव भी सुन्दर प्रतीत होते हैं। जिस पात्र में इस प्रकार के बीज भाव की स्थापना रहती है उसके साथ श्रोता, पाठक या दर्शक का तादात्म्य होता है, वह उससे सहानुभूति रखता है। यहाँ ध्यान यह रखना चाहिए कि बीज भाव को 'व्यापकता' तथा 'निर्विशेषता'—अर्थात् अधिक-से-अधिक लोक-मंगल की भावना तथा अपनत्व के अधिक-से-अधिक त्याग—के कारण ही उसमें तादात्म्य उत्पन्न करने की अधिक-से-अधिक शक्ति होगी। आचार्य शुक्ल ने इस बीज भाव को साहित्य-ग्रन्थों में विवेचित स्थायी भाव और अंगी भाव से भिन्न माना है। इसकी भिन्नता पर विचार कर लेना चाहिए। उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि बीज भाव द्वारा काव्य के उसी लक्ष्य की सिद्धि होती है। जिसका सम्बन्ध रस की मध्यम दशा से, अर्थात् बीज भाव काव्यगत शील-चित्रण (कैरेक्ट-राइजेशन) से है, जिसके द्वारा, आचार्य शुक्ल के मतानुसार, रस की मध्यम कोटि की अनुभूति होती है। और स्थायी भाव की सफल नियोजना द्वारा रस की पूर्ण दशा वा उत्तम दशा की अनुभूति होती है। इस प्रकार लक्ष्य-भेद से स्थायी भाव तथा बीज भाव में भेद प्रतिपादित किया गया है—ऐसा प्रतीत होता है, क्योंकि इनमें भेद की विवेचना स्वयं आचार्य शुक्ल ने नहीं की है। अब अंगी भाव और बीज भाव के भेद पर विचार करना चाहिए। अंगी भाव से आचार्य शुक्ल का अभिप्राय साहित्य-शास्त्र में कथित अंजित (वा प्रधान रूप में व्यंजित) व्यभिचारी वा संचारी भाव से प्रतीत होता है, जो स्वतन्त्र रूप में भी विभाव, अनुभाव, संचारी भाव से युक्त होकर व्यंजित हो सकता है; और जिसकी अनुभूति श्रोता पाठक वा दर्शक को रस की पूर्णावस्था तक नहीं पहुँचाती। इसकी विवेचना हम ऊपर कर चुके हैं। बीज भाव की अनुभूति रस की मध्यम दशा की अनुभूति है, इसे हम देख चुके हैं, और इस अंगी भाव की अनुभूति रसावस्था तक जा ही नहीं सकती, अतः अंगी तथा बीज भाव का भेद लक्ष्यदृष्ट्या स्पष्ट है।

आचार्य शुक्ल के रस-सिद्धान्त पर विचार करते हुए हमारी दृष्टि प्रायः ऐसे ही विषयों पर रही है जिन पर उनकी मौलिक उद्भावनाएं हैं। इसका अभिप्राय यही है कि उनकी उपज्ञात प्रतिभा (औरिजिनल जीनियस) का उद्घाटन हो जाय।

हिन्दी-आलोचना-क्षेत्र में आचार्य शुक्ल द्वारा किये गए कार्यों की विवेचना

आलोचना के क्षेत्र में आचार्य शुक्ल का स्थान

करते हुए हमारी दृष्टि यथास्थान इस क्षेत्र में उनके ऐतिहासिक महत्त्व, उनकी उपज्ञात साहित्य-चिन्तना-शक्ति, उनकी विषय-विधान-विशिष्टता वा पटुता (एफिसिएन्सी) तथा ऐसी ही उनकी अन्य विशेषताओं पर रही है । आचार्य शुक्ल उन आलोचकों में थे जो अपना मौलिक प्रस्थान स्थापित करते हैं, स्थापित प्रस्थान से चलकर सुलझी बुद्धि और परिष्कृत हृदय द्वारा साहित्य-चिन्तना के शिष्ट लक्ष्य तक पहुँचते हैं, और निर्णीत लक्ष्य को दृष्टि-पथ में रखकर इतना प्रभूत और मान्य (कन्विंसिंग) कार्य कर जाते हैं कि साहित्य पर उनकी अमिट छाप पड़ जाती है, अनेक साहित्यकार उनके अनुगामी हो जाते हैं । आचार्य शुक्ल की आलोचनाओं ने हिन्दी-साहित्य को मौलिकता तथा आत्म-निर्भरता देकर उसे कितना ऊँचा उठाया, उसका कितना परिष्कार किया, वह (हिन्दी-साहित्य) उन (आलोचनाओं) से कितना प्रभावित हुआ, यह किसी पर अप्रकट नहीं है । वे इस पर अपनी अमिट छाप छोड़ गए हैं । हमें विदित है कि हिन्दी में आलोचना का शुक्ल-संप्रदाय (स्कूल) भी है, जिसका कार्य आचार्य शुक्ल के पथ पर चलकर उनकी मान्यताओं का प्रतिपादन, समर्थन और विकास करना है । इस संप्रदाय के प्रमुख और मान्य आलोचकों में पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र और पं० कृष्णशंकर शुक्ल का नाम लिया जा सकता है । आचार्य शुक्ल की आलोचना से वे भी प्रभावित हुए जिनका लक्ष्य उनसे कुछ भिन्न है । मेरा अभिप्राय छायावाद-युग के कुछ शिष्ट आलोचकों से है, जिनके अग्रणी हैं पं० नंददुलारे वाजपेयी । ये लोग भी प्रत्यक्षतः वा परोक्षतः आचार्य शुक्ल के प्रभाव से नहीं बच सके, और कुछ तो उनका प्रभाव स्पष्टतः स्वीकार करते हैं । हम कहना यह चाहते हैं कि आचार्य शुक्ल ने संपूर्ण हिन्दी-साहित्य को प्रभावित किया —अपनी मौलिक प्रतिभा द्वारा । यह तो हुआ हिन्दी-साहित्य-क्षेत्र में उनका कार्य । भारत के अन्य साहित्य के आलोचकों को दृष्टि में रखकर जब हम आचार्य शुक्ल पर विचार करते हैं तब विदित होता है कि उनके बीच भी वे एक रत्न की भाँति जगमगा रहे हैं ।

१०. आचार्य शुक्ल के दो काव्याभिमत

डॉक्टर नगेन्द्र

(क)

काव्यत्व का अधिवास—वाच्यार्थ में या व्यंग्यार्थ में ?

"अब प्रश्न यह है कि काव्य की रमणीयता किसमें रहती है ? वाच्यार्थ में अथवा लक्ष्यार्थ या व्यंग्यार्थ में ? इसका बेधड़क उत्तर यही है कि वाच्यार्थ में, चाहे वह योग्य और उपपन्न हो, अथवा अयोग्य और अनुपपन्न।"

('चिन्तामणि' भाग २, पृष्ठ १६६)

विवेचना

आचार्य शुक्ल ने काव्य के विषय में एक अत्यंत महत्त्वपूर्ण तथा रोचक प्रश्न उठाया है : काव्यत्व वाच्यार्थ में रहता है या व्यंग्यार्थ में ? अपने इन्दौर के भाषण में उन्होंने कहा है :

"वाच्यार्थ के अयोग्य और अनुपपन्न होने पर योग्य और उपपन्न अर्थ प्राप्त करने के लिए लक्षणा और व्यंजना का सहारा लिया जाता है। अब प्रश्न यह है कि काव्य की रमणीयता किसमें रहती है ? वाच्यार्थ में अथवा लक्ष्यार्थ में या व्यंग्यार्थ में ? इसका बेधड़क उत्तर यही है वाच्यार्थ में, चाहे वह योग्य हो वा उपपन्न हो अथवा अयोग्य और अनुपपन्न।"

इसके आगे उन्होंने साकेत से दो उदाहरण दिये हैं:

१. जीकर हाय पतंग मरे क्या ?

इसमें भी यही बात है। जो कुछ वैचित्र्य या चमत्कार है वह इस अयोग्य और अनुपपन्न वाक्य या उसके वाच्यार्थ में ही है । इसके स्थान पर यदि इसका यह लक्ष्यार्थ कहा जाय कि जीकर पतंग क्यों कष्ट भोगे तो कोई वैचित्र्य या चमत्कार नहीं रह जायगा।

अथवा

२. आप अवधि बन सकूँ कहीं तो क्या कुछ देर लगाऊँ ?
मैं अपने को आप मिटाकर जाकर उनको लाऊँ॥

इसका वाच्यार्थ बहुत ही अत्युक्त, व्याहत तथा बुद्धि को सर्वथा अग्राह्य है। उर्मिला आप ही मिट जायगी, तब अपने प्रियतम लक्ष्मण को वन से लायगी क्या ?

पर सारा रस, सारी रमणीयता इसी व्याहत और बुद्धि को अग्राह्य वाच्यार्थ में ही है, इस योग्य और बुद्धि-ग्राह्य व्यंग्यार्थ में नहीं कि उर्मिला को अत्यन्त औत्सुक्य है। इससे स्पष्ट है कि वाच्यार्थ ही काव्य होता है, व्यंग्यार्थ व लक्ष्यार्थ नहीं।

शुक्ल जी के मुख से यह सुनकर साधारणतः हिन्दी का विद्यार्थी आश्चर्य-चकित हो सकता है। ऐसा लगता है मानो जीवन-भर चमत्कार का उग्र विरोध करने के उपरान्त अंत में आचार्य ने उससे समझौता कर लिया हो। स्वयं शुक्ल जी के ही अपने लेखों से अनेक ऐसे वाक्य उद्धृत किये जा सकते हैं जिनमें इसके विपरीत मन्तव्य प्रकट किया गया है। पं० रामदहिन मिश्र ने उनका हवाला देते हुए, तथा अनेक शास्त्र-सम्मत युक्तियों के द्वारा शुक्ल जी के अभिमत का निषेध किया है और अंत में इस शास्त्रोक्त मत की ही स्थापना की है कि काव्यत्व व्यंग्यार्थ में है वाच्यार्थ में नहीं।

परन्तु शुक्ल जी द्वारा उठाया गया प्रश्न इतना सरल नहीं है। वास्तव में शुक्लजी की प्रतिभा का सबसे बड़ा गुण यही था कि उन्होंने परम शास्त्र-निष्ठ होते हुए भी प्रमाण सदा अपनी बुद्धि और अनुभूति को ही माना था। वे किसी प्राच्य अथवा पाश्चात्य सिद्धान्त को स्वीकार करने से पूर्व उसे अपने विवेक और अनुभूति की कसौटी पर कसकर देख लेते थे। किसी रसात्मक वाक्य को पढ़कर हमें जो आनन्दानुभूति होती है, उसके लिए उस वाक्य का कौन-सा तत्त्व उत्तरदायी है? उस वाक्य का वाच्यार्थ, जिसमें शब्दार्थ-गत चमत्कार रहता है अथवा व्यंग्यार्थ, जिसमें प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से भाव की रमणीयता रहती है? उदाहरण के लिए उपर्युक्त दोनों उद्धरणों को ही लीजिए। उनसे प्राप्त आनन्द के लिए उनका कौन-सा तत्त्व उत्तरदायी है? 'जीकर हाय पतंग करे क्या?' इसमें 'मरे' शब्द का लाक्षणिक प्रयोग 'जीकर' के साथ बैठकर विरोधाभास का चमत्कार उत्पन्न करता है। अतएव जहाँ तक कि इस चमत्कार का सम्बन्ध है, उसका अधिवास वाच्यार्थ में ही है। लक्ष्यार्थ अर्थ को उपपन्न कराकर इस चमत्कार की सिद्धि अवश्य कराता है, परन्तु उसका कारण वाच्यार्थ ही है, लक्ष्यार्थ दे देने से चमत्कार ही नहीं रह जाता। परन्तु अब प्रश्न यह है कि क्या इस उक्ति का सम्पूर्ण सौरस्य इस 'मरे' शब्द और 'जीकर' के उपपन्न या अनुपपन्न अर्थ पर ही आश्रित है। यदि ऐसा है, तो वास्तव में यहाँ पर्याप्त रमणीयता नहीं है, क्योंकि यह विरोधाभास अपने आपमें कोई सूक्ष्म या गहरी आनन्दानुभूति उत्पन्न नहीं करता। इसमें जो सूक्ष्म रमणीयता है—और यह यहाँ स्पष्ट कर देना चाहिए कि इसमें रमणीयता वास्तव में पर्याप्त मात्रा में नहीं है—वह प्रेम की उस उत्कटता (आतिशय्य) पर निर्भर है जो यहाँ लक्ष्यार्थ

का प्रयोजन-रूप व्यंग्य है, और जो अंत में जाकर वक्ता-बोद्धा आदि के प्रकरण से उर्मिला की अपनी रति-जन्य व्यग्रता की अभिव्यक्ति करती है। इस प्रकार इस उक्ति की वास्तविक रमणीयता का सम्बन्ध रति जन्य व्यग्रता से ही है जो व्यंग्य है—और स्पष्ट शब्दों में जो उपर्युक्त लक्ष्यार्थ के प्रयोजन-रूप व्यंग्य का भी व्यंग्य है।

दूसरे उद्धरण में यह तथ्य और भी स्पष्ट हो जायगा, क्योंकि उसमें रमणीयता वास्तव में अधिक है :

आप अवधि बन सकूँ कहीं तो क्या कुछ देर लगाऊँ।
मैं अपने को आप मिटाकर जाकर उनको लाऊँ॥

उर्मिला और लक्ष्मण के बीच अवधि का व्यवधान है। मिलन के लिए इस व्यवधान अर्थात् अवधि को मिटाना आवश्यक है। अवधि साधारणतः तो अपने समय पर ही मिटेगी—तुरन्त मिटना उसका सम्भव नहीं। उर्मिला उसके एक उपाय की कल्पना करती है : वह स्वयं यदि अवधि बन जाय तो उसका अंत करना उसके अपने अधिकार की बात हो जाय। अपने को तो वह तुरंत ही मिटा सकती है और जब अवधि उसका अपना रूप हो जायगी, तो उसके अंत के साथ अवधि का अंत भी हो जायगा। इस तरह व्यवधान मिट जायगा और लक्ष्मण से मिलन हो जायगा। परन्तु जब उर्मिला ही मिट जायगी तो फिर मिलन-सुख का भोक्ता कौन होगा? अतएव अपने को मिटाने का अर्थ यहाँ अपने जीवन का अंत कर लेना न होकर लक्षणा की सहायता से बड़े-से-बड़ा कष्ट भोगना या बड़े-से-बड़ा बलिदान करना आदि ही हो सकता है। किन्तु यह लक्ष्यार्थ देते ही उक्ति में कोई चमत्कार नहीं रह जाता—चमत्कार तो अर्थ की बाह्य अनुपपन्नता परन्तु आन्तरिक उपपन्नता के विरोधाभास में है। फिर भी क्या उक्ति की रमणीयता इसी चमत्कार तक सीमित है? वास्तव में बात इतनी नहीं है। जैसा कि शुक्ल जी ने स्वयं लिखा है इससे उर्मिला का अत्यन्त औत्सुक्य व्यंजित होता है। इस अत्यन्त औत्सुक्य की व्यंजना ही उक्ति की रमणीयता का कारण है—यही पाठक के मन का इस अत्यंत औत्सुक्य के साथ तादात्म्य करके उसमें एक मधुर अनुभूति जगाती है। यही उक्ति की रमणीयता है जो सहृदय को आनन्द देती है। शुक्ल जी का यह तर्क बड़ा विचित्र लगता है कि सारी रमणीयता इसी व्याहत और बुद्धि को अग्राह्य वाच्यार्थ में है, इस योग्य और बुद्धि-ग्राह्य व्यंग्यार्थ में नहीं कि उर्मिला को अत्यन्त औत्सुक्य है। इसमें दो त्रुटियाँ हैं : एक तो उर्मिला को अत्यन्त औत्सुक्य है यह व्यंग्यार्थ नहीं रहा वाच्यार्थ हो गया—औत्सुक्य की व्यंजना ही चित्त की चमत्कृति का कारण है, उसका कथन नहीं। दूसरे जिस अनुपपन्नता पर वे इतना बल दे रहे हैं वह रमणीयता का कारण नहीं है,

उसका एक साधन-मात्र है। उसका वही योग है जो रस की प्रतीति में अलंकार का। उपर्युक्त विवेचन से ऐसा प्रतीत होता है मानो जीवन-भर विरोध करते-करते अनायास ही किसी दुर्बल क्षण में शुक्लजी पर क्रोचे का जादू चल गया हो। क्रोचे का यह मत अवश्य है कि उक्ति ही काव्य है, और इसके प्रतिपादन में उनकी युक्ति यह है कि व्यंग्यार्थ और वाच्यार्थ दोनों का पार्थक्य असम्भव है, एक प्रतिक्रिया के लिए एक ही अभिव्यक्ति सम्भव है। 'आप अवधि बन सकूँ' आदि उक्ति और 'उर्मिला को अत्यन्त औत्सुक्य है' यह उक्ति सर्वथा पृथक् हैं। ये दो सर्वथा भिन्न प्रतिक्रियाओं की अभिव्यंजनाएं हैं। अतएव 'आप अवधि बन सकूँ' आदि का सौन्दर्य (काव्यत्व) उसका अपना है जो केवल उसी के द्वारा अभिव्यक्त हो सकता है, 'उर्मिला को अत्यन्त औत्सुक्य है' एक दूसरी ही बात है।

वास्तव में रमणीयता का अर्थ है हृदय को रमाने की योग्यता, और हृदय का सम्बन्ध भाव से है वह भाव में ही रम सकता है, क्योंकि उसके समस्त व्यापार भावों के द्वारा ही होते हैं। अतएव वही उक्ति वास्तव में रमणीय हो सकती है जो हृदय में कोई रम्य भाव उद्बुद्ध करे, और यह तभी हो सकता है जब वह स्वयं इसी प्रकार के भाव की वाहिका हो। यदि उसमें यह शक्ति नहीं है तो वह बुद्धि को चमत्कृत कर सकती है चित्त को नहीं, और इसलिए रमणीय नहीं कही जा सकती। स्वयं शुक्ल जी ने अत्यन्त सबल शब्दों में इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है, और चमत्कार शब्द की भ्रांति को दूर करने के लिए ही रमणीयता शब्द के प्रयोग पर जोर दिया है।

निष्कर्ष यह है कि यदि शुक्लजी क्रोचे का सिद्धान्त स्वीकार कर लेते हैं तो स्थिति ही बदल जाती है। तब तो अभिधा, लक्षणा, व्यंजना, वाच्यार्थ, लक्ष्यार्थ, व्यंग्यार्थ आदि का प्रपंच ही नहीं रहता। सार्थक उक्ति केवल एक ही हो सकती है। उसके अर्थ को उससे पृथक् करना सम्भव नहीं है। परन्तु यदि वे उसको स्वीकार नहीं करते हैं (और वे वास्तव में उसे स्वीकार नहीं करते) तो वाच्यार्थ में रमणीयता का अधिवास नहीं माना जा सकता, व्यंग्यार्थ में ही माना जायगा—लक्ष्यार्थ में भी नहीं, क्योंकि वह भी वाच्यार्थ की तरह माध्यम-मात्र है। रमणीयता का प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष सम्बन्ध रस के साथ है, और रस कथित नहीं हो सकता व्यंजित ही हो सकता है। शुक्लजी के शब्दों से ऐसा मालूम होता है कि वे लक्ष्यार्थ और व्यंग्यार्थ को अनुपपन्न अर्थ को उपपन्न करने का साधन मानते हैं। परन्तु वास्तव में स्थिति इसके विपरीत है। वाच्यार्थ स्वयं ही अपने चमत्कारों के साथ व्यंग्य रस का साधन या माध्यम है। मैं उपर्युक्त विवेचन को शुक्लजी का एक हलका-सा दिशांतर-भ्रमण मानता हूँ, यह उनके अपने काव्य-सिद्धान्त के ही विरुद्ध है।

(ख)

"यूरोप का यह 'अभिव्यंजनावाद' हमारे यहाँ के पुराने वक्रोक्तिवाद—वक्रोक्ति काव्य-जीवितम्—का ही नया रूप या विलायती उत्थान है।"

[आचार्य रामचन्द्र शुक्ल : 'चिंतामणि' भाग २ पृष्ट ९८]

विवेचना

कुन्तक के वक्रोक्तिवाद के साथ क्रोचे के अभिव्यंजनावाद की चर्चा की जाती है। आचार्य शुक्ल ने तो अभिव्यंजनावाद को वक्रोक्तिवाद का विलायती उत्थान ही कह दिया है। शुक्ल जी की इस उक्ति को भी हम साधारण अर्थ-वाद के रूप में ही ग्रहण कर सकते हैं, इससे आगे नहीं; क्योंकि इन दोनों में कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध मानना अर्थात् क्रोचे को किसी प्रकार भी कुन्तक का ऋणी मानना हास्यास्पद होगा वक्रोक्तिवाद और अभिव्यंजनावाद के सापेक्षिक अध्ययन के लिए पहले क्रोचे का मूल सिद्धांत स्पष्ट हो जाना चाहिए :

वक्रोक्ति और अभिव्यंजनावाद

क्रोचे मूलतः आत्मवादी दार्शनिक है जिसने अपने ढंग से उन्नीसवीं शताब्दी की भौतिकता के विरुद्ध आत्मा की अन्तःसत्ता की प्रतिष्ठा की है। वह आत्मा की दो क्रियाएं मानता है— एक विचारात्मक और दूसरी व्यवहारात्मक। विचारात्मक क्रिया के दो रूप हैं—सहजानुभूति और तर्क। व्यवहारात्मक के भी दो रूप हैं—आर्थिक और नैतिक। कला का प्रत्यक्ष सम्बन्ध सहजानुभूति से है। किसी वस्तु के संसर्ग से हमारी आत्मा में कतिपय अरूप झंकृतियाँ उत्पन्न हो जाती हैं जिनको वह अपनी सहज शक्ति कल्पना द्वारा समन्वित करके एक पूर्ण विम्ब का रूप दे देती है, और इस प्रकार हमें उस वस्तु की सहजानुभूति हो जाती है जो बौद्धिक ज्ञान से सर्वथा स्वतन्त्र होती है।

यह सहजानुभूति अभिव्यंजना भी है अथवा केवल अभिव्यंजना ही है, क्योंकि उससे पृथक् इसका कोई आकार नहीं। जो अभिव्यंजना द्वारा व्यक्त नहीं होता उसका सहजानुभव ही नहीं होता—वह संवेदन या ऐसा ही कोई व्यक्तिगत विकार-मात्र होता है। हमारी आत्मा के पास सहजानुभव करने का केवल एक ही साधन है—अभिव्यंजना। सफल अभिव्यंजना अथवा केवल अभिव्यंजना ही, क्योंकि असफल अभिव्यंजना तो अभिव्यंजना है ही नहीं—कला अथवा कलात्मक सौंदर्य है। कलात्मक सौंदर्य में श्रेणियाँ नहीं हो सकतीं, क्योंकि उसका तो केवल एक ही रूप होता है। अतएव उसमें अधिक सुन्दर अथवा अधिक व्यंजक की कल्पना

ही सम्भव नहीं, हाँ कुरूपता—जो असफल व्यंजना का दूसरा नाम है—श्रेणी-सापेक्ष है; उसकी कुरूप से लेकर कुरूपातिकुरूप तक अनेक श्रेणियाँ हो सकती हैं । इसी कारण क्रोचे अभिव्यंजना अथवा कला के वर्गीकरण को निरर्थक समझता है—अभिव्यंजना तो एक स्वतन्त्र इकाई है जो वर्ग कभी नहीं बन सकती ! इसलिए वह अलंकार और अलंकार्य के भेद का निषेध करता है और अलंकारों के नामकरण आदि को भ्रामक मानता है—इसीलिए वह अनुवाद को भी असम्भव मानता है, क्योंकि अनुवादक की सहजानुभूति कवि की सहजानुभूति कैसे हो सकती है ? उनके लिए शैली और कवि-व्यापार का भी इसी कारण कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है। अपने इसी तर्क के आधार पर क्रोचे काव्य में वस्तु और अभिव्यंजना में अभेद मानता है । वह वस्तु की सत्ता का निषेध तो नहीं करता परन्तु उसको अरूप झंकृतियों से अधिक और कुछ नहीं मानता । काव्य-वस्तु का महत्त्व हमारे लिए तभी है जब वह आकार धारण कर लेती है—अपने अमूर्त रूप में वस्तु जड़ है—निष्क्रिय है, हमारी आत्मा इसका अनुभव तो करती है पर सृजन नहीं कर पाती । सृजन बिना आकार के सम्भव नहीं है, अतएव कला में आकार से भिन्न वस्तु का कोई अस्तित्व हमारे सामने नहीं होता । यह ठीक है कि वस्तु वह तत्त्व है जो आकार में परिणत होता है, परन्तु आकार में परिणत होने से पूर्व उसकी कोई निश्चित रूप-रेखा तो होती ही नहीं । इस प्रकार वस्तु और आकार का कला में पृथक् अस्तित्व नहीं माना जा सकता ।

यहाँ तक तो हुई अभिव्यंजना के आन्तरिक रूप की बात । पर क्रोचे अभिव्यंजना के आन्तरिक रूप और बाह्य रूप में अर्थात् कला और कला-कृति में अन्तर मानता है । कला आध्यात्मिक क्रिया है, कला-कृति उसका मूर्त प्राकृतिक रूप ; जो सदैव अनिवार्य नहीं होता । कला-सृजन की सम्पूर्ण प्रक्रिया पाँच चरणों में विभक्त की जा सकती है—(अ) अरूप संवेदन (आ) अभिव्यंजना अर्थात् संवेदनों की आंतरिक समन्विति (इ) आनन्दानुभूति (सौन्दर्य-जन्य आनन्द की अनुभूति) (ई) सौन्दर्यानुभूति का ध्वनि, रंग, रेखा आदि प्राकृतिक तत्त्वों में अनुवाद और अंतिम (उ) काव्य, चित्र इत्यादि कलाकृति । कहने की आवश्यकता नहीं कि इन पाँचों में मुख्य क्रिया दूसरी ही है ।

सारांश यह है कि :—

(१) अभिव्यंजना एक सहज स्वतन्त्र आध्यात्मिक क्रिया है; जिसका आधार मूलतः कल्पना है ।

(२) अभिव्यंजना की सफलता ही सौन्दर्य है । सौन्दर्य की श्रेणियाँ नहीं

हो सकतीं।

(३) व्यंजक उक्ति और व्यंग्य-भाव एक दूसरे से पृथक् नहीं हो सकते। व्यंग्य-भाव का व्यंजक उक्ति से पृथक् अस्तित्व नहीं है।

(४) अभिव्यंजना का केवल एक अविभाज्य रूप होता है। अतएव काव्य में शैली, अलंकार आदि का पृथक् महत्त्व नहीं होता।

ऊपर के विवेचन से यह तो स्पष्ट ही है कि शुक्ल जी कृत वक्रोक्तिवाद और अभिव्यंजनावाद का एकीकरण दूरारूढ़ कल्पना पर आश्रित नहीं है। दोनों में पर्याप्त साम्य है, यद्यपि वैषम्य भी कम नहीं है।

साम्य—

१. क्रोचे और कुन्तक दोनों ही कला या कविता को आत्मा की क्रिया मानते हैं, जो अनिर्वचनीय है।

२. दोनों ही वस्तु की अपेक्षा अभिव्यंजना को अधिक महत्त्व देते हैं अर्थात् उक्ति में काव्यत्व (सौन्दर्य) मानते हैं वस्तु या भाव में नहीं।

३. दोनों ही सौंदर्य में श्रेणियाँ नहीं मानते, क्योंकि सफल अभिव्यंजना ही सौन्दर्य है और सफल अभिव्यंजना केवल एक हो सकती है।

कुन्तक—न च रीतीनाम् उत्तमाधममाध्यमभेदेन वैविध्यम् व्यवस्थापयितुम् न्याय्यम्।

क्रोचेः—

The beautiful does not possess degrees, for there is no conceiving a more beautiful that is an expressive that is more expressive and adequate that is more adequate.

वैषम्य—

१. वक्रोक्तिवाद और अभिव्यंजनावाद का मुख्य अन्तर तो यह है कि वक्रोक्तिवाद का सम्बन्ध उक्ति-वक्रता से है, अभिव्यंजनावाद का केवल उक्ति से। वक्रोक्तिवाद एक साहित्यिक वाद है, अभिव्यंजनावाद अभिव्यंजना की फ़िलासफ़ी। वक्रोक्ति जहाँ एक प्रकार का कवि-कौशल है वहाँ अभिव्यंजनावाद एक आध्यात्मिक आवश्यकता है।

"वक्रोक्तिकार नित्य की बोल-चाल की रीति से सन्तुष्ट नहीं होते, 'वक्रत्वं प्रसिद्ध-प्रस्थान-व्यतिरेक वैचित्र्यम्'। मैं तो यह कहूँगा कि अभिव्यंजनावाद में स्वभावोक्ति और वक्रोक्ति का भेद ही नहीं है। उक्ति केवल एक ही प्रकार की हो

सकती है। यदि पूर्ण अभिव्यक्ति वक्रोक्ति द्वारा होती है तो वही स्वभावोक्ति या उक्ति है। वही कला है। वाग्वैचित्र्य का मान वैचित्र्य के कारण नहीं है, वरन् यदि है तो पूर्ण अभिव्यक्ति के कारण। अभिव्यंजनावाद में एक ही उक्ति के लिए स्थान है, न उसमें प्रस्तुत-अप्रस्तुत का भेद है न स्वभावोक्ति-वक्रोक्ति का।"

२. वक्रोक्तिवाद अलंकार को लेकर चला है, अभिव्यंजनावाद में उसकी सत्ता ही अमान्य है, वहाँ यदि वह आ भी जाता है तो अलंकार रूप में नहीं सहज उक्ति के रूप में ही आता है।

३. वक्रोक्तिवाद में वस्तु की उक्ति (कवि-कौशल) से पृथक् सत्ता मानी गई है। कुन्तक ने वस्तु के सहज और आहार्य दो भेद किये हैं; प्रकरण-वक्रता अथवा प्रबन्ध-वक्रता का सम्पूर्ण विवेचन ही वस्तु और कवि-कौशल के पार्थक्य पर आश्रित है, परन्तु अभिव्यंजनावाद वस्तु को उक्ति से अभिन्न मानता है।

४. वक्रोक्तिवाद में कला की समस्या को बाहर से छेड़ा गया है, अभिव्यंजनावाद में भीतर से। इसीलिए वक्रोक्तिवाद जहाँ काव्य अर्थात् कला के मूर्त रूपों पर ही केन्द्रित है, वहाँ अभिव्यंजनावाद उनके प्रति उदासीन होकर केवल सूक्ष्म आध्यात्मिक क्रिया को ही सब-कुछ मानता है।

५. अभिव्यंजनावाद सहजानुभूति अर्थात् भाव-झंकृतियों की अन्विति पर आश्रित है, अतएव रस (भाव) से उसका सम्बन्ध अन्तरंग और तात्विक है, परन्तु वक्रोक्तिवाद कवि-कौशल पर आश्रित है इसलिए उसका रस से सम्बन्ध बहिरंग एवं औपाधिक है। अभिव्यंजनावाद का तत्त्व-रूप में रसवाद से कोई विरोध हो ही नहीं सकता।

आचार्य शुक्ल की आलोचना

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने वक्रोक्तिवाद और अभिव्यंजनावाद को एक करते हुए उन पर कुछ कठिन प्रहार किए हैं। उनमें सबसे मुख्य यह है कि वे "अनुभूति या प्रभाव का विचार छोड़कर केवल वाग्वैचित्र्य को लेकर चले हैं, पर वाग्वैचित्र्य का हृदय की गम्भीर वृत्तियों से कोई सम्बन्ध नहीं। वह केवल कौतूहल उत्पन्न करता है।" अभिव्यंजनावाद तो बेचारा अभिव्यंजना को छोड़कर किसी वाग्वैचित्र्य की बात ही नहीं करता। हाँ, वक्रोक्तिवाद अवश्य उसका गुनहगार है। परन्तु जैसा कि मैंने ऊपर स्पष्ट किया है, उसके वैचित्र्य का स्वरूप इतना व्यापक है कि उसके अंतर्गत सभी प्रकार की उक्ति-रमणीयता आ जाती है। वास्तव में कुन्तक की 'वक्रता' या 'वैचित्र्य' और शुक्ल जी को प्रिय 'रमणीयता' में कोई भी अन्तर नहीं है। कौतू-

हल-जन्य चमत्कार का कुन्तक ने बहिष्कार तो नहीं किया, परन्तु उसे अत्यन्त हेय माना है। फिर ऐसी उक्ति को जिसमें रस हो परन्तु वक्रता न हो, सामने लाना भी तो आसान नहीं है। शुक्ल जी द्वारा उद्धृत 'पद्माकर' की यह रमणीय उक्ति 'नैन नचाय, कही मुसकाय लला फिर आइयो खेलन होरी' सीधी-सादी नहीं है, इसकी वक्रता की कैफ़ियत तो उन लला से पूछिए जिनसे नैन नचाकर और मुसकाकर यह कहा गया था कि 'फिर आइयो खेलन होरी'।

फाग के भीर अभीरनि त्यों गहि गोविन्द लै गई भीतर गोरी।
भाई करी मन को 'पद्माकर' ऊपर नाय अबीर की झोरी।
छीन पितम्बर कम्मर तें सु विदा दई मोड़ कपोलनि रोरी।
नैन नचाय कही मुसकाय लला फिर आइयो खेलन होरी।

['जगद्विनोद']

हमें आश्चर्य है कि व्यंग्य से वक्र इस उक्ति को आचार्य सीधी-सादी कैसे मान बैठे?

शुक्ल जी का दूसरा आक्षेप यह है कि इनमें अभिव्यंजना या उक्ति ही सब कुछ है, वस्तु, जिसकी अभिव्यंजना की जाती है, कुछ भी नहीं। परन्तु यह तो शुक्ल जी स्वयं ही मानते हैं कि काव्यत्व उक्ति में रहता है, व्यंग्य वस्तु या भाव में नहीं। यद्यपि यह सिद्धान्त, जैसा कि हमने अन्यत्र निवेदन किया है, एक विशेष और सीमित अर्थ में ही मान्य है। रही वस्तु के महत्त्व की बात तो उक्ति-वक्रता अथवा अभिव्यंजना को महत्त्व देते हुए भी इन दोनों वादों में वस्तु का सर्वथा तिरस्कार नहीं किया गया। कुन्तक ने तो वस्तु को निश्चय ही पर्याप्त महत्त्व दिया है—स्वयं उसका पृथक् विवेचन किया है। उधर क्रोचे ने भी प्राकृतिक वस्तु को कला का उद्दीपक तथा कला-वस्तु अर्थात् अरूप भाव-झंकृतियों या संवेदनों को कला का मूल उद्गम अथवा मूलाधार मानते हुए उसे गौरव से सर्वथा वंचित नहीं किया। अन्तर केवल यही है कि शुक्ल जी काव्य को वस्तु-दृष्टि से परखते हुए उसमें वस्तु और अभिव्यंजना का निश्चित पार्थक्य मानते हैं, क्रोचे दोनों में निश्चित भेद असम्भव मानते हैं।

११. आचार्य शुक्ल और रहस्यवाद

प्रोफेसर गुलाबराय

आचार्य शुक्लजी के विचारों में एक विशेष अन्विति है। उनके सभी विचारों में एक प्रकार की विषयगतता है, जो भाव पक्ष को महत्त्व देते हुए भी उसे विभावाश्रित देखना चाहती है। वे अनर्गल भावुकता के विरुद्ध थे और उससे अधिक विरुद्ध थे वे कोरे उक्ति-वैचित्र्य के, चाहे वह भारतीय हो और चाहे विदेशी। वे व्यक्ति को अर्थात् कवि और पाठक को सामान्य भाव-भूमि में लाकर उसमें एक प्रकार की विषयगतता ले आते हैं। वे जगत् की अनेक रूपात्मकता के साथ हृदय की अनेक भावात्मकता का सामञ्जस्य चाहते हैं, देखिए:—

"जिस प्रकार जगत् अनेकरूपात्मक है उसी प्रकार हमारा हृदय भी अनेक भावात्मक है। इन अनेक भावों का व्यायाम और परिष्कार तभी हो सकता है जब कि उनका प्रकृत सामञ्जस्य जगत् के भिन्न-भिन्न रूपों और व्यापारों के साथ हो जाय।"
('चिन्तामणि' द्वितीय भाग पृष्ठ ४६।)

शुक्लजी कवि-कर्तव्य को जीवन के सुख-सौन्दर्य और हास-विलास के चित्रण में ही सीमित नहीं रखना चाहते हैं वरन् वे उस स्थिति के लाने के अर्थ जो अश्रु, क्रोध, घृणा, गर्जन-तर्जन और संघर्ष का प्रदर्शन होता है उसका भी वर्णन काव्य-क्षेत्र के भीतर लेते हैं। इसको भी वे गत्यात्मक सौन्दर्य का रूप मानते हैं। जहाँ इनमें (सुख-शान्ति और गर्जन-तर्जन तथा ध्वंस में) साध्य-साधक सम्बन्ध से सामंजस्य दिखाई पड़ता है, वहाँ की उग्रता और प्रचण्डता में भी सौन्दर्य का दर्शन होता है। कहने की आवश्यकता नहीं कि यह सौन्दर्य भी मंगल का ही पर्याय है। जो लोग केवल शान्त और निष्क्रिय (static) सौन्दर्य के अलौकिक सौन्दर्य में ही कविता समझते हैं वे कविता को जीवन-क्षेत्र से बाहर खदेड़ना चाहते हैं। ('चिन्तामणि' भाग २ पृष्ठ ४७) इसी आधार पर उन्होंने लोकादर्शवाद (Humanatarin idealism) का, जो केवल प्रेम और भ्रातृ-भाव को ही काव्य में स्थान देता है, विरोध किया है।

इस भूमिका से आचार्य शुक्लजी ने यही व्यंजना की है कि रहस्यवाद और छायावाद दोनों ही काव्य को जीवन से बाहर खदेड़ने वाले हैं। रहस्यवाद में सब की भाव-भूमि में आने वाले आलम्बनत्व की कमी है और कोरी अभिव्यक्ति का ही प्राधान्य है। वे प्रयत्न-सौन्दर्य में ही भगवान् की मंगलमयी शक्ति का दर्शन करना चाहते हैं—'जगत् की विघ्न-बाधा, अत्याचार, हाहाकार के बीच ही जीवन के प्रयत्न-सौन्दर्य की पूर्ण अभिव्यक्ति तथा भगवान् की मंगलमयी शक्ति का दर्शन होता है' (पृष्ठ ४०)। वास्तव में आचार्य शुक्लजी भी अव्यक्त ईश्वर को मानते हैं, परन्तु व्यक्त सत्ता से अव्यक्त सत्ता पर जाने के लिए वे एक लोहे की दीवार-सी खड़ी कर देते हैं। वे व्यक्त में ही असीमता और अनन्तता (व्यक्त रूप से ही, ज्यादा-से-ज्यादा भगवान् के सगुण रूप को) देखना चाहते हैं। व्यक्त पक्ष में वे दृश्य जगत् या इन्द्रिय-गोचर होने की सम्भावना रखने वाले जगत् तक ही अपने को सीमित रखना चाहते हैं। अधिक-से-अधिक वे गोचर दृश्यों से निकलने वाले लोक सामान्य के अनुभव में आने वाले तथ्यों तक जाने के पक्ष में हैं। रहस्यवादी अव्यक्त सत्ता से सीधा सम्बन्ध स्थापित करके उसके साथ मिलन के सुख और विरह की विषम-वेदना के गीत गाता है। शुक्लजी इसी प्रवृत्ति का विरोध करते हैं:—

'कविता का सम्बन्ध ब्रह्म की व्यक्त सत्ता से है, चारों ओर फैले हुए गोचर जगत् से है, अव्यक्त सत्ता से नहीं—जगत् अव्यक्त की अभिव्यक्ति है और काव्य इसी अभिव्यक्ति की भी अभिव्यक्ति है।'—(इसीलिए शुक्लजी ने कहा है कि वैसे तो वे वाद के पक्ष में नहीं हैं लेकिन यदि उनके मत के लिए किसी वाद का नामकरण आवश्यक हो तो वे उसे अभिव्यक्तिवाद कहेंगे) शुक्लजी के मत से अगोचर और अज्ञात के प्रति प्रेम को व्यक्त करने वाली कविता को ही कविता कहना ठीक नहीं, उसको भी कविता कह लेने में विशेष हानि नहीं। वे लिखते हैं:—

"अब विचारने की बात है कि किसी अगोचर या अज्ञात के प्रेम में आँसुओं की आकाश-गंगा में तैरने—या मुँदे नयन-पलकों के भीतर किसी रहस्य का सुखमय चित्र देखने को ही—तक भी तो कोई हर्ज न था—कविता कहना, कहना कहाँ तक ठीक है? ('चिन्तामणि' भाग २ पृष्ठ ४६)

(शुक्लजी ने अपनी भूमिका में भी यही बात कही है)—"मैं रहस्यवाद का विरोधी नहीं मैं इसे भी कविता की एक शाखा विशेष मानता हूँ। पर जो इसे काव्य का सामान्य स्वरूप समझते हैं उनके अज्ञान का निवारण मैं बहुत ही आवश्यकसमझता हूँ।" (बहुत-से रहस्यवादी भी—'हाँ' का दावा नहीं करेंगे।) शुक्लजी यहीं तक सीमित रहते तो विशेष मतभेद की बात न होती, किन्तु वे

रहस्यवाद के सिद्धान्ततः विरुद्ध हैं। वे कहते हैं :—

"असीम और अनन्त की भावना के लिए अज्ञात या अव्यक्त की ओर झूठे इशारे करने की कोई जरूरत नहीं। व्यक्त पक्ष में ही वही असीमता और प्रसन्नता है—*अज्ञात की जिज्ञासा ही का कुछ अर्थ होता है; उसकी लालसा या प्रेम का नहीं।*" ('चिन्तामणि' भाग २ पृष्ठ ५६–५७)

"जिस तथ्य का हमें ज्ञान नहीं, जिसकी अनुभूति से वास्तव में कभी हमारे हृदय में स्पन्दन नहीं हुआ, उसकी व्यंजना का आडम्बर रचकर दूसरों का समय नष्ट करने का हमको कोई अधिकार नहीं।" ('चिन्तामणि' भाग २ पृष्ठ ६३)

आगे चलकर शुक्लजी जिज्ञासा और लालसा का भेद बतलाते हैं:—

"जिज्ञासा केवल जानने की इच्छा है, उसका ज्ञेय वस्तु के प्रति राग, द्वेष, प्रेम, घृणा आदि का कोई लगाव नहीं होता। उसका संबध शुद्ध ज्ञान के साथ होता है। उसके विपरीत लालसा या अभिलाषा रतिभाव का एक अङ्ग है। अव्यक्त ब्रह्म की जिज्ञासा और व्यक्त सगुण ईश्वर या भगवान् के सान्निध्य की अभिलाषा यही भारतीय पद्धति है।" ('चिन्तामणि' भाग २ पृष्ठ ८१)

यहाँ पर यह समझ लेना चाहिए कि आचार्य शुक्लजी अज्ञात और अव्यक्त की दार्शनिक जिज्ञासा के विरुद्ध नहीं, वे उसको प्रेम या भावना का विषय नहीं बनाना चाहते। रहस्यवाद उसे प्रेम और भावना का विषय बनाना चाहता है। यही दर्शन और रहस्यवाद का अन्तर है। दर्शन और रहस्यवाद का विषय एक ही है दर्शन में बुद्धि का प्राधान्य है और रहस्यवाद में हृदय द्वारा सम्बन्ध स्थापित किया जाता है। जहाँ तक अज्ञात का प्रश्न है सगुण ईश्वर भी आजकल के बुद्धिवादियों के लिए उतना ही रहस्यमय है जितना कि निर्गुण। वास्तव में आजकल के लोगों को निर्गुण के मानने में इतनी आपत्ति नहीं होती जितनी सगुण के मानने में, सगुण ईश्वर के लिए भी एक सीमित जनता में आलम्बनत्व की भावना उत्पन्न होती है। सगुण के पक्ष में इतना ही कहा जा सकता है कि उसमें निर्गुण की अपेक्षा प्रतिस्पन्दन की अधिक सम्भावना रह सकती है। अवतारवाद के सम्बन्ध में आचार्य शुक्लजी का कथन है कि "अवतारवाद मूल में तो रहस्यवाद के रूप में रहा, आगे चलकर वह पूर्ण प्रकाशवाद के रूप में पल्लवित हुआ। रहस्य का उद्घाटन हुआ और रामकृष्ण के निर्दिष्ट रूप और लोक-विभूति का विकास हुआ। भगवान् के व्यक्त और गोचर रूप की प्रतिष्ठा हो गई, तब काव्यमयी उपासना या भक्ति की धारा फूटी जिसने मनुष्य के सम्पूर्ण जीवन को—उसके किसी एक खण्ड या कोने को नहीं—रसमय कर दिया।" ('चिन्तामणि' भाग २ पृष्ठ १२६)

यह ठीक है । इसमें अवतारवाद के साथ शुक्लजी के सिद्धान्तों की संगति भी बैठ गई, किन्तु अवतारवाद में दोनों ही पक्ष हैं । एक लोक-लीला पक्ष और दूसरा दैवी पक्ष । शुक्लजी का कथन लोक-लीला के पक्ष में ही अधिक है । दैवी पक्ष में रहस्यवाद के लिए स्थान रहता है । तुलसी ने चाहे एक बार कह दिया हो कि 'हमारे राम अवतार भी हैं यह हमें आज मालूम हुआ' किन्तु अधिकांश स्थानों में उन्होंने अपने राम को 'विधि हरि शम्भु नचावन हारे' कहा है ।

अज्ञात के प्रति प्रेम की स्वाभाविकता में संदेह करना उचित नहीं । यह व्यक्ति की साधना पर निर्भर है । यदि अद्वैतवाद में कुछ सार है तो साधक उससे पार्थक्य में उतना ही विरह का अनुभव कर सकता है जितना कि मीरा ने गिरधर-गोपाल के प्रति किया होगा । इस विरह वेदना के लिए एक अंग्रेज लेखक का कथन है । We meet them half way. We know instinctively and irrefutably that they tell true and they arouse in us a passionate nostalegia, a bitter sense of exile and loss.— महादेवी जी की कविता में भी ऐसी बात कही गई है—'जन्म ही हुआ विरह की रात' ।

ऐसी बात तो नहीं है कि आचार्य शुक्लजी दृश्य जगत् के क्षेत्र से बिलकुल बाहर न जायं किन्तु वे प्रकृति के आलम्बनत्व के साथ उससे उन्हीं तथ्यों के ग्रहण करने के पक्ष में है जो लौकिक अनुभव का विषय बन सके । शुक्ल जी प्रतीकों (symbols) के भी विरोधी नहीं, यदि वे भारतीय हों और उनके द्वारा ऐसे तथ्यों की (नैतिक, सामाजिक) व्यञ्जना हो, जो लोकानुभव में आ सकें । वे दीनदयाल गिरि की अन्योक्तियों की सराहना करते हैं और कबीर की इस उक्ति को भी वे काव्य-क्षेत्र के भीतर मानते हैं—

दाढ़ी आवत देखि करि तरिवर डोलन लाग ।
हमें कटे की कुछ नहीं, पंखेरू घर भाग ॥

इसमें बुढ़ापा मनुष्य की आत्मा को उपदेश देता है कि शरीर के नष्ट होने की कोई बात नहीं तू अपनी तैयारी कर । इसके विपरीत वे नीचे दी हुई कबीर की उक्ति के विरुद्ध हैं जो अद्वैतवाद के स्पष्टीकरण के लिए लिखी गई हैं, क्योंकि वह सर्वमान्य सिद्धान्त नहीं है ।

जल में कुम्भ, कुम्भ में जल है, बाहरि भीतरि पानी ।
फूटा कुम्भ, जल जलहि समाना, यह तत कथौ गियानी ॥

दीनदयाल गिरि की अन्योक्तियों की तो सराहना की है किन्तु ऐसी अन्योक्तियों को, जिनका प्रत्यक्षानुभव से संबध न हो जैसे—('चल चकई वासर

विषै, जहँ नहिं रैनि बिछोह') दूषित ठहराया है। सर्व मान्य तथ्य तो एक सापेक्षिक बात है। ईश्वर की सत्ता भी सर्वमान्य तथ्य नहीं है। ऐसे ही शुक्लजी 'जल की तरंग उठी, कही है जंजीर, हरि सुमिरन तट बैठे हैं कबीर के सम्बन्ध में कहते हैं "हम जानते हैं कि इसकी व्याख्या के लिए ऐसे चुने हुए वाक्य मौजूद हैं कि 'यह तो साधक की उस दिव्य अनुभूति की दशा है जिसमें वह अपने को भौतिक कारागार से मुक्त पाता है' पर यदि कोई कहे कि 'यह सब कुछ नहीं', यह एक साम्प्रदायिक सिद्धान्त का काव्य के ढंग पर स्वीकरण-मात्र है तो हम उसका मुँह नहीं थाम सकते।" (पृष्ठ ६६) हमारे भक्त कवि भी ऐसे मनोराज्य में विचरे हैं जहाँ पर भगवान् राम गोस्वामी जी की 'विनय पत्रिका' पर सही करते हैं—

"बिहँसि राम कह्यो सत्य है सुधि मैं हूँ लही है
मुदित माथ नावत बनी 'तुलसी' अनाथ की, परी रघुनाथ सही है।"

इसके लिए यदि कोई अविश्वासी तुलसी के मन-मोदक कह दे तो हम भी कुछ न कह सकेंगे। यदि कहेंगे तो केवल इतना ही कि तुलसी के ये वाक्य दीनता-के द्योतक है और कबीर में अहं भाव के।

आचार्य शुक्लजी सर्वेश्वरवाद (Pantheism) के इतने विरुद्ध नहीं जितने प्रतिबिम्बवाद के। प्रकृति को वे ब्रह्म की छाया के रूप में नहीं वरन् उसको ब्रह्म का अङ्गस्वरूप सत्य मानते हैं। इस प्रकार वे प्राकृतिक रहस्यवाद को स्वीकार कर लेते हैं। 'इस रस-विधान में जगत् या प्रकृति ब्रह्म का रूप ही रही है, छाया, प्रतिबिम्ब आदि नहीं'। सर्ववाद और प्रतिबिम्बवाद का अन्तर बतलाते हुए आचार्य शुक्लजी लिखते हैं :—

"सर्ववाद का अभिप्राय यह है कि व्यक्ताव्यक्त, मूर्त्तामूर्त्त, चितचित जो कुछ है सब ब्रह्म है। इस पुराने वाद के अनुसार जगत् जिस रूप में हमारे सामने है उस रूप में भी ब्रह्म का ही प्रसार है। प्रतिबिम्बवाद में जगत् जिस रूप में हमारे सामने है उस रूप में ब्रह्म तो नहीं है, हाँ उसकी छाया या प्रतिबिम्ब अवश्य है।" (पृष्ठ १४०)।

"सूफियों ने इस प्रतिबिम्बवाद के साथ 'अभिव्यक्तिवाद' का मेल किया जिससे उनकी कविता का रंग वैसा ही स्वाभाविक और हृदयग्राही रहा जैसा और कविता का" (पृष्ठ १४१)। शुक्लजी यहाँ जायसी आदि की ओर संकेत करते हैं जिन्होंने सारे सौन्दर्य को भगवान् की ज्योति का ही प्रकाश माना है :—

'नयन जु देखा कमल भा, दसन जोति नग हीर'
'चाँदै कहाँ ज्योति औ करा।'
'सुरज के ज्योति चाँद निर मरा।'

इन पद्यांशों में तो प्रतिबिम्बवाद है, किन्तु नीचे की पंक्तियों में अभिव्यक्ति-वाद है।

परगट गुपुत सकल महँ पूरि रहा सो नावँ।
जहँ देखौं तहँ ओ ही, दूसर नहि जहँ जावँ॥

इसी अभिव्यक्तिवाद के कारण जायसी आदि के रहस्यवाद को उन्होंने किसी अंश में क्षम्य बतलाया है। वे ब्लैक आदि के ईसाई साम्प्रदायिक रहस्यवाद के बहुत खिलाफ हैं। उस में प्रतिबिम्बवाद के स्वाभाविक फल स्वरूप कल्पनावाद पर बल दिया है उन्होंने कहा है कि कल्पना को नित्य पारमार्थिक सत्ता के रूप में ग्रहण किया जाय 'The world of imagination is the world of eternity ......the world of imagination is infinite and eternal, where as the world of generation or vegitation is finite and temporal. There exist in that eternal world realities of every thing which we see reflected in the vegetable glass of nature' (पृष्ठ ११५) 'अर्थात् कल्पना का लोक नित्य लोक है। वह शाश्वत और अनन्त है। उस नित्य लोक में उन सब वस्तुओं की नित्य और पारमार्थिक सत्ताएं, हैं जिन्हें हम प्रकृति रूपी दर्पण में प्रतिबिम्बित देखते हैं।' इस पर आलोचना करते हुए आचार्य शुक्ल जी लिखते हैं:—

"यह देखिए कि कल्पना की नित्यता के प्रतिपादन में, उसे पारमार्थिक सत्ता बनाने में, प्रकृति और कल्पना के प्रत्यक्ष सम्बन्ध में कितना विपर्यय करना पड़ा है। यह तो प्रत्यक्ष बात है कि कल्पना के भीतर जो कुछ रहता है या आता है वह प्रकृति के ही विशाल क्षेत्र से प्राप्त होता है।" (पृष्ठ ११६)।

कहने में तो यह बात बड़ी हृदयग्राही जँचती है किन्तु वास्तव में ऐसी बात नहीं, इसमें थोड़ा तर्काभास है। इसमें जो कल्पना है वह ईश्वर की कल्पना या परम कल्पना है। जो कल्पना प्रकृति पर आश्रित रहती है वह मनुष्य की कल्पना है। इसलिए उसमें इतना तथ्य का विपर्यय नहीं है जितना कि शुक्ल जी ने दिखाया है। शुक्ल जी ने स्वयं बर्कले की ईश्वरीय परम कल्पना का उल्लेख किया है। उस भूमिका में ब्लैक का कथन हास्यास्पद नहीं लगता। हम बर्कले, प्लेटो या प्लोटी-नस के सिद्धान्तों की आलोचना अवश्य कर सकते हैं, किन्तु वे एक साथ हवा में उड़ाये जाने वाले नहीं। हमारे यहाँ के वैष्णव भी वृन्दावन को गो-लोक की छाया मानते हैं। यह सब-कुछ विदेशी ही देन नहीं है।

इन आक्षेपों के अतिरिक्त आचार्य शुक्ल जी ने रहस्यवाद और छायावाद

के सम्बन्ध में और भी आक्षेप किये हैं। वे इस प्रकार हैं—

(१) अभिव्यञ्जनावाद का पूरा प्रभाव रहस्यवाद पर है। इसी अभिव्यञ्जनावाद के सहारे छायावाद में अप्रस्तुत वस्तु-व्यापारों की बड़ी लम्बी कड़ी के अतिरिक्त और कुछ सार नहीं होता। उनमें एकान्विति (unity) और सम्बन्ध (coperence) की सच पूछिए जगह ही नहीं रहती।

(२) वैचित्र्य के लोभ में भिन्न-भिन्न स्थलों में से गृहीत वाक्यों और पद-विन्यासों की समन्विति नहीं है। यह पहली बात का दूसरा रूप है।

(३) किसी प्रकृत आलंबन से सीधा लगाव न रखने के कारण भावों में जो सचाई का अभाव (Insincerity) या कृत्रिमता (Artificiality) मूल में ही लगी रहती है।

(४) छायावाद की कविताओं में छन्द-बन्धन का त्याग और लय (Rythm) अवलम्बन रहता है। इसमें वाल्ट ह्विटमैन (Walt Whitman) का अनुकरण है।

इन आक्षेपों के अतिरिक्त आचार्य शुक्ल जी आप्त प्रमाण के रूप में मेरी स्टर्जन की Studies of contlemporary poets के एक उद्धरण को भूमिका स्वरूप उपस्थित करते हुए लिखते हैं:—अतः रहस्यवाद की कविता के सम्बन्ध में यह भ्रान्ति फैलाना कि सारे यूरोप में उसी प्रकार की कविता हो रही है, यही वर्तमान युग की कविता का स्वरूप है, घोर साहित्यिक अपराध है। इस सम्बन्ध में मैं निवेदन करूँगा कि ऐसे शब्द-प्रमाणों से कुछ नहीं सिद्ध होता। यदि मेरी स्टर्जन ने उसे inferior poetry कहा है तो ए० आर० एण्टिवस्टिल (A. R. Antwistle) ने अपनी study of poetry नाम की पुस्तक में उसके व्यापक प्रभाव को स्वीकार किया है। इस सम्बन्ध में तो पत्ते का रंग में रंग मिलाया जा सकता है। देखिए:—

"That an anthology so limited in its range should attain such proportions and should draw upon the works of so many poets dating from the 13th Centuary onwords is sfficient proof that mysticism is no mere passing fancy. In no age has the voice of the mystic been silent in the land. In the words of the editors of the above anthology: "It is in fact, the hypothesis of mysticism that it is not utterly without its witness

in any age. Even though the voice of that witness be lost in the turmoie of surrounding things." The present age seems favourable to an advance in spiritual knowledge and who knows whether the greatest achievements of our time in the material world may not pale before the splendid light of some approaching spiritual revealations.

इन आरोपों में पहले दो के सम्बन्ध में यही कहा जाता है कि कहीं-कहीं अप्रस्तुतों की लड़ी अवश्य लगाई जाती है और उसमें अन्विति और सामंजस्य लाना भी कठिन हो जाता है किन्तु यह दोष कहीं-कहीं ही है, सर्वत्र नहीं है। ऐसा दोष प्राचीनों में भी था जिन्होंने विलायती अभिव्यंजनावाद नाम भी सुना था। छायावाद की लाक्षणिकता की स्वयं शुक्ल जी ने भी तारीफ की है। अपने इतिहास में शुक्ल जी ने बढ़ते हुए सामञ्जस्य को स्वीकार किया है। (पृष्ठ ६७०)

तीसरे आक्षेप के सम्बन्ध में भी यही निवेदन है कि छायावाद की कविता जहाँ केवल परम्परा पालन में हुई वहाँ यह दोष अवश्य है किन्तु प्रसाद, पन्त, निराला, महादेवी में नहीं है। उन्होंने अपने विषय से प्रभावित होकर लिखा है। हम यह मानते हैं कि आजकल के रहस्यवादी कवियों में कबीर की-सी साधना और अनुभूति नहीं है किन्तु प्रत्येक आदमी के जीवन में कुछ क्षण ऐसे अवश्य आते हैं जिनमें वह साधारण अनुभव से अपने को ऊँचा उठा पाता है। ऐसे क्षण उपर्युक्त रहस्यवादी कवियों के जीवन में विशेषकर प्राकृतिक सौन्दर्य की रसानुभूति में अवश्य आये हैं। फिर कल्पना का भी थोड़ा-बहुत काव्यगत महत्त्व है। आजकल के कवियों ने विरह के गीत अधिक गाये हैं, मिलन के कम। विरह के गीतों में यह सम्भव है कि लौकिक विरह का कुछ उन्नयन हुआ हो। यह बात भक्त कवियों के सम्बन्ध में भी थोड़े-बहुत अंश में कही जा सकती है। इनमें लौकिक विरह की मात्रा कुछ अधिक अवश्य है। इनमें प्राचीनों का-सा त्याग भी नहीं है किन्तु यह त्याग का युग नहीं है।

छन्द की कमी को आजकल के रहस्यवादी कवियों ने लय और संगीत से पूरा कर लिया है। उन्होंने साहित्य और संगीत का अपूर्व संयोग किया है।

फिर भी आचार्य शुक्ल जी की बातों में बहुत-कुछ हमको भाव के मिथ्यात्व (insincerity) और कृत्रिमता से बचना चाहिए। आचार्य शुक्ल जी की छायावाद की आलोचना ने प्रगतिवाद का मार्ग प्रशस्त किया, प्रगतिवादी उनका गुण माने या न मानें। उनके और प्रगतिवादियों के जीवन के मूल्य में अन्तर अवश्य है, किन्तु

जहाँ तक कविता को जीवन के सम्पर्क में लाने का प्रश्न है आचार्य शुक्ल जी किसी प्रगतिवादी से कम नहीं थे।

आचार्य शुक्ल जी ने रहस्यवाद का तो खण्डन किया है किन्तु सच्ची रहस्य-भावना की, जैसी Wordsworth की ode on intimations of immortality from collections of early childhood आदि कविता में है, उन्होंने सराहना की है।

शैली के प्रकृति-वर्णन से तो वे पूरे सन्तुष्ट नहीं है किन्तु उनकी एक-आध कविता में जैसे सौन्दर्य-बुद्धि की स्तुति (Hymn to intetcetnat beaney) की प्रशंसा की है। रहस्य-भावना के सम्बन्ध में वे कहते है:

"स्वाभाविक रहस्य-भावना बड़ी मधुर और रमणीय भावना है, इसमें सन्देह नहीं। रस-भूमि में इसका हम एक विशेष स्थान स्वीकार करते हैं। उसे हम अनेक मधुर और रमणीय मनोवृत्तियों में से एक मनोवृत्ति या अन्तर्दशा (Mood) मानते हैं जिसका अनुभव ऊँचे कवि और अनुभूतियों के बीच कभी-कभी प्रकरण प्राप्त करने पर किया करते हैं। पर किसी 'वाद' के साथ सम्बद्ध करके उसे हम काव्य का सिद्धान्त मार्ग (Creed) स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं" (चिन्तामणि भाग २ पृष्ठ १३०-१३१)

यह रहस्य भावना हमारे हिन्दी के छायावादी कवियों में भी है 'रंगिणि प्रथम रश्मि का आना तूने किससे सीखा।' आचार्य शुक्ल जी का ध्यान ऐसी कविताओं की ओर कम गया। किन्तु उन्होंने काव्य में रहस्यवाद की कुछ कमियों की पूर्ति इतिहास के दूसरे संस्करण में कर दी है। देखिए:

"पंत जी, अलबत्ता प्रकृति के कमनीय रूपों की ओर कुछ रुककर हृदय रमाते पाए गए।" (हिन्दी साहित्य का इतिहास पृष्ठ ५६६)

"छायावाद की शाखा के भीतर धीरे-धीरे काव्य शैली का बहुत अच्छा विकास हुआ, इसमें संदेह नहीं। इसमें भावावेश की आकुल व्यंजना, लाक्षणिक वैचित्र्य, मूर्त्त प्रत्यक्षीकरण, भाषा की वक्रता, विरोध चमत्कार, कोमल पद-विन्यास इत्यादि काव्य का स्वरूप संघटित करने वाली प्रचुर सामग्री दिखाई पड़ी।" (हिन्दी साहित्य का इतिहास पृष्ठ ५७०)।

"छायावाद जहाँ तक आध्यात्मिक प्रेम लेकर चला है वहाँ तक तो रहस्यवाद के ही अन्तर्गत रहा है। उसके आगे प्रतीकवाद या चित्रभाषा वाद (symbolism) की काव्य शैली के रूप में गृहीत होकर भी वह अधिकतर प्रेम-गान ही करता रहा है। हर्ष की बात है कि अब कोई-कोई कवि इस संकीर्ण क्षेत्र से बाहर निकल-

कर जगत् और यौवन के और और धार्मिक पक्षों की ओर भी बढ़ते दिखाई दे रहे हैं। ......अब अपनी शाखा की विशिष्टता को विभिन्नता की हद पर ले जाकर दिखाने की प्रवृत्ति का वेग क्रमशः कम तथा रचनाओं को सुव्यवस्थित और अर्थगमिति रूप देने की रुचि क्रमशः अधिक होती दिखाई देती है।" (हिन्दी साहित्य का इतिहास पृष्ठ ४७०)।

शुक्ल जी ने इस संस्करण में छायावाद की कला का भी अच्छा विश्लेषण किया है। इस प्रकार हम देखते हैं कि आचार्य शुक्ल जी अपने सिद्धांतों पर दृढ़ होते हुए भी नितांत हठधर्मी और असहृदय नहीं थे। वे गुण-ग्राहक थे। यही उनकी महानता थी।

१२. आचार्य शुक्ल और डॉ० आई० ए० रिचर्ड्स

डॉक्टर नगेन्द्र

कुछ दिन पहले जब विदेश के सौन्दर्य-शास्त्र का छाया-प्रभाव हिन्दी पर पड़ा और उसके फल-स्वरूप यहाँ कविता को एक स्वतन्त्र सत्ता मानते हुए उसके विषय में एक काल्पनिक-सी चर्चा होने लगी, उस समय शुक्ल जी ने इस अतिचार के विरुद्ध शस्त्र-ग्रहण किया, और अपने मत की पुष्टि के लिए विदेश के नवोत्थित आलोचक आई० ए० रिचर्ड्स का गर्म उद्धरण पेश किया। रिचर्ड्स को भी अपने यहाँ कुछ ऐसा ही संघर्ष करना पड़ा था, परन्तु इन दोनों आलोचकों का विपक्ष सर्वथा भिन्न था। रिचर्ड्स को डॉक्टर ब्रैडले-जैसे समर्थ प्रतिपक्षी के विरुद्ध खड़ा होना था, शुक्लजी के प्रतिपक्षी हिन्दी के नये उत्साही कवि, लेखक थे जो अपने पैर जमाने के लिए अर्धगृहीत ज्ञान के बल पर सौन्दर्य-शास्त्र की शरण ले रहे थे। फिर भी शुक्लजी को रिचर्ड्स महोदय से थोड़ी-सी सामयिक सहायता मिली—और उस ओर उनको आकर्षण भी हुआ। रिचर्ड्स का सीधा, प्रभाव तो उन पर पड़ा नहीं, क्योंकि उस समय तक शुक्लजी की मानसिक आधार-भूमि पूर्णतः बन चुकी थी; फिर भी रिचर्ड्स के साथ शुक्लजी का तुलनात्मक अध्ययन काफी मनोरंजक होगा, और इस तुलना में शुक्लजी का अपना व्यक्तित्व भी काफी निखर आयगा।

कविता की परिभाषा

सबसे पूर्व कविता की परिभाषा लें। शुक्लजी के अनुसार 'कविता वह साधन है जिसके द्वारा शेष सृष्टि के साथ मनुष्य के रागात्मक सम्बन्ध की रक्षा और निर्वाह होता है।'.......“जो कुछ ऊपर कहा गया उससे स्पष्ट है कि सृष्टि के नाना रूपों के साथ मनुष्य की भीतरी रागात्मक प्रकृति का सामञ्जस्य ही कविता का लक्ष्य है। वह जिस प्रकार प्रेम, क्रोध, करुणा, घृणा आदि मनोवेगों या भावों पर सान चढ़ाकर उन्हें तीक्ष्ण करती है उसी प्रकार जगत् के नाना रूपों और व्यापारों के साथ उनका उचित सम्बन्ध स्थापित करने का उद्योग भी करती है।” इस प्रकार शुक्लजी

के अनुसार व्यक्ति और सृष्टि दो पृथक् सत्ताएं हैं—इन दोनों सत्ताओं में पारस्परिक सम्बन्ध होना आवश्यक है—और यह सम्बन्ध भावना का होना चाहिए। कविता इसका साधन है। यहाँ वास्तव में शुक्लजी ने कविता के कर्त्तव्य-कर्म की व्याख्या की है—कविता की नहीं; यह कविता का स्वरूप नहीं कविता का कर्म है। फिर भी इससे यह स्थापित होता है—१, कविता में भावना का प्राधान्य है। २, कविता सत्य नहीं साधन है। रिचर्ड्स का भी कहना है कि वस्तु का अपना स्वतन्त्र अस्तित्व और महत्त्व कुछ नहीं, हमें तो यह देखना है कि उसका कर्म क्या है? लोग काव्य और काव्यमय की बात करते हैं, पर वास्तव में उन्हें सोचना चाहिए मूर्त अनुभूतियों के विषय में, जो सचमुच कविता हैं। इस प्रकार उनके अनुसार कविता भी एक मूर्त अनुभूति है—अर्थात् कविता सत्य नहीं अनुभूति (साधन) है। यह अनुभूति किसकी? लेखक की या पाठक की? मूल रूप में लेखक की, परन्तु व्यवहार रूप में पाठक की। "कविता अनुभूतियों का एक वर्ग है—ये अनुभूतियाँ एक निश्चित (मौलिक) अनुभूति से विभिन्न होने के कारण अनेक रूप तो हैं, परन्तु उनके विभेद की एक सीमा है। यह निश्चित (मौलिक) अनुभूति है कविता रचते समय की लेखक की अपनी अनुभूति।"

अर्थात् (अ) दोनों की परिभाषा में कविता को सत्य रूप में नहीं, क्रिया रूप में ग्रहण किया गया है। शुक्लजी ने अपने स्वभाव के अनुसार उसकी उपयोगिता पर जोर देते हुए उसे साधन माना है, रिचर्ड्स ने कोई ऐसी बात स्पष्ट रूप से नहीं कही (यद्यपि उस ओर संकेत अवश्य है)।

(आ) कविता भाव-प्रधान है। भाव को शुक्लजी मनोवेग—मन का विकार मानते हैं। यह विकार बाह्य प्रभावजन्य है अर्थात् व्यक्ति पर सृष्टि की प्रतिक्रिया है। इसके आगे शुक्लजी मौन हैं। रिचर्ड्स वैज्ञानिक हैं—वे और आगे जाते हैं और इस प्रतिक्रिया को स्नायवी झंकृति तक घटाते हुए उसकी शत-प्रतिशत भौतिक व्याख्या करते हैं।

(इ) कविता अनुभूति है, परन्तु यह अनुभूति जीवन से बाहर की अनुभूति नहीं—जीवन-गत ही है। अर्थात् सौन्दर्यानुभूति का कोई स्वतन्त्र या पृथक् अस्तित्व नहीं।

कविता और जीवन

"कला के लिए कला" अथवा "कविता के लिए कविता" का सिद्धान्त उन्हें सह्य नहीं है। इसलिए जहाँ तक ब्रैडले महोदय के इस सिद्धान्त का सम्बन्ध है—"कला का रसास्वादन करने के लिए जीवन से कुछ भी हमें अपने साथ लाने की आवश्यकता नहीं है। उसके लिए न तो उसके

व्यापारों या विचारों का ज्ञान और न उसके भावों से परिचय ही अपेक्षित है।...
वह न तो इस संसार का एक अङ्ग है और न अनुकरण—वह तो स्वयं अपने ही में एक संसार है, स्वतन्त्र, सम्पूर्ण और स्वतः शासित।" उसके विरोध में वे दोनों अक्षरशः एक स्वर हैं। कला या कविता इस जीवन से बाहर की कोई अनुभूति है—उसका इस लोक से सम्बन्ध नहीं। यह मत न शुक्लजी को क्षण-भर के लिए ग्राह्य है और न रिचर्ड्स को।

इसका तात्पर्य यह है कि शुक्लजी और रिचर्ड्स दोनों काव्यानुभूति को साधारण (normal) मानते हैं। फिर भी थोड़ा अन्तर अवश्य है। शुक्लजी रिचर्ड्स की भाँति कविता को मूर्त अनुभूति मानते हुए उसे स्नायविक क्रिया तक घटाने के लिए तैयार नहीं हैं—उनकी आधार-भूमि भारत के रस-सिद्धान्त से परिपुष्ट है, अतः लोकोत्तर आनन्द को कम-से-कम बौद्धिक रूप में वे अवश्य स्वीकार करते हैं। "कविता मनुष्य के हृदय को उन्नत करती है और ऐसे-ऐसे उत्कृष्ट और अलौकिक पदार्थों का परिचय कराती है जिनके द्वारा यह लोक देवलोक और मनुष्य देवता हो सकता है।" इस प्रकार शुक्लजी कविता की अलौकिकता (mystry) को चीरकर बिलकुल अलग नहीं फेंक देते, पर रिचर्ड्स उसको गणित के तथ्य की भाँति सूक्ष्मातिसूक्ष्म अणुओं में विभक्त करते हुए अन्तिम रूप तक पहुँचने का व्यर्थ प्रयत्न करते हैं।

स्वभावतः कविता को दोनों सोद्देश्य मानते हैं—और उद्देश्य के विषय में भी दोनों एकमत हैं। शुक्लजी के अनुसार "कविता मनुष्य के हृदय को स्वार्थ-सम्बन्धों के संकुचित मण्डल से ऊपर उठाकर लोक-सामान्य भाव-भूमि पर ले जाती है, जहाँ जगत् की नाना जातियों के मार्मिक स्वरूप का साक्षात्कार और शुद्ध अनुभूतियों का संचार होता है—इस अनुभूति-योग के अभ्यास से हमारे मनोविकारों का परिष्कार, तथा शेष सृष्टि के साथ हमारे रागात्मक सम्बन्ध की रक्षा और निर्वाह होता है।" इसी तरह रिचर्ड्स भी मानते हैं कि कविता का लक्ष्य है मानव-संवेदनाओं का, न्यूनातिन्यून दमन करते हुए, समीकरण करना। संवेदनाओं का यह समीकरण ही शुक्लजी का अनुभूत योग है—यही हृदय की मुक्तावस्था या रस-दशा है। शुक्लजी ने भारतीय दर्शन का रंग चढ़ाकर इस दशा का आत्म-निलय या विश्वात्म-भाव से एकीकरण कर दिया है। रिचर्ड्स समीकरण से आगे नहीं जाते।

कविता का उद्देश्य

लक्ष्य का निश्चय मूल्यांकन की ओर इङ्गित करता है। कविता की कसौटी

क्या है ? शुक्लजी के मत से सत् कविता के गुण इस प्रकार हैं:—१—रागों या मनोवेगों का परिष्कार करते हुए उनका सृष्टि के साथ उचित सामञ्जस्य स्थापित करना एवं जीवन के व्यापकत्व की अनुभूति उत्पन्न करना। २—कार्य में प्रवृत्त करना (अर्थात् हमारे मनोवेगों को उच्छ्वसित करते हुए हमारे जीवन में एक नया जीवन डाल देना।)३—मन को रमाते हुए स्वभाव-संशोधन तथा चरित्र-संशोधन करना (यह बात रागों के परिष्कार में आ जाती है।)

मूल्यांकन

रिचर्ड्स महोदय की धारणाएं भी बहुत विभिन्न नहीं हैं। जीवन के मूल्यों का देश-काल से घनिष्ठ सम्बन्ध स्वीकार करते हुए भी वे यह मानते हैं कि किसी वस्तु की मानव भावना और इच्छा के परितोष करने की शक्ति ही उसके मूल्य की कसौटी है। इस परितोष के लिए आवश्यक है संवेदनाओं की अन्विति (Systematization of Impulses), जो मनुष्य के जीवन का सतत प्रयत्न रहा है। संवेदनाएं जितनी ही अधिक और महत्त्वपूर्ण होंगी उतना ही उस अन्विति का मूल्य है। इस प्रकार जीवन में एकरसता (Uniformity) लाने का प्रयत्न ही मानव-जीवन का शाश्वत कर्तव्य-कर्म है और यही उसके मूल्यांकन का भी मानदण्ड है। यह अन्विति (एकरसता का प्रयत्न) अनजाने अवचेतन या अचेतन अवस्था में होती रहती है—प्रायः दूसरों के प्रभाववश; और इस प्रभाव का सर्व प्रमुख साधन है कला और साहित्य। आप देखेंगे कि इस अन्विति में और शुक्लजी के सिद्धान्त-'रागों या मनोवेगों का परिष्कार करते हुए उनका सृष्टि के साथ उचित सामञ्जस्य करना'—इन दोनों में कोई मौलिक भेद नहीं है। दोनों के मूल्यांकन की कसौटी रागों अथवा संवेदनाओं का परिष्कार और उनका उचित सामञ्जस्य ही है। रिचर्ड्स की उक्ति में व्यक्ति की अपनी संवेदनाओं के उचित सामञ्जस्य—अर्थात् आंतरिक सामञ्जस्य पर बल दिया गया है। शुक्लजी के कथन से ऐसा प्रतीत होता है कि वे सृष्टि के साथ उनके सामञ्जस्य की—अर्थात् बाह्य सामञ्जस्य की बात अधिक करते हैं। परन्तु वास्तव में बाह्य सामञ्जस्य के बिना आन्तरिक सामञ्जस्य सम्भव नहीं और न आंतरिक के बिना बाह्य ही सम्भव हो सकता है। कार्य में प्रवृत्ति आदि गुण भी इस आन्तरिक सामञ्जस्य के अन्तर्गत आ जाते हैं। परन्तु यह मानना ही पड़ेगा कि मूल सिद्धान्त की एकता होते हुए भी दोनों का प्रतिपादन काफी भिन्न है—यह विभेद वास्तव में दृष्टिकोण का विभेद है।

हमने देखा शुक्लजी और रिचर्ड्स दोनों का आर्डर (विधान) में विश्वास है, परन्तु शुक्लजी का विधान जहाँ नैतिक है, रिचर्ड्स का एकदम वैज्ञानिक

(मनोवैज्ञानिक)। शुक्लजी सदाचार और सौन्दर्य का अभिन्न सम्बन्ध मानते हैं—"बात यह है कि कविता सौन्दर्य और सात्विकशीलता या कर्तव्यपरायणता में भेद नहीं देखा चाहती। ...जो धर्म में शिव है काव्य में वही सुन्दर है।" रिचर्ड्स स्पष्ट घोषित करते हैं कि नीति-सिद्धान्त प्रायः हमारे मानसिक सामञ्जस्य में बाधक होते हैं और साथ ही जीवन के विकास में भी। परन्तु यदि नीति का स्वरूप विकासशील है और देश-काल के अनुसार इस सामञ्जस्य में योग देता है तो नीति कला और साहित्य की साधक है।—शुक्लजी ने सुन्दर का शिवं के साथ तादात्म्य कर दिया है, रिचर्ड्स ने सत्य के साथ। शुक्लजी का आदर्श राम का आदर्श है—स्थिति रक्षक का, रिचर्ड्स अन्वेषक हैं। इसीलिए दोनों कुछ दूर साथ चलकर पृथक् हो जाते हैं—शुक्लजी को निरपेक्ष मूल्यों में अटल विश्वास है—वे मर्यादावादी हैं। रिचर्ड्स एक सच्चे वैज्ञानिक अन्वेषक की भाँति विकासवादी हैं; स्वभावतः शुक्लजी का सत्य स्थिर सत्य है। रिचर्ड्स का गत्यात्मक। यह बात दोनों की आनन्द की परिभाषा से और स्पष्ट हो जाती है। शुक्ल जी आनन्द-दशा या रस-दशा को मुक्तावस्था मानते हैं। परन्तु रिचर्ड्स आनन्द को एक स्वतन्त्र मानसिक अवस्था नहीं मानते—वे तो उसे क्रिया को ग्रहण करने का एक प्रकार मानते हैं—एक प्रतिक्रिया-मात्र मानते हैं। वे कहते हैं "हम आनन्द का अनुभव नहीं करते, हम तो उस अनुभूति का ही अनुभव करते हैं जो आनन्ददायिनी है।" इस प्रकार आनन्द संवेदना का कोई रूप नहीं है—वह तो उसका एक परिणाम है—अर्थात् मानसिक वृत्तियों का सामञ्जस्य स्थापित करने में उसकी सफलता का परिणाम है। वे आनन्द को साध्य नहीं—केवल एक सूचना-चिन्ह (Indication) मानते हैं। मुख्य वस्तु, उनके अनुसार है क्रिया (Activity) आनन्द केवल यही सूचित करता है कि यह क्रिया सफल हो रही है। बस शुक्ल जी और रिचर्ड्स के दृष्टिकोण में गति का यही प्रमुख अन्तर है। शुक्ल जी गति की एक सीमा मानते हैं। रिचर्ड्स जीवन को ही एक गति मानते हैं और गणितज्ञ की तरह आगे बढ़ते ही चले जाते हैं।

दृष्टिकोण

शैली दृष्टिकोण का ही प्रतिबिम्ब है—अतः रिचर्ड्स और शुक्ल जी की आलोचना-शैली में उनके दृष्टिकोण के अनुसार ही समता-असमता है। जहाँ तक दोनों की बौद्धिकता का सम्बन्ध है, उनकी शैलियों में भी विचारों का प्राधान्य, एवं गवेषणा और उनके परिणाम-स्वरूप घनता एवं गम्भीरता मिलेगी। दोनों अध्यापक हैं—अतः दोनों की शैली विश्लेषणात्मक है। पर शुक्ल जी जैसा मैंने निवेदन किया मर्यादावादी थे और

शैली

रिचर्ड्स हैं विकासवादी, इसलिए यह स्वाभाविक है कि शुक्ल जी की शैली शास्त्रीय और रिचर्ड्स की वैज्ञानिक (मनोवैज्ञानिक) हो। शुक्ल जी जहाँ बार-बार शास्त्र-परम्परा को पकड़ते हुए शास्त्रीय शब्दावली का प्रयोग करते हैं, वहाँ रिचर्ड्स आग्रह-पूर्वक उसका तिरस्कार।

इसके अतिरिक्त एक और स्पष्ट अन्तर दोनों की शैली में मिलेगा, शुक्ल जी की शैली में रस-मग्नता है, रिचर्ड्स की शैली में वैज्ञानिक तथ्य-कथन-मात्र। कारण यह है कि शुक्ल जी ने सुन्दरं का शिवं रूप लिया है इसलिए उनमें श्रद्धा की भावना ओत-प्रोत है—वे रस की निरपेक्ष सत्ता में विश्वास करते हैं, अतएव वे हमें स्थान-स्थान पर रस-मग्न होते दिखाई देते हैं। उनकी सहृदयता अद्वितीय थी—उनकी रसज्ञता इतनी तरल थी कि वे अवसर आने पर अवश बह जाते थे।

"निर्गुन कौन देस कौ बासी ?
मधुकर कहु समुझाय, सौंह दै बूझत साँच न हाँसी— ।

'कसम है, हम ठीक-ठीक पूछती हैं, हँसी नहीं, कि तुम्हारा निर्गुण कहाँ का रहने वाला है।' कुछ विनोद, कुछ चपलता, कुछ भोलापन, कुछ घनिष्ठता—कितनी बातें इस छोटे से वाक्य से टपकती हैं।" ऐसे उद्धरण रसान्वेषी पाठक को शुक्ल-साहित्य में अनेक मिल जायंगे, उड़ते हुए धारणा-चित्रों पर मुग्ध होने वालों की बात हम नहीं कहते। यही रसमग्नता उनकी वाणी को उच्छ्वसित कर देती है और विरोधी पाठक भी उसकी शक्ति से अभिभूत हुए बिना नहीं रह सकता। प्रतिपादन की यह दुर्निवार शैली शुक्ल जी की बहुत बड़ी विशेषता थी—बुद्धि की दृढ़ता और हृदय के रस से परिपुष्ट थी। इसके विपरीत रिचर्ड्स में यह श्रद्धा की भावना दुर्लभ है, अतः वे कहीं रसमग्न नहीं होते—रसमग्नता शायद उनकी दृष्टि में आलोचना की दुर्बलता भी हो।

उपर्युक्त विवेचन से यह परिणाम निकालना कठिन न होगा कि (१) शुक्ल जी की अपेक्षा रिचर्ड्स अधिक मेधावी हैं, उनकी दृष्टि अपेक्षाकृत तीखी और विवेचन अधिक मौलिक होता है। रिचर्ड्स की वैज्ञानिक दृष्टि जिस सूक्ष्म सत्य को सफाई से पकड़ लेती है, वह शुक्ल जी की नैतिक दृष्टि के लिए कठिन होता है।

परिणाम

(२) रिचर्ड्स का दृष्टिकोण कहीं अधिक व्यापक है। उनका सत्य गत्यात्मक है, शुक्ल जी का स्थिर। इसलिए विषमताओं का समन्वय जिस सरलता से रिचर्ड्स कर लेते हैं, उस सरलता से से शुक्ल जी नहीं। इसी कारण शुक्ल जी बहुत शीघ्र ही आउट ऑव डेट हो गए—रिचर्ड्स कभी नहीं हो सकते,

वे टी० एस० इलियट की कविताओं का भी आदर हृदय खोल कर करते हैं, शुक्ल जी को प्रसाद के साथ समझौता करने में भी कठिनाई पड़ी। कविता के लोकपक्ष ने उन्हें इतना पकड़ रखा था कि रस की एकांत साधना उन्हें मुश्किल से ही ग्राह्य हो सकती थी, इसी कारण गीति-काव्य के प्रति शुक्ल जी का भाव कुछ कठोर ही रहा।

(३) परन्तु सूक्ष्मता, व्यापकता और मौलिकता की क्षति शुक्ल जी अपने विवेक, शक्ति और गांभीर्य के द्वारा पूरी कर लेते हैं। शुक्ल जी प्राणवान पुरुष थे—उनमें जीवन था, गति थी। यह गति संस्कार-वश आगे को अधिक नहीं बढ़ी, इसलिए भीतर को बढ़ती गई और उसका परिणाम हुआ अतुल गाम्भीर्य और शक्ति। जो कुछ उन्होंने विस्तार में खोया वह गहराई में और घनता में पा लिया। समर्थ व्यक्ति अगर आगे को नहीं बढ़ता तो भीतर तो उसे बढ़ना ही है, वह बाह्य विस्तार को छोड़कर जड़ों को गहरा और मजबूत करेगा (प्रेमचन्द और प्रसाद की तुलना इस अन्तर को स्पष्ट कर देगी)। शुक्ल जी समय के साथ आगे नहीं बढ़ सके, क्रोचे के अभिव्यञ्जनावाद और जर्मन दार्शनिकों के सौन्दर्य-शास्त्र की विशेषताओं को ग्रहण करने में वे असमर्थ रहे—परन्तु अपने रस-शास्त्र की शक्ति और सम्भावनाओं की वे निरन्तर छान-बीन करते रहे और इसके परिणाम स्वरूप भारतीय रस-शास्त्र का जो मनोवैज्ञानिक विवेचन उन्होंने प्रस्तुत किया, वह भारत के आलोचना-साहित्य को उनका अमूल्य उपहार है।

दूसरे कविता के लोकोत्तर आनन्द का तिरस्कार न करके—उसकी मिस्टरी को भी थोड़ा-बहुत स्वीकार करते हुए शुक्ल जी ने अपने दृढ़ विवेक का परिचय दिया है। इसके विपरीत रिचर्ड्स महोदय का विवेक अति के कारण अविवेक बन जाता है। इसका प्रमाण है, "कविता का विश्लेषण" परिच्छेद में दिया हुआ उनका रसास्वादन-सम्बन्धी चित्र। इस चित्र के द्वारा कविता के विश्लेषण का प्रयत्न 'कला कला के लिए है' सिद्धान्त की अपेक्षा कहीं अधिक हास्यास्पद है।

(४) इसी कारण शुक्ल जी की आलोचना में हमारे विश्वास को पकड़ने की क्षमता रिचर्ड्स की अपेक्षा अधिक है। शुक्ल जी के जायसी, तुलसी, सूर, प्रसाद आदि की आलोचना में विरोधी को भी विजित करने की क्षमता है। रिचर्ड्स ने सिद्धान्त-विवेचन ही अधिक किया है, परन्तु हमारी धारणा है कि वे काव्य विशेष का विवेचन बहुत सफल शायद नहीं कर सकते। उनका एकाध प्रयत्न इसका साक्षी है। इसका स्पष्ट कारण है रसमग्न होने की शक्ति का अभाव।

(५) दोनों के दोष भी समान हैं—अपने मत का प्रतिपादन करते समय

दोनों में एकांगिता हठधर्मी और मताभिमान मिलता है जो विक्षोभ उत्पन्न करता है। इसके अतिरिक्त रिचर्ड्स ने सत्य की अत्यधिक छान-बीन के द्वारा और शुक्ल जी ने शिव का बोझ रखकर सुन्दर के सहज रस-बोध में थोड़ी-बहुत बाधा भी उपस्थित की है।

अन्त में ऐतिहासिक महत्त्व को मैं बहुत बड़ा गौरव नहीं मानता, पर यदि उस पर दृष्टिपात किया जाय तो रिचर्ड्स और शुक्ल जी में कोई तुलना नहीं। यहाँ हमें यह न भूलना चाहिए कि रिचर्ड्स का जिस इतिहास से सम्बन्ध है, वह हमारे इतिहास की अपेक्षा कहीं अधिक विकसित है—अतः उस पर प्रभाव डालना साधारण गौरव नहीं—और यह गौरव उनको प्राप्त भी है; इलियट-जैसे प्रौढ़ आलोचक ने उन्हें प्रवर्तकों में स्थान दिया है। फिर भी शुक्ल जी ने अपने युग को प्रभावित नहीं किया आच्छादित किया—

> "वह देखी भीमा मूर्ति आज रण देखी जो
> आच्छादित किये हुए थी जो समग्र नभ को।"

१३. आलोचक रामचन्द्र शुक्ल—एक मूल्यांकन

डॉक्टर देवराज

शुक्लजी के आलोचक-विचारक व्यक्तित्व पर बहुत-से समसामयिक लेखकों ने टिप्पणी की है, और प्रायः सभी ने उनके महत्त्व का अनुभव किया है। किन्तु इस प्रश्न का कि शुक्लजी की महत्ता ठीक किस बात में है, अभी तक निर्णय हो सका है, इसमें सन्देह है। इसका प्रमाण कई आलोचकों के हाल ही में प्रकट किये हुए उद्‌गार हैं। शुक्लजी और डॉ० रिचर्ड्स का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत करते हुए श्री नगेन्द्र ने प्रकट किया है कि 'शुक्लजी आउट-ऑव-डेट हो गए।' श्री शिवदानसिंह चौहान का कहना है कि 'शुक्लजी ने अपनी तर्क-शून्यता और दुराग्रह को ढाँकने के लिए······अनपेक्षित पांडित्य-प्रदर्शन का रूपक रचा,' और 'उन्होंने आई० ए० रिचर्ड्स-जैसे मनोवैज्ञानिक समीक्षक की पुस्तकों में से पूर्व-प्रकरण से हटाए वाक्यों द्वारा भारतीय लाक्षणिक ग्रन्थों की स्थापनाओं और वर्गीकरण का पिष्टपेषण करवाया था। इस प्रकार अपने मत की प्रशस्ति करके उन्होंने अभिव्यंजनावाद, स्वच्छन्दतावाद, प्रभाववाद, मूर्ति-विधानवाद, परावस्तुवाद आदि साहित्य-कला की आधुनिक प्रवृत्तियों को प्रवाद और वितंडावाद कहकर उनकी निन्दा की थी।

क्या शुक्लजी इतने अनुदार निर्णयों के योग्य हैं? और क्या वे 'आउट-ऑव्-डेट, हो गए? हमें इसमें सन्देह है। हमारे विचार में उक्त आलोचकों के इन निर्णयों पर पहुँचने का कारण यह है कि वे शुक्ल में कुछ ऐसी चीजें ढूँढते हैं, जो उनमें नहीं हैं; और साथ ही वे उन विशेषताओं की उपेक्षा भी करते हैं जो शुक्लजी में थीं। आगे के पृष्ठों में हम अपने ढङ्ग से शुक्ल की इन विशेषताओं और कमियों को समझाने की कोशिश करेंगे।

आलोचक एक विकसित संवेदना का रसग्राही पाठक होता है। आलोचक की हैसियत से उसकी विशेषता यह होती है कि वह (१) रसानुभूति का बौद्धिक विश्लेषण करने क्षमता रखता है; और (२) कृतियों के मूल्यांकन का प्रयत्न करता है। इस प्रकार आदर्श समालोचक में रस-ग्रहण एवं रसानुभूति के विश्लेषण क

शक्तियों के अतिरिक्त ऐसा दृष्टिकोण बनाने की प्रवृत्ति भी होनी चाहिए जिससे वह विभिन्न कलाकारों का मूल्य आँक सके। समझाने की सुविधा के लिए आलोचना-शक्ति के उपयुक्त विभाग किये जा सकते हैं, पर वास्तव में ये शक्तियाँ परस्पर-सम्बद्ध और सापेक्ष हैं। उदाहरण के लिए कोई आलोचक रसानुभूति के उपादानों का संकेत करते हुए किन तत्त्वों पर ध्यान देगा यह उसके मूल्यांकन-सम्बन्धी दृष्टिकोण पर निर्भर करेगा; इसी प्रकार यह दृष्टिकोण रसग्राहिता को भी प्रभावित करता है—इसका प्रमाण वाद-ग्रस्त आलोचकों की प्रवृत्ति है जो उन्हें अपने वाद से बाहर की कृतियों का सौंदर्य देखने में संकोच का अनुभव कराती है।

पारस्परिक सापेक्षता के बावजूद उक्त तीन शक्तियाँ एक-दूसरे से भिन्न हैं। हमारा विचार है कि जहाँ शुक्लजी में पहली दो शक्तियाँ पूर्णतया विकसित थीं, वहाँ उनमें मूल्यांकन का उचित (अप-टु-डेट) दृष्टिकोण बनाने लायक चिंतन-शक्ति न थी। पहली दो शक्तियाँ सफल व्यावहारिक आलोचक बनाती हैं; शुक्लजी ऐसे आलोचक थे। वे मूल्यांकन के सफल मानों का आविष्कार नहीं कर सके, यह इस बात का द्योतक है कि वे बहुत उच्च कोटि के साहित्य-मीमांसक न थे। इस दृष्टि से वे अरस्तू-जैसे क्रान्तदर्शी प्रतिभा-मनीषियों से ही नहीं, रिचर्ड्स-जैसे साधारण किंतु वैज्ञानिक विचारकों से भी पीछे थे।

शुक्लजी की सबसे बड़ी शक्ति है रसग्राहिता; इतनी ठोस रसज्ञता वाले पाठक और आलोचक बहुत कम पैदा होते हैं। जो कोई भी शुक्लजी के गहरे सम्पर्क में आता है वह इनकी इस शक्ति से चकित और अभिभूत हुए बिना नहीं रह सकता। स्वदेश में अथवा विदेश में रसग्राहिता के ऐसे असन्दिग्ध क्षमता-सम्पन्न समीक्षक कम मिलेंगे। कौन-सा काव्य वस्तुतः सुन्दर, वस्तुतः महान् है, इसे पहचानने में शुक्लजी की अन्तर्भेदिनी दृष्टि कभी धोखा नहीं खाती, भले ही वे सदैव उस दृष्टि का सफल विवेचनात्मक मंडन प्रस्तुत न कर सकें। उदाहरण के लिए शुक्लजी ने छायावादी रहस्यवाद को कभी स्वीकार नहीं किया। इस अस्वीकृति में उस समय के किसी आलोचक ने उनका साथ नहीं दिया, इसलिए उनके लिए यह आवश्यक हो गया कि वे रहस्यवाद का लम्बा-चौड़ा सैद्धान्तिक खंडन प्रस्तुत करें। इस सैद्धान्तिक खण्डन के महत्त्व में संदेह किया जा सकता है, किन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि शुक्लजी की रस-दृष्टि ने छायावाद में जो कमियाँ देखी थीं वे उसमें नहीं हैं।

क्यों बहुत-से पाठक और आलोचक अपनी रसग्राहिता को ठीक से विकसित नहीं कर पाते, उसे विकृत और कुण्ठित हो जाने देते हैं, इसका सबसे बड़ा कारण है—

एकांगी वादों का स्वीकार और अवलम्बन। शुक्ल जी को अपनी रसग्राहिता में इतना विश्वास था कि वे नये-से-नये और अधिक भड़कीले, प्रचारित एवं प्रख्यापित वादों से प्रभावित नहीं होते। इसका कारण शायद यह था कि उन्होंने अपनी रस-ग्राहिणी वृत्ति को महाकवियों के संपर्क में पुष्ट किया था—ऐसे कवियों के जिनका महत्त्व सब युगों में मुक्त कंठ से स्वीकार किया गया है।

यह समझना भूल होगी कि शुक्लजी विविध वादों का विरोध रसवाद की रक्षा या मंडन के लिए करते हैं; वे उनका खंडन प्रायः इसीलिए करते हैं कि वे (वाद) उनकी रसग्राहिता के विरुद्ध पड़ते है। आचार्य को रस-ग्राहिणी वृत्ति बतलाती है कि छायावादी और तथाकथित रहस्यवादी काव्य में कोई गम्भीर कमी है; अब यदि उस काव्य का कोई हामी किसी 'वाद' का आश्रय लेकर सिद्ध करना चाहे कि वह काव्य वस्तुतः निर्दोष है, तो वे उस वाद की एकांगिता या निःसारता सिद्ध करने को तैयार हो जायंगे, और पूर्णतया नहीं तो कुछ दूर तक, उसमें सफल भी होंगे। यही उनकी शक्ति है; यही प्रवृत्ति उनमें हठधर्मी का रूप धारण करती भी मालूम पड़ती है।

जब कोई वाद आचार्य की रसानुभूति के विरुद्ध खड़ा हो जाता है तो वे कुछ इस प्रकार का भाव दिखाते प्रतीत होते हैं—रहने दो अपने सिद्धान्त, ऐसे बहुत से 'वाद' देखे हैं। तुममें साहित्यिक अनुभूति तक तो है नहीं, सिद्धान्त बनाने चले हो!

किंतु एक विज्ञापित और प्रचलित वाद का, फिर चाहे वह मिथ्या ही क्यों न हो, निराकरण सहज काम नहीं। (और इस युग में 'वाद' एक नहीं, दर्जनों हैं, आचार्य किस-किस का 'प्रामाणिक' परिचय प्राप्त करते और फिर निराकरण करते ?) वादों के निराकरण के लिए उनके विरोध में उच्च रसानुभूति को खड़ा कर देना काफ़ी नहीं—क्योंकि रसानुभूति से सहानुभूति करने वाले दुर्लभ हैं; आवश्यकता यह है कि अधिक पुष्ट, ग्राह्य और आधुनिक वाद द्वारा उनका मुकाबला किया जाय। "आधुनिक" से मतलब यही नहीं कि वह नया मालूम पड़े, बल्कि यह भी कि वह एगांगी वादों से अधिक व्यापक, सब श्रेष्ठ सैद्धान्तिक दृष्टियों का समन्वय-रूप, और नवीनतम आविष्कृत तथ्यों की व्याख्या करने वाला हो।

शुक्लजी ऐसे नवीन वाद या सिद्धान्त की परिकल्पना नहीं कर सके। इसके विपरीत उन्होंने नये वादों के विरोध में रखा पुराने रसवाद को, जो आधुनिक साहित्यिक तथ्यों (जैसे उपन्यास, कहानी) की व्याख्या करने में नितान्त असमर्थ था। इसीलिए उनकी "वादों" की आलोचना उतनी प्रभावशालिनी नहीं हो पाई।

किन्तु जहाँ यह ठीक है वे एकांगी वादों के विरोध में एक सुचिन्तित साहित्यिक सिद्धान्त का निर्माण नहीं कर सके, वहाँ यह भी ठीक है कि प्रायः वे एकांगी वादों की कमियों को भाषा द्वारा पकड़ने और प्रकट करने में समर्थ हुए हैं। और यहाँ हमें शुक्लजी की विश्लेषण-शक्ति का लोहा मानना पड़ता है।

शुक्लजी रसानुभूति की बौद्धिक व्याख्या कर सकते हैं, उसके विधायक तत्वों की चेतना पाठक में उत्पन्न कर सकते हैं, इसका प्रमाण उनकी सूर, तुलसी, जायसी की समीक्षाएं हैं। इस प्रक्रिया में वे कहीं रसवादी पदावली का प्रयोग करते हैं, कहीं नहीं; पर वह अनिवार्य रूप में कहीं आवश्यक नहीं। 'तुलसी की भावुकता' अपनी सिद्धि के लिए रसवाद की सापेक्ष नहीं और न यह निर्णय कि 'नागमती का विरह-वर्णन हिन्दी-साहित्य में एक अद्वितीय वस्तु है।' इसी प्रकार तुलसी के 'शील-निरूपण और चरित्र-चित्रण' की परीक्षा के पहले की यह भूमिका कि 'रस-संचार से आगे बढ़ने पर हम काव्य की उस उच्च भूमि में पहुँचते हैं जहाँ मनोविकार अपने क्षणिक रूप में ही न दिखाई देकर जीवन-व्यापी रूप में दिखाई देते हैं—न तो रसवाद पर आधारित ही कही जा सकती है और न उसकी पोषक।

शुक्लजी में उच्च कोटि की रसानुभूति है, और विश्लेषण-शक्ति है, इससे पाठक यह परिणाम न निकाल लें कि उनमें सैद्धान्तिक चिन्तन की शक्ति है ही नहीं।

शुक्लजी की चिन्तन-शक्ति

यह अन्तिम शक्ति उनमें है, पर वह विशेषोन्मुख है, सामान्योन्मुख नहीं। मतलब यह है कि शुक्लजी जहाँ विशिष्ट रसानुभूति को लेकर सुन्दर चिन्तन कर सकते हैं वहाँ "साहित्य-मात्र" के संबंध में ठीक नहीं सोच पाते। दूसरे शब्दों में—वे जहाँ रसानुभूति के विशिष्ट अवसरों पर असाधारण खण्ड-सिद्धान्तों का आविष्कार कर डालते हैं वहाँ; उन खण्ड-सिद्धान्तों का एक महा सिद्धान्त के रूप में समन्वय नहीं कर पाते—वे रिचर्ड्स की भाँति सिद्धान्त-पद्धति के निर्माण (System building) में पटु नहीं हैं। विशेष अवसर पर वे 'कल्पना' पर महत्त्वपूर्ण विचार प्रकट कर जाते हैं, साम्प्रदायिक और स्वाभाविक रहस्य-भावना से सूक्ष्म भेद का निरूपण करते हैं, लक्षणा-व्यंजना से अभिधा को श्रेष्ठ घोषित करते हैं, काव्य में विभाजन-व्यापार को प्रधानता देते हैं और रसवाद की गम्भीर कमियों का भी निर्देश करते हैं—पर वे इन खण्ड-दृष्टियों को एक नई साहित्य-दृष्टि में, एक नए साहित्य-शास्त्र के रूप में, ग्रथित नहीं कर पाते। इसका एक कारण उनका यह भ्रम भी है कि रस-सिद्धान्त एक पूर्ण सिद्धान्त है; और इस चेतना का अभाव भी कि

उनके समस्त चिन्तन-खण्ड रसवाद की परम्परा के पोषक या उसके अन्तर्गत नहीं हैं।

किन्तु ये चिन्तन-खण्ड, ये खण्ड-सिद्धान्त, जो विशिष्ट रसानुभूतियों की व्याख्या-रूप हैं, विवेकशील विचारकों के बड़े काम के हैं। और यह दो तरह से। प्रथमतः वे जो हमारा ध्यान साहित्यिक रसानुभूति और मूल्यांकन से संबद्ध कुछ महत्त्व-पूर्ण तथ्यों की ओर आकर्षित करते हैं; और दूसरे वे उन तथ्यों का विश्लेषण भी प्रस्तुत करते हैं—यद्यपि यह विश्लेषण अभी किसी विचार-पद्धति (System of thought) का अङ्ग नहीं बना है। वे चिन्तन-खण्ड एक पूर्ण साहित्य-शास्त्र के निर्माण के लिए प्रायः वही महत्त्व रखते हैं जो देशकालगत नई अन्वेषित घटनाएँ वैज्ञानिक सिद्धान्तों के पुनर्ग्रंथन के लिए। अवश्य ही शुक्लजी ने रसानुभूति से संबद्ध सभी तथ्यों का पर्यवेक्षण नहीं कर डाला है, पर उनकी स्वच्छ दृष्टि जितना देख सकी है उसके लिए भविष्य का साहित्य-शास्त्र उनका चिर-ऋणी रहेगा।

शुक्लजी आउट-आव-डेट नहीं होंगे, क्योंकि उनमें सिद्धान्तों के निर्माण की नहीं, तथ्यों (Facts) को पकड़ने की क्षमता है—और कठिनता से दीखने वाले तथ्य कभी पुराने नहीं पड़ते। अवश्य ही इन तथ्यों का महत्त्व वही ठीक से आँक सकेगा जो या तो एक सर्वाङ्गपूर्ण साहित्य-शास्त्र के निर्माण का प्रयत्न करेगा या ऐसे प्रयत्नों से परिचित होगा।

नीचे के उद्धरणों में पाठक कतिपय ऐसे तथ्य-संकेतक चिन्तन-खण्डों का आभास पा सकेंगे; जहाँ-तहाँ टिप्पणियाँ और प्रश्न शुक्लजी का दृष्टि-कोण और आत्म-विरोध समझने में सहायक सिद्ध होंगे।

(१) काव्य में 'विभाव' मुख्य समझना चाहिए—रस का आधार खड़ा करने वाला जो विभावन व्यापार है वही कल्पना का सबसे प्रधान कार्य-क्षेत्र है।

(चिन्तामणि, भाग दो, पृष्ठ २)

[दूसरा वाक्य रस को प्रधानता देता प्रतीत होता है, जैसे रस साध्य हो और विभावन-व्यापार साधन। इसके विपरीत पहला वाक्य विभावों अर्थात् परिवेश (Environment) के मार्मिक चित्रण को प्रधानता देता है।]

(२) काव्य में 'आलम्बन' ही मुख्य है।...श्रोता या पाठक किसी काव्य को पढ़ता या सुनता है सो केवल दूसरों का हँसना, रोना, क्रोध करना आदि देखने के लिए ही नहीं बल्कि ऐसे विषयों को सामने लाने के लिए जो स्वयं उसे हँसाने, रुलाने, क्रुद्ध करने, आकृष्ट करने, लीन करने का गुण रखते हों। (पृ० ४८-४९)

[यह उद्धरण सं० (१) की आवृत्ति ही है।]

(३) उपमाएँ देने में कालिदास अद्वितीय समझे जाते हैं, पर वस्तु-चित्र को उपमा आदि का अधिक बोझ लादकर उन्होंने भद्दा नहीं किया।

(४) यों ही खिलवाड़ के लिए बार-बार प्रसंग-प्राप्त वस्तुओं से श्रोता या पाठक का ध्यान हटाकर दूसरी वस्तुओं की ओर ले जाना, जो प्रसंगानुकूल भाव उद्दीप्त करने में भी सहायक नहीं, काव्य के गाम्भीर्य और गौरव को नष्ट करना है, उसकी मर्यादा बिगाड़ना है। (पृष्ठ १६)

[अन्तिम दो उद्धरण कल्पना की मर्यादा का निर्देश करते हैं]

(५) 'विभाव' व्यंग्य नहीं हुआ करता। (पृष्ठ २४)

[यह मान्यता ध्वनिवाद की विरोधिनी है।]

(६) गम्भीर-भाव-प्रेरित काव्यों में कल्पना प्रत्यक्ष और अनुमान के दिखाए मार्ग पर काम करती है और बहुत घना और बारीक काम करती है। (पृष्ठ १७४)

[प्रकृत कल्पना का कार्य कौतुक या चमत्कार का विधान नहीं है।]

(७) वाच्यार्थ ही काव्य होता है; व्यंग्यार्थ या लक्ष्यार्थ नहीं। (पृष्ठ १८३)

[उद्धरण सं० ५ से तुलना कीजिए]

(८) "कला कल्पना की नूतन सृष्टि में है, प्रकृति के ज्यों-के-त्यों चित्रण में नहीं", "काव्य कल्पना का लोक है" यह सब उसके बेल-बूटे-वाली हल्की धारणा के कच्चे-बच्चे हैं। (पृष्ठ १८५)

(९) उक्ति चाहे कितनी ही कल्पनामयी हो उसकी तह में कोई 'प्रस्तुत अर्थ' अवश्य ही होना चाहिए। (पृष्ठ २०७)

[हमारी समझ में यह प्रस्तुत अर्थ जीवन या जगत् की मर्मछवियों, वहाँ अनुस्यूत मूल्यों, का ही पर्याय हो सकता है। इसका अर्थ यह हुआ कि काव्य-साहित्य का काम जीवन और जगत् की मर्मछवियों का चित्रण अथवा तद्गत मूल्यों का उद्घाटन है। यह चित्रण या उद्घाटन रागात्मक प्रतिक्रिया जगाता है, पर उसका मुख्य लक्ष्य परिवेश के विशिष्ट रूपों का परिचय कराना है। यह व्याख्या 'विभावों की मुख्यता' के अनुरूप है। उस दशा में यह कैसे कहा जा सकता है कि साहित्य का प्रधान ध्येय रस अर्थात् रागोद्रेक है ?]

(१०) ज्ञान-प्रसार के भीतर ही भाव-प्रसार होता है। (पृष्ठ २१५)

[क्या इसका यह स्पष्ट निष्कर्ष नहीं कि साहित्यकार का अपने परिवेश अर्थात् युग से परिचित होना जरूरी है ?]

(११) प्रस्तुत पक्ष तो तब होगा जब काव्य की अभिव्यञ्जना का जगत् या जीवन की बातों से कोई सम्बन्ध होगा। (पृष्ठ २२६)

यहाँ शुक्ल जी ने प्राचीन रसवाद तथा साधारणीकरण के सिद्धान्त की जिस कमी का उल्लेख किया है वह उतनी साधारण नहीं है जितनी कि उसे वे समझते हैं। जब दुष्यन्त और शकुन्तला एक दूसरे के सामने होते हैं तो पाठक या श्रोता की बोध-वृत्ति का विषय न तो केवल शकुन्तला ही होती है और न केवल दुष्यन्त, अतः उसकी प्रतिक्रिया भी इतनी सरल नहीं होती कि उसे केवल रति अथवा अन्य किसी भाव का उद्रेक कहकर उड़ा दिया जाय। जब दुष्यन्त शङ्का और अनिश्चय के कारण उपालम्भ तथा दोषारोपण करती हुई शकुन्तला का प्रत्याख्यान करता है तब हमारी अनुभूति का आलम्बन क्या होता है ? दुष्यन्त ? अथवा शकुन्तला ? क्या उस समय हमारा ध्यान दुष्यन्त की दुविधा और शकुन्तला के कष्ट तथा क्रोध इन सभी पर नहीं होता ? और क्या यह कहना अधिक ठीक नहीं होगा कि नाटक का यह स्थल हममें एक जटिल नैतिक परिस्थिति की समस्यामूलक चेतना को जगाता है ? स्पष्ट ही इस जटिल रागबोधात्मक अनुभूति को किसी स्वीकृत स्थायी-भाव से समीकृत नहीं किया जा सकता।

शुक्ल जी अपनी आलोचना के इन दूरगामी निष्कर्षों को नहीं देख सके, यह इस बात का निदर्शन है कि वे उच्चकोटि के सामान्योन्मुख विचारक नहीं थे। एक दूसरा उदाहरण लीजिए। ऊपर हम ऐसे उद्धरण दे चुके हैं जहाँ शुक्ल जी काव्य में विभावों को प्रधान घोषित करते हैं। यदि यह सत्य है तो कोई रचना, जिसमें विभावों का प्रत्यक्षीकरण नहीं हुआ है, श्रेष्ठ साहित्य नहीं हो सकती। ऐसी दशा में शुक्ल जी का यह कथन कि—

"फारसी की शायरी भाव-पक्ष-प्रधान है। उसमें विभाव-पक्ष का विधान नहीं या नहीं के बराबर हुआ।" (चिन्तामणि भाग २ पृष्ठ ११०)

चिन्त्य हो जाता है। सम्भवतः शुक्ल जी विभाव का अर्थ विश्व की प्रत्यक्ष छवियाँ समझते थे। क्योंकि फारस की शायरी गीतात्मक या मुक्तक रूप है, और उसका विषय प्रेम-संबन्धी भावनाएँ या मनोविकार हैं, इसलिए शुक्ल जी को यह भ्रम हुआ कि उसमें विभावों का समावेश नहीं हो सकता। आश्चर्य है कि फारसी-काव्य पर उक्त टिप्पणी करते हुए शुक्ल जी को यह शङ्का नहीं हुई कि वह रस-सिद्धान्त के भी विरुद्ध पड़ती है। वास्तविकता यह है कि गीति-काव्य में कभी तो आलम्बन आदि विभाव संकेतित या आक्षिप्त रहते हैं और कभी भावनाएँ एवं मनोदशाएँ ही हमारी बोध-वृत्ति का विषय होती हैं और विभाव तत्त्व के रूप में साहित्यिक आकर्षण का आधार खड़ा करती हैं। यहाँ यह भी ध्यान रखना चाहिए कि आलम्बन से हमारा तात्पर्य उस समग्र परिस्थिति-समूह से है जो काव्य-विशेष द्वारा हमारी बोध-वृत्ति

बीच घुस-घुसकर बहते हुए नालों······मंजरियों से लदी हुई अमराइयों को देख क्षण-भर लीन न हुआ, यदि कलरव करते हुए पक्षियों के आनन्दोत्सव में उसने योग न दिया, यदि खिले हुए फूलों को देख वह न खिला, यदि सुन्दर रूप सामने पाकर अपनी भीतरी कुरूपता का उसने विसर्जन न किया, यदि दीन दुःखी का आर्त्त-नाद सुन वह न पसीजा···तो उनके जीवन में रह क्या गया ?" तो मालूम पड़ता है कि वे साहित्य के प्रयोजन की वैज्ञानिक अर्थात् बुद्धिगम्य व्याख्या प्रस्तुत न करके 'कविता नन्दन-कानन को कोकिला है'-जैसी पदावली से पाठकों को भुलावा देने की कोशिश कर रहे हैं।

वस्तुस्थिति यह है कि 'रस' और 'भाव-प्रसार या भाव-सामंजस्य' का दृष्टिकोण न तो साहित्य और मानवी जीवन के सम्बन्ध की समुचित व्याख्या कर सकता है, और न साहित्य के सांस्कृतिक महत्त्व की ही। 'अनेकरूपात्मक विश्व' में भयंकर घृणा, क्रूर हिंसा और नग्न वासना से सम्बद्ध तथ्य भी हैं और साहित्य में प्रकृतिवाद (Naturalism) भी एक सम्भव दृष्टिकोण है। उत्तर में कहा जा सकता है कि शुक्ल जी की समीक्षा-पद्धति में 'लोक-मंगल' का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है किन्तु वह किस प्रकार उनकी 'रस' और 'भावयोग' की दृष्टियों से अनुगत होता है यह हमारी समझ में नहीं आता।

एक स्थल में ब्राउनिंग पर प्रशंसात्मक टिप्पणी करते हुए शुक्ल जी ने लिखा है—"कितने गहरे, ऊँचे और व्यापक विचारों के साथ हमारे किसी भाव या मनोविकार का संयोग कराया जा सका है, कितने भव्य और विशाल तथ्यों तक हमारा हृदय पहुँचाया जा सका है, इसका विचार भी कवियों की उच्चता स्थिर करने में बराबर रखना पड़ेगा।" (चिन्तामणि, भाग २, पृष्ठ १५२) इस वाक्य में 'भी' शब्द लेखक के मन की दुविधा और उसकी मूल्यांकन-सम्बन्धी धारणा की डाँवाडोल स्थिति को व्यक्त करता है। वस्तुतः शुक्ल जी अन्त तक यह निश्चय नहीं कर सके कि साहित्यिक मूल्यांकन का पैमाना केवल अन्तर्विकारों का सामंजस्य है अथवा पाठक और उसके परिवेश का व्यापक रागात्मक सम्बन्ध। अन्य व्यापारों की भाँति मनुष्य की साहित्य-सृष्टि भी उसकी शेष सृष्टि से सामंजस्यमूलक सम्बन्ध (Adaptation) का अस्त्र है, इसकी चेतना शुक्ल जी में नहीं पाई जाती। इसीलिए जहाँ 'तुलसीदास' में उन्होंने उक्त कवि की वर्णाश्रममूलक सामाजिकता की प्रशंसा की वहाँ वे यह नहीं देख सके कि आज के नये परिवेश (Environment) में नये कलाकार की सामाजिक मूल्य-दृष्टि का कोई दूसरा रूप भी हो सकता है।

[1]देखिये 'कविता क्या है ?' निबंध

१४. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के निबन्ध

प्रोफेसर विनयमोहन शर्मा

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने अपने साहित्य-जीवन में कविता, कहानी, समालोचना और निबन्ध की रचना की है। कविता उनकी बौद्धिकता से बोझिल हो गई और कहानी साहित्य के इतिहास की एक घटना-मात्र रह गई, परन्तु उनका समालोचना तथा निबन्ध का कृतित्व उन्हें सचमुच अमर बनाने का कारण हुआ है। यहाँ उनके निबन्धकार-रूप की चर्चा की जा रही है।

उनके निबन्धों के संग्रह 'चिंतामणि भाग १' और 'चिंतामणि भाग २' के नाम से प्रकाश में आ गए हैं। 'विचार-वीथी' चिंतामणि भाग १ का ही पूर्वरूप है। चिंतामणि भाग १ में मनोविकार, साहित्य-सिद्धान्त और साहित्य-समीक्षा-सम्बन्धी विषयों के सत्रह निबन्ध संग्रहीत हैं। 'चिंतामणि भाग २' में तीन विस्तृत निबन्ध हैं, जिनके शीर्षक हैं—काव्य में प्राकृतिक दृश्य, काव्य में रहस्यवाद और काव्य में अभिव्यंजनावाद।

यह कहने की आवश्यकता नहीं कि उनके निबन्धों में भी उनकी प्रखर आलोचक दृष्टि कहीं ओझल नहीं होने पाई है। "ऐसे प्रकृत निबन्ध, जिनमें विचार-प्रवाह के बीच लेखक के व्यक्तिगत वाग्-वैचित्र्य तथा उनके हृदय के भावों की अच्छी झलक हो, हिन्दी में अभी कम देखने में आ रहे हैं।" आचार्य की यह उक्ति स्वयं उनके लिए अपवाद कही जा सकती है।

चिंतामणि (भाग १) के निबन्धों का विभाजन ऊपर निर्दिष्ट किया जा चुका है। सबसे पहले हम मनोभाव-सम्बन्धी निबन्धों पर विचार करेंगे। इनमें भाव या मनोविकार, उत्साह, श्रद्धा-भक्ति, करुणा, लज्जा और ग्लानि, लोभ और प्रीति, घृणा, ईर्ष्या, भय तथा क्रोध का समावेश है।

मनोविकारों पर तर्कमय चिंतन के साथ हिन्दी में प्रथम बार, ये निबन्ध लिखे गए हैं। सत्रहवीं शताब्दी में अंग्रेजी में 'बेकन' ने मनोविकारों पर लघु निबन्धों के रूप में अवश्य चिंतन किया है, पर जितनी पूर्ण विवेचना शुक्लजी के निबन्धों

में पाई जाती है, उतनी उनमें कहाँ है ? (शतांश भी नहीं है।) ये निबन्ध शुक्लजी की साहित्य को निश्चय ही अनुपम देन हैं। इनकी विशेषता यह है कि इनमें दार्शनिक चिंतन का बाहुल्य होने पर भी दार्शनिक की एकान्त शुष्कता नहीं है। विषय को स्पष्ट करते समय लेखक यत्र-तत्र व्यंग्य का कभी तीखा और कभी मीठा पुट देता जाता है जिससे "श्रम का परिहार होता रहता है।" कहीं कहीं भावना का उन्मेष भी प्रकट हो जाता है जिसमें गंभीर लेखक के हृदय की हरियाली (काव्य-भूमि) झलक उठती है। इस प्रकार के भावोन्मेष का आभास प्रथम निबन्ध में ही मिल जाता है। मनोविकारों की रचना किन मानसिक प्रक्रियाओं का परिणाम होती है, उनका क्या उपयोग होता है, आदि की विवेचना करते-करते लेखक सहसा काव्य-योग की साधना के महत्त्व में विभोर होकर कवि ठाकुर के साथ गा उठता है:—

"विधि के बनाए जीव जेते हैं जहाँ के तहाँ,
खेलत फिरत तिन्हें, खेलन फिरन देव।"

अतएव भाव या मनोविकार-विवेचन का यह भावुकतापूर्ण अनपेक्षित अन्त पाठक के मन पर विशेष झटका नहीं दे पाता और उससे यह बात छिपी नहीं रह जाती कि लेखक विषय-विवेचन तक ही अपने को सीमित नहीं रखता, उपदेशक की भाषा भी बोलने लगता है—अपनी प्रवृत्ति के अनुसार कुछ कहता जाता है। श्रद्धा और भक्ति, लज्जा और ग्लानि तथा लोभ और प्रीति के अन्तर के स्पष्टीकरण में लेखक ने मानव-मन तथा समाज-मनोवृत्ति के अत्यन्त सूक्ष्म निरीक्षण का परिचय दिया है। व्यक्ति स्वयं परिस्थितिवश क्या चिंतन कर सकता है और समष्टि रूप में किस प्रकार आचरण करता है, इन प्रश्नों पर लेखक ने सचमुच बहुत बारीकी से विचार किया है, अपने अनुभवों को बेकन के समान संश्लिष्ट रूप—(सूत्र-रूप)—में व्यक्त करने की उसमें अपूर्व क्षमता है। "वैर क्रोध का अचार या मुरब्बा है", "ब्रह्म की व्यक्त सत्ता सतत क्रियमाण है", "भक्ति धर्म की रसात्मक अनुभूति है", "यदि प्रेम स्वप्न है तो श्रद्धा जागरण", "करुणा अपना बीज अपने आलम्बन या पात्र में नहीं फेंकती", आदि वाक्य इस समास-शैली के उदाहरण हैं।

प्रसंगानुसार वह अपनी रुचि-अरुचि को भी उद्घाटित करता जाता है। श्रद्धा-भक्ति पर विचार करते समय उसने संगीत-श्रद्धालुओं पर निर्दय कशाघात किया है। वह लिखता है—"संगीत के पेंच-पाँच देखकर भी हठयोग याद आता है। जिस समय कोई कलावन्त पक्का गाना गाने के लिए आठ अंगुल मुँह फैलाता है और 'आ' 'आ' करके विकल होता है उस समय बड़े-बड़े धीरों का धैर्य छूट जाता है। दिन-दिन-भर चुपचाप बैठे रहने वाले बड़े-बड़े आलसियों का आसन डिग जाता

है। जो संगीत नाद की मधुर गति द्वारा मन में माधुर्य का संचार करने के लिए था वह इन पक्के लोगों के हाथ में पड़कर केवल स्वर-ग्राम की लम्बी-चौड़ी कवायद हो गया। श्रद्धालुओं के अन्तःकरण की मार्मिकता इतनी स्तब्ध हो गई कि एक खर-स्वान के गले से भी इस लम्बी कवायद को ठीक उतरते देख उनके मुँह से 'वाह-वाह', 'ओहो' निकलने लगी।" प्रतीत होता है कि संगीत-कला के सौन्दर्य-रस का लेखक पर कभी प्रभाव नहीं पड़ा, अन्यथा वह संगीतज्ञ के स्वर को 'खर-स्वान'-कोटि में रखने की अनुदारता प्रदर्शित न करता। उसकी यह अनुदारता व्यंग्य-मात्र न रहकर क्रोध की सीमा को भी छू गई है। मनोविकारों की परिभाषा सूत्र-रूप में देकर लेखक पहले उनकी व्याख्या करता है और ऐसा करते समय अपने अनुभवों का भी सहारा लेता है और अन्त में निष्कर्ष प्रस्तुत करता है। (*सूत्र, व्याख्या और निष्कर्ष-संक्षेप में यही उसकी निबन्ध-लेखन-शैली है।*) व्याख्या करते समय जहाँ वह अपने अनुभवों को उल्लास या झुँझलाहट के साथ कहता जाता है, वहाँ विश्लेषण के बुद्धि-पथ पर हृदय का क्षणिक विश्राम-सा जान पड़ता है और लेखक का व्यक्तित्व उभर उठता है। इस संग्रह के साहित्य-सिद्धान्त-सम्बन्धी निबन्धों में 'कविता क्या है?' 'काव्य में लोक-मंगल की साधनावस्था', 'साधारणीकरण और व्यक्ति-वैचित्र्यवाद' तथा 'रसात्मक बोध के विविध रूप' आते हैं। ये चारों निबन्ध काव्य की पूर्ण विवेचना करते हैं। यह आवश्यक नहीं कि लेखक के सभी विचारों से पाठक सर्वथा सहमत हो और वह होता भी नहीं है। 'कविता क्या है?' में सौन्दर्य की परिभाषा करते समय लेखक लिखता है—"सुन्दर वस्तु से पृथक् कोई पदार्थ नहीं है।" "सौन्दर्य बाहर की कोई वस्तु नहीं, मन के भीतर की वस्तु है, यूरोपीय कला-समीक्षा की यह एक बड़ी ऊँची उड़ान या बड़ी दूर की कौड़ी समझी जाती है। पर वास्तव में यह भाषा के गड़बड़झाले के सिवा और कुछ नहीं है।" परन्तु यूरोपीय कला-समीक्षक भी इस प्रश्न पर एकमत कहाँ हैं? कोई सौदर्न्य को वस्तुगत (Objective) और कोई आत्मगत (Subjective) कहते हैं।[1] सौन्दर्य को वस्तुगत मानने वाले रीड-जैसे चिन्तक भी स्वीकार करते हैं—"हम नहीं जानते, जिसे हम सुन्दर कहते हैं, वह क्या चीज है। हम तो उसका अपने पर पड़ने वाला प्रभाव ही अनुभव कर पाते हैं।" कविता के सम्बन्ध में सौन्दर्य आत्मगत ही हो सकता है। पाठक की मनोदशा कब किस काव्य के सौन्दर्य से अभिभूत हो जायगी, कहा नहीं जा सकता। लेखक ने धर्म के 'शुभ' या 'मंगल' को कवि का 'सुन्दरम्' माना है और यह उसके विश्वास के अनुरूप है। वह काव्य का लक्ष्य ही लोक-कल्याण मानता

---

[1] देखिये The theory of beauty by E. F. Canitt.

है। 'कला कला के लिए' नारे से उसे अत्यन्त अरुचि है। कविता में मूर्त रूप-विधान का वह पक्षपाती है। क्योंकि उससे पाठक का हृदय प्रभावित होता है। रसात्मक बोध के विविध रूप में लेखक ने केशवदास की शुष्कता पर अप्रस्तुत प्रहार किया है, क्योंकि उन्होंने एक जगह लिखा है—

"देखै मुख भावै, अनदेखेइ कमल, चन्द,
ताते मुख मुखै, सखी ! कमलौ न चन्द री।"

केशवदास ने कमल और चन्द की इसलिए निन्दा की कि उन्हें मुख के सौन्दर्य का उत्कर्ष प्रतिष्ठित करना था। मुख के सामने कमल और चन्द की तुच्छता दिखानी थी। इससे यह तो नहीं कहा जा सकता कि केशवदास कमल और चन्द को प्रत्यक्ष देखने में कुछ भी आनन्द नहीं लेते थे। लेखक ने केशव को हृदय-हीन सिद्ध करने के लिए उक्त उदाहरण को कई स्थलों पर उद्धृत किया है और उन पर प्रकृति के प्रति निरादर का आरोप मढ़ा है। लेखक अपने विश्वास और अपनी रुचि-अरुचि को, जहाँ मौका पाता है, आग्रह के साथ पाठकों पर आरोपित करता है। साधारणीकरण और व्यक्ति-वैचित्र्यवाद में व्यक्तिवैचित्र्यवाद को काव्य के रसबोध में उचित ही बाधक बताया गया है। व्यक्तिवाद को यदि पूर्ण रूप से स्वीकार किया जाय तो कविता लिखना सचमुच व्यर्थ है। पर प्रश्न यह है कि क्या साहित्य में पूर्ण रूप से व्यक्तिवाद की रचना की जा सकती है ! परन्तु यहाँ लेखक यही मानकर चला है कि व्यक्तिवाद पूर्ण रूप से साहित्य में उतर रहा है। यह तो सर्व-मान्य सिद्धान्त है कि काव्य में व्यक्ति का सुख-दुःख व्यक्ति का ही न रहकर समष्टि का बन जाता है और तभी साहित्य व्यापक रूप धारण करता और स्थायित्व प्राप्त करता है। व्यक्ति-वैचित्र्य का प्रदर्शन व्यापक भावना नहीं बन सकती। इसलिए वह क्षण-भंगुर रहता है। लेखक का यह-निष्कर्ष विवादास्पद नहीं है कि "भारतीय काव्य-दृष्टि भिन्न-भिन्न विशेषों के भीतर से 'सामान्य' के उद्घाटन की ओर रही है।" साहित्य में वादों का जमवट लेखक को प्रिय नहीं है। पर वादों का फैशन यूरोप में ही चलता है, लेखक की यह धारणा सर्वथा ठीक नहीं है। हमारे प्राचीन साहित्य में भी मत-वादों की कमी नहीं रही है। रसवादी, वक्रोक्तिवादी, अलंकार-वादी, रीतिवादी आदि आचार्य संस्कृत साहित्य में प्रसिद्ध ही हैं। हाँ, साहित्य में उच्छृङ्खलता, वक्रता, असम्बद्धता का प्रदर्शन सचमुच श्लाघ्य नहीं है। लेखक ने इनके प्रवर्तकों पर निर्दय प्रहार करके साहित्य की मंगल-कामना ही की है।

'चिन्तामणि भाग १' के जो निबन्ध साहित्य-समीक्षा के अन्तर्गत आते हैं, उनके शीर्षक हैं—भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, तुलसी का भक्ति-मार्ग, और मानस की

है। जो संगीत नाद की मधुर गति द्वारा मन में माधुर्य का संचार करने के लिए था वह इन पक्के लोगों के हाथ में पड़कर केवल स्वर-ग्राम की लम्बी-चौड़ी कवायद हो गया। श्रद्धालुओं के अन्तःकरण की मार्मिकता इतनी स्तब्ध हो गई कि एक खर-स्वान के गले से भी इस लम्बी कवायद को ठीक उतरते देख उनके मुँह से 'वाह-वाह', 'ओहो' निकलने लगी।" प्रतीत होता है कि संगीत-कला के सौन्दर्य-रस का लेखक पर कभी प्रभाव नहीं पड़ा, अन्यथा वह संगीतज्ञ के स्वर को 'खर-स्वान'-कोटि में रखने की अनुदारता प्रदर्शित न करता। उसकी यह अनुदारता व्यंग्य-मात्र न रहकर क्रोध की सीमा को भी छू गई है। मनोविकारों की परिभाषा सूत्र-रूप में देकर लेखक पहले उनकी व्याख्या करता है और ऐसा करते समय अपने अनुभवों का भी सहारा लेता है और अन्त में निष्कर्ष प्रस्तुत करता है। (सूत्र, व्याख्या और निष्कर्ष-संक्षेप में यही उसकी निबन्ध-लेखन-शैली है।) व्याख्या करते समय जहाँ वह अपने अनुभवों को उल्लास या झुँझलाहट के साथ कहता जाता है, वहाँ विश्लेषण के बुद्धि-पथ पर हृदय का क्षणिक विश्राम-सा जान पड़ता है और लेखक का व्यक्तित्व और उठता है। इस संग्रह के साहित्य-सिद्धान्त-सम्बन्धी निबन्धों में 'कविता क्या है?' 'काव्य में लोक-मंगल की साधनावस्था', 'साधारणीकरण और व्यक्ति-वैचित्र्यवाद' तथा 'रसात्मक बोध के विविध रूप' आते हैं। ये चारों निबन्ध काव्य की पूर्ण विवेचना करते हैं। यह आवश्यक नहीं कि लेखक के सभी विचारों से पाठक सर्वथा सहमत हो और वह होता भी नहीं है। 'कविता क्या है?' में सौन्दर्य की परिभाषा करते समय लेखक लिखता है—"सुन्दर वस्तु से पृथक् कोई पदार्थ नहीं है।" "सौन्दर्य बाहर की कोई वस्तु नहीं, मन के भीतर की वस्तु है, यूरोपीय कला-समीक्षा की यह एक बड़ी ऊँची उड़ान या बड़ी दूर की कौड़ी समझी जाती है। पर वास्तव में यह भाषा के गड़बड़झाले के सिवा और कुछ नहीं है।" परन्तु यूरोपीय कला-समीक्षक भी इस प्रश्न पर एकमत कहाँ हैं? कोई सौन्दर्य को वस्तुगत (Objective) और कोई आत्मगत (Subjective) कहते हैं।[1] सौन्दर्य को वस्तुगत मानने वाले रीड-जैसे चिन्तक भी स्वीकार करते हैं—"हम नहीं जानते, जिसे हम सुन्दर कहते हैं, वह क्या चीज है। हम तो उसको अपने पर पड़ने वाला प्रभाव ही अनुभव कर पाते हैं।" कविता के सम्बन्ध में सौन्दर्य आत्मगत ही हो सकता है। पाठक की मनोदशा कब किस काव्य के सौन्दर्य से अभिभूत हो जायगी, कहा नहीं जा सकता। लेखक ने धर्म के 'शुभ' या 'मंगल' को कवि का 'सुन्दरम्' माना है और यह उसके विश्वास के अनुरूप है। वह काव्य का लक्ष्य ही लोक-कल्याण मानता

[1] देखिये The theory of beauty by E. F. Canitt.

है। 'कला कला के लिए' नारे से उसे अत्यन्त अरुचि है। कविता में मूर्त रूप-विधान का वह पक्षपाती है। क्योंकि उससे पाठक का हृदय प्रभावित होता है। रसात्मक बोध के विविध रूप में लेखक ने केशवदास की शुष्कता पर अप्रस्तुत प्रहार किया है, क्योंकि उन्होंने एक जगह लिखा है—

"देखै मुख भावै, अनदेखेइ कमल, चन्द,
ताते मुख मुखै, सखी ! कमलौ न चन्द री।"

केशवदास ने कमल और चन्द की इसलिए निन्दा की कि उन्हें मुख के सौन्दर्य का उत्कर्ष प्रतिष्ठित करना था। मुख के सामने कमल और चन्द की तुच्छता दिखानी थी। इससे यह तो नहीं कहा जा सकता कि केशवदास कमल और चन्द को प्रत्यक्ष देखने में कुछ भी आनन्द नहीं लेते थे। लेखक ने केशव को हृदय-हीन सिद्ध करने के लिए उक्त उदाहरण को कई स्थलों पर उद्धृत किया है और उन पर प्रकृति के प्रति निरादर का आरोप मढ़ा है। लेखक अपने विश्वास और अपनी रुचि-अरुचि को, जहाँ मौका पाता है, आग्रह के साथ पाठकों पर आरोपित करता है। साधारणीकरण और व्यक्ति-वैचित्र्यवाद में व्यक्ति-वैचित्र्यवाद को काव्य के रसबोध में उचित ही बाधक बताया गया है। व्यक्तिवाद को यदि पूर्ण रूप से स्वीकार किया जाय तो कविता लिखना सचमुच व्यर्थ है। पर प्रश्न यह है कि क्या साहित्य में पूर्ण रूप से व्यक्तिवाद की रचना की जा सकती है ! परन्तु यहाँ लेखक यही मानकर चला है कि व्यक्तिवाद पूर्ण रूप से साहित्य में उतर रहा है। यह तो सर्व-मान्य सिद्धान्त है कि काव्य में व्यक्ति का सुख-दुःख व्यक्ति का ही न रहकर समष्टि का बन जाता है और तभी साहित्य व्यापक रूप धारण करता और स्थायित्व प्राप्त करता है। व्यक्ति-वैचित्र्य का प्रदर्शन व्यापक भावना नहीं बन सकती। इसलिए वह क्षण-भंगुर रहता है। लेखक का यह-निष्कर्ष विवादास्पद नहीं है कि "भारतीय काव्य-दृष्टि भिन्न-भिन्न विशेषों के भीतर से 'सामान्य' के उद्घाटन की ओर रही है।" साहित्य में वादों का जमघट लेखक को प्रिय नहीं है। पर वादों का फैशन यूरोप में ही चलता है, लेखक की यह धारणा सर्वथा ठीक नहीं है। हमारे प्राचीन साहित्य में भी मत-वादों की कमी नहीं रही है। रसवादी, वक्रोक्तिवादी, अलंकार-वादी, रीतिवादी आदि आचार्य संस्कृत साहित्य में प्रसिद्ध ही हैं। हाँ, साहित्य में उच्छृङ्खलता, वक्रता, असम्बद्धता का प्रदर्शन सचमुच श्लाघ्य नहीं है। लेखक ने इनके प्रवर्तकों पर निर्दय प्रहार करके साहित्य की मंगल-कामना ही की है।

'चिन्तामणि भाग १' के जो निबन्ध साहित्य-समीक्षा के अन्तर्गत आते हैं, उनके शीर्षक हैं—भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, तुलसी का भक्ति-मार्ग, और मानस की

धर्म-भूमि। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की विशेषता एक वाक्य में ही लेखक ने प्रस्तुत कर दी है—"प्राचीन और नवीन का सुन्दर सामंजस्य भारतेन्दु की कला का विशेष माधुर्य है।" प्रकृति-वर्णन को आलम्बन के रूप में देखना लेखक को प्रिय है और यह बात बाबू हरिश्चन्द्र में नहीं मिलती। अतः उनके प्रकृति-वर्णन पर उसका असंतुष्ट रहना स्वाभाविक है। संक्षेप में हरिश्चन्द्र के साहित्य की मार्मिक समीक्षा कर दी गई है। तुलसी का भक्ति-मार्ग क्या है, इसको भी संक्षेप में समझाया गया है। भक्ति का मूल तत्त्व महत्त्व की अनुभूति है और यह तुलसी में प्रचुर मात्रा में पाई जाती है। भक्ति का आनन्द ही तुलसी के लिए सब-कुछ रहा है। वे अपने राम के शक्ति-सौन्दर्य-शील के अनन्य उपासक रहे हैं। उनका यह भक्ति या अनुभूति-मार्ग लोक-कल्याणकारी सिद्ध हुआ है। मानस की धर्मभूमि, भी लघु निबन्ध है। 'रामचरितमानस' में धर्म की ऊँची-नीची कई भूमियाँ लक्षित होती हैं जैसे गृह-धर्म, कुल-धर्म, समाज-धर्म, लोक-धर्म, और विश्व-धर्म या पूर्ण-धर्म। इसी को इस निबन्ध में स्पष्ट किया गया है।

'चिंतामणि भाग २' में 'काव्य में प्राकृतिक दृश्य' के वर्णन में आचार्य अतिशयोक्ति का समर्थन नहीं करते, उसे 'मज़ाक' मानते हैं। वे लिखते हैं—"स्वाभाविक सहृदयता केवल अद्भुत अनूठी चमत्कारपूर्ण.....वस्तुओं पर मुग्ध होने में नहीं है। जितने आदमी भेड़ाघाट, गुलमर्ग आदि देखने जाते हैं वे सब प्रकृति के सच्चे उपासक नहीं होते। अधिकांश केवल तमाशबीन होते हैं। केवल असाधारणत्व के साक्षात्कार की यह रुचि स्थूल और भद्दी है और वह हृदय के गहरे तत्त्वों से सम्बन्ध नहीं रखती। जिस रुचि से प्रेरित होकर लोग आतिशबाजी, जुलूस वगैरह देखने दौड़ते हैं, यह वही रुचि है। काव्य में इसी रुचि के कारण बहुत से लोग अतिशयोक्ति-पूर्ण अशक्त वाक्यों में ही काव्यत्व समझने लगे।" प्रकृति के सामान्य दृश्यों के प्रति भी रागात्मक सम्बन्ध स्थापित करने वाले यूरोप के और भारतीय संस्कृत-कवियों की आपने प्रशंसा की है। यदि कवि की संवेदना भव्य और सामान्य दोनों दृश्यों के प्रति जाग सकती है तो यह उसकी सफलता एवं पूर्णता की द्योतक है। और उसकी प्रशंसा अप्रस्तुत नहीं परन्तु यदि किसी का हृदय भव्यता का ही उपासक है और उसमें वह खूब रमता भी है तो इसके लिए आचार्य को अकरुण कोप प्रदर्शित करने की आवश्यकता क्यों पड़ी, यह समझ में नहीं आता। हम उसे 'तमाशबीन' तभी कह सकते हैं, जब वह भव्य दृश्यों में बिना रमे ही उनका उड़ता हुआ वर्णन करके संतुष्ट हो जाता है। हम समस्त कवियों की एक ही रुचि और प्रकृति-निरीक्षण की एक ही दृष्टि की अपेक्षा नहीं रख सकते। हमें कविता को अपनी रुचि और अरुचि

की कसौटी पर कसने के बजाय निरपेक्ष भाव से परखना चाहिए। आचार्य अपनी रुचि-अरुचि के कारण ही प्रबन्ध काव्य को गीतिकाव्य से अधिक महत्त्व देते हैं और इसलिए सूर की अपेक्षा तुलसी के कवित्व को गौरव प्रदान करते हैं। आचार्य ने "चमत्कारपूर्ण अनुरंजन" को साहित्य के अन्तर्गत माना है। (देखिये 'काव्य में अभिव्यंजनावाद' पृष्ठ १९६) तब प्रकृति के भव्य दृश्य-वर्णन से यदि चमत्कारपूर्ण अनुरंजन होता है, तो हम उसे 'मजाक' कैसे कह सकते हैं? क्या कवियों को प्रकृति के सामान्य दृश्यों की ओर आकर्षित करने के लिए भव्य द्रष्टाओं की तीव्र भर्त्सना की गई है? यह निबन्ध सबसे पहले 'माधुरी' में प्रकाशित हुआ था जिसने हिन्दी के विद्वानों का ध्यान विशेष रूप से आकर्षित किया था।

संग्रह का दूसरा निबन्ध 'काव्य में रहस्यवाद' है, जिसमें छायावाद युग की नकली रहस्यवादिनी कविताओं पर कठोर प्रहार किया गया है। रहस्यवाद की शास्त्रीय परिभाषा पर जब आधुनिक रहस्यवादी रचनाएं तोली जाती हैं, तब वे कहीं भी नहीं ठहरतीं, ऐसा आचार्य का मत है। क्योंकि आधुनिक रहस्यवादियों में ब्रह्म की 'व्यक्त सत्ता' की अनुभूति का अभाव है। इसी से वे कहते हैं—"जिस तथ्य का हमें ज्ञान नहीं, जिसकी अनुभूति से वास्तव में कभी हमारे हृदय में स्पंदन नहीं हुआ उसकी व्यंजना का आडंबर रचकर दूसरों का समय नष्ट करने का हमें कोई अधिकार नहीं। जो कोई यह कहे कि अज्ञात और अव्यक्त की अनुभूति से हम मत-वाले हो रहे हैं, उसे काव्य-क्षेत्र से निकालकर मतवालों के बीच अपना हाव-भाव और नृत्य दिखाना चाहिए।" "किसी अगोचर या अज्ञात के प्रेम में आसुओं की आकाश-गंगा में तैरने की नसों का सितार बजाने, प्रियतम असीम के संग नग्न प्रलाप-सा ताण्डव करने, या मुँदे नयन पलकों के भीतर किसी रहस्य का सुखमय चित्र देखने को ही कविता कहना कहाँ तक उचित है? चारों ओर से बेदखल होकर छोटे-छोटे कनकौओं पर भला कविता कब तक टिक सकती है। असीम और अनंत की भावना के लिए अज्ञात या अव्यक्त की ओर झूठे इशारे करने की कोई जरूरत नहीं। व्यक्त पक्ष में भी वही असीमता और वही अनंतता है।" आचार्य तुलसी के समान ही अलखवादियों पर दोष प्रकट करते हैं। तुलसी ने भी उन्हें उपदेश दिया था—"राम नाम भजु नीच।" आचार्य ब्रह्म के सगुण रूप को ही काव्य का आलंबन स्वीकार करते हैं। निर्गुण के प्रति, उनके मत से, कवि की जिज्ञासा हो सकती है, लालसा या प्रेम नहीं। उन्होंने मनोमय कोश (ज्ञानेन्द्रियाँ और मन, जिनसे सांसारिक विषयों की प्रतीति होती है।) को ही प्रकृत काव्य-भूमि माना है। इसी से उन्होंने गोचर जगत् के परे अभौतिक, अव्यक्त और अज्ञात क्षेत्र का रहस्य खोजने

वाली अभिव्यक्ति को कविता ही नहीं माना है। मनोविज्ञान और साहित्य की दृष्टि से 'अज्ञात' की लालसा उनके मत से कोई 'भाव' ही नहीं है। आधुनिक हिंदी कविता में उन्होंने विलायती झाँकी देखी है। क्योंकि "उसी में अव्यक्त और अज्ञात के प्रति अधिक लालसा" पाई जाती है। पर क्या 'अज्ञात' की जिज्ञासा दर्शन का विषय होते हुए—ज्ञान का विषय होते हुए—काव्य की ललक (रति-भावना) नहीं बन सकती? गंभीरता से विचार करने पर 'अज्ञात' कविता की भूमि पर निर्गुण न रहकर किसी का 'प्रियतम' और किसी की 'प्रेयसी' आदि अवश्य बन जाता है। यदि निर्गुण में सगुण का आरोप देखकर ही आचार्य अव्यक्त को काव्य की भूमि नहीं मानते तो उनका तर्क समझ में आ सकता है। पर निर्गुण के प्रति ललक को प्रदर्शित करना बिलकुल 'मजाक' है, यह व्यंग्य सहसा ग्रहण नहीं हो पाता। हम यह मानते हैं कि इस युग की कथित रहस्यवादी कविताओं में आत्मानुभूति नहीं के बराबर है। बुद्धि-विलास की प्रमुखता है। तभी हम उन्हें अपने भीतर नहीं उतार पाते। मध्ययुगीन रहस्यवादी कविताएँ अनुभूति-प्रसूत थीं। इसी से वे हमारे जीवन में रह-रहकर प्रतिध्वनित होती रहती हैं और हम अपने को उनमें खो देते हैं। जहाँ 'वाद' को सम्मुख रखकर रची हुई कविताओं को आचार्य 'मजाक' से सम्बोधित करते हैं, वहाँ किसी को व्यंग्य से पीड़ित होने की आवश्यकता नहीं है।

अन्तिम निबन्ध में काव्य में अभिव्यंजनावाद की विशेष चर्चा है। यह निबन्ध चौबीसवें हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन इन्दौर की साहित्य-परिषद् के सभापति-पद से दिया गया भाषण है, जिसमें काव्य के अतिरिक्त नाटक, उपन्यास, निबन्ध और साहित्यालोचन पर प्रकाश डाला गया है। आचार्य ने कल्पना-प्रधान नाटकों को शुद्ध नाटक की कोटि में नहीं माना है। ऐसी स्थिति में प्रतीकात्मक नाटकों की रचना, जिनमें कल्पना की प्रधानता होती है, व्यर्थ ही है। पर नाटक केवल दृश्य ही नहीं श्रव्य भी होते हैं। प्रत्येक सम्पन्न साहित्य में इन दोनों कोटियों के नाटकों का मान है। समाज में सभी कोटि के पाठक होते हैं। साहित्य उन सबकी तुष्टी करना चाहता है। इसलिए वह कई रूपों में—कई शैलियों में—अपने को व्यक्त करता रहता है। अतः कल्पना की उड़ान दिखाने वाले नाटकों को नाटक की कोटि से कैसे बहिष्कृत किया जा सकता है? इस लेख में क्रोचे के अभिव्यंजनावाद की भी खूब खबर ली गई है और 'कला कला के लिए' सिद्धान्त की धज्जियाँ उड़ाई गई हैं क्योंकि काव्य के साथ 'कला' शब्द के प्रयोग ने ही साहित्य-क्षेत्र में बहुत-सा 'गड़बड़झाला' किया है। पर कला जहाँ नीति-अनीति की उपेक्षा करती है, वहीं वह आक्षेपार्ह हो जाती है। क्रोचे के अभिव्यंजनावाद को सब-कुछ स्वीकार करने वालों

के साथ आप सहमत नहीं होते। गद्य-काव्य का विकास भी आपको अभीष्ट नहीं है। क्योंकि, आपका मत है, इससे प्रकृत गद्य की गति कुण्ठित हो जायगी। आचार्य की यह आशंका हमें निराधार जान पड़ती है। गद्य का काव्यमय होना शैली विशेष का निदर्शन है। सभी गद्य-लेखकों की प्रवृत्ति काव्यात्मक नहीं होती। इसलिए गद्य की एक ही शैली विकसित होकर नहीं रह सकती। गद्यकाव्य को बंगला या 'गीतांजलि' की देन ही हम क्यों मानें? 'गीतांजलि' के प्रकाशन के पूर्व हिन्दी में गद्यकाव्य के उदाहरण मिलते हैं। आज हिन्दी का गद्य, रेखाचित्र, रिपोर्ताज आदि विभिन्न रूपों में पल्लवित हो रहा है, जिनमें काव्य की आत्मा भी झाँकती रहती है। हमें हिंदी गद्य का भविष्य, उसमें काव्य-प्रवेश के बावजूद, उज्ज्वल ही दीख पड़ता है।

आचार्य ने अपने निबन्धों में हिन्दी-काव्य में छायावाद रहस्यवाद तथा स्वच्छन्द छंदतावाद को अंग्रेजी और बंगला की जूठन-जैसी बात कही है। परन्तु हम उसे सर्वथा बंगला से आई हुई चीज नहीं समझते। उसे युग की माँग का परिणाम समझते हैं। यह तो सभी मानते हैं कि द्विवेदी युग की इतिवृत्तात्मकता कवि के कोमल मन पर भारी हो रही थी, वह रह-रहकर रस की खोज में अपने भीतर झाँक उठता था। 'गीतांजलि' के प्रकाशन के पूर्व माखनलाल, प्रसाद; मुकुटधर पाण्डेय आदि में यह प्रवृत्ति परिलक्षित हुई। प्रकृति संतुलन करती रहती है—चाहे वह मानव-मन से सम्बन्ध रखती हो, चाहे बाह्य सृष्टि से। द्विवेदी युग की शुष्कता के अतिरेक को संतुलन की आवश्यकता थी जिसे छायावाद युग की सरसता ने पूरा किया, ठीक उसी तरह जिस तरह छायावाद के रसातिरेक को प्रगतिवाद की वस्तु-वादिता ने। हिन्दी-साहित्य में रोमेंटिक और रहस्यवादी प्रवृत्ति जब चल पड़ी तो कवियों ने अंग्रेजी, बंगला आदि भाषाओं के कवियों का अध्ययन किया और वे उनसे प्रभावित भी हुए। छायावाद युग की स्वच्छंद छंदता भी युग का परिणाम है। द्विवेदी-युग के आलोचक छंद-दोष आदि को बेहद तूल दिया करते थे। कवि शास्त्रों के बन्धनों से छुटकारा चाहता था। साहित्य का छायावाद युग राजनीति के गाँधी-युग के साथ प्रगति कर रहा था। देश के वातावरण में स्वतंत्रता की छटपटाहट छाई हुई थी। कवि का मन उसी वातावरण में साँस ले रहा था। अतः यदि उसकी प्रगतिशीलता ने छंदों के बंधन से मुक्त होने की उत्सुकता व्यक्त की, तो इसे बाहरी साहित्य का प्रभाव कहना कहाँ तक उचित होगा?

'चिन्तामणि' के दोनों भागों के निबन्धों पर विहंगम दृष्टि डालने के उपरान्त हम आचार्य की निबन्ध-लेखन-प्रणाली की विशेषता सहज ही हृदयंगम कर सकते हैं। यद्यपि इन्होंने काव्यात्मकता को गद्य के विकास में बाधक कहा है, तो भी वे

स्वयं अपने निबन्धों में काव्यत्व का बहिष्कार नहीं कर सके। जगह-जगह उनके हृदय की सरसता कलनाद करती हुई पाई जाती है—मनोविकारों पर विवेचन करते समय भी उनका यह गुण लुप्त नहीं रह सका। निबन्धों में विषय का विवेचन करते समय निबन्धकार का व्यक्तित्व पृथक् नहीं रह सका। अतः हम कह सकते हैं कि उनके निबन्धों में विषय-प्रधानता के साथ-साथ उनके व्यक्तित्व का भी पूर्ण प्रतिबिम्ब है। हम ऊपर लिख चुके हैं कि आचार्य ने अपने विश्वास, अपनी धारणाओं और अपने व्यक्तिगत अनुभवों को अत्यन्त आग्रह के साथ पाठकों के मन पर अंकित करने का प्रयत्न किया है। पर इसका आशय यह नहीं कि उसमें उनका 'अहं भाव' सर्वोपरि हो गया है। बात यह है कि वे ईमानदार साहित्यिक के नाते प्रसंगवश अपनी बात कहने से कहीं नहीं झिझके। और ऐसा करते समय हास्य, व्यंग्य, विनोद की भूमिका में उन्होंने बेधड़क प्रवेश किया है। "रुपये के रूप रस गन्ध आदि में कोई आकर्षण नहीं होता, पर जिस वेग से मनुष्य उस पर टूटते है, उस वेग से भौंरे कमल पर और कौए माँस पर भी न टूटते होंगे।" "लोभियो! तुम्हारा अक्रोध, तुम्हारा इन्द्रिय-निग्रह, तुम्हारी मानापमान-समता, तुम्हारा तप अनुकरणीय है, तुम्हारी निष्ठुरता, तुम्हारी निर्लज्जता, तुम्हारा अविवेक, तुम्हारा अन्याय विगर्हणीय है। तुम धन्य हो! तुम्हें धिक्कार है!!" आदि इसके उदाहरण हैं।

४ निबन्धों की भाषा विषय के अनुरूप सरल और चक्करदार है। विदेशी शब्दों को तत्सम रूप में अपनाया गया है—व्यंग्य के प्रसंगों पर यह प्रवृत्ति अधिक देखी जाती है। संस्कृत के दर्शन, साहित्य शास्त्र आदि तथा अंग्रेजी के साहित्यालोचन ग्रन्थों से शब्द लेकर आचार्य ने हिन्दी-गद्य को पुष्ट किया है। गुम्फित वाक्य-रचना के कारण उनके निबन्ध समास-शैली के कहे जाते हैं। परन्तु यह शैली सभी जगह प्रयुक्त नहीं हुई है। निबन्ध लिखते समय पहले वे सूत्र रूप में एक बात कहते हैं—एक विचार रखते हैं—फिर व्यास की तरह उसकी व्याख्या करते हैं और अन्त में उसका निष्कर्ष निकालकर दूसरे विचार को पुरस्सर करते हैं। जहाँ विचार की व्याख्या होती है, वहाँ स्पष्टतः व्यास शैली के दर्शन होते हैं। अतएव हम कह सकते हैं कि आचार्य के निबन्धों में समास और व्यास दोनों प्रकार की शैलियों का सुन्दर समावेश है। उनमें एक विशेष प्रकार की भव्यता है, जो हिन्दी-गद्य की भाव-व्यंजकता की गरिमा प्रतिष्ठित करती है। उनके समान परिमार्जित, ललित-गठित भाषा में तर्क सहित गम्भीर विषयों के प्रतिपादन करने वाले निबन्धकार का अभाव आज भी हिन्दी में अखरता है।

राजमुकुट के अधिकार-स्थापन से शासन में सुव्यवस्था आ गई थी, उसको वे लोग भङ्ग नहीं करना चाहते थे। उन दिनों हास्य-व्यंग्य के सहारे कटु-से-कटु बात दूसरों के गले उतारी जा सकती थी। जिन्दादिली, और हास्य-व्यंग्य के साथ उस समय का निबन्ध-साहित्य आगे बढ़ा। निबन्ध वैयक्तिक तो कम थे किन्तु व्यक्तित्व की छाप, जो निबन्ध-साहित्य की एक प्रारम्भिक माँग है, उनमें पूर्णरूपेण वर्तमान थी। वह समय निबन्धों के विस्तार और विकास का युग था, वह लालन और पोषण वाला शैशव काल था। स्कूली शिक्षा और ताड़न का समय द्विवेदी युग में आया।

द्विवेदी युग भाषा के परिमार्जन का था, इस युग में साहित्योद्यान की काट-छाँट और साज-सम्हाल हुई। विराम चिह्नों का भी चलन बढ़ा। भाषा के शुद्ध और व्याकरण-सम्मत होने पर द्विवेदी जी ने अधिक जोर दिया। उनके समय में निबन्धों का विषय समाज, राजनीति तथा शाब्दिक चहल-पहल में सीमित न रहा। द्विवेदी जी के युग में उपयोगिता की ओर अधिक ध्यान गया। उनकी प्रेरणा से वैज्ञानिक, शिक्षा-सम्बन्धी ऐतिहासिक, तथा पुरातत्व-सम्बन्धी लेख लिखे गए। गंभीर विषयों के निबन्धों को दूसरी भाषाओं से अनूदित किया गया। अंग्रेजी से बेकन के निबन्धों का द्विवेदी जी द्वारा किया हुआ अनुवाद 'बेकन-विचार रत्नावली' के नाम से और मराठी से चिपलूणकर के लेखों का गंगाप्रसाद अग्निहोत्री द्वारा किया हुआ अनुवाद 'निबन्धमाला आदर्श' के नाम से निकला। इन अनुवादों से साहित्य की श्री-वृद्धि अवश्य हुई और कुछ विचारशीलता भी जाग्रत हुई किन्तु महात्मा कबीर के शब्दों में 'जूठी पत्तल चाटने की' ही बात रही।

द्विवेदी युग में भाषा का परिमार्जन हुआ, विषयों का वैविध्य बढ़ा, ज्ञान का क्षितिज विस्तृत हुआ, किन्तु गहराई और विश्लेषण-बुद्धि का अभाव रहा। आचार्य शुक्ल जी के साहित्य-क्षेत्र में आने से निबंध-साहित्य में गहराई आई। आत्म निर्भरता, क्षमा आदि विषयों पर भारतेन्दु युग में भी निबंध निकले थे किन्तु वे माहात्म्य-मात्र थे।

आचार्य शुक्ल जी के गम्भीर निबंध 'चिंतामणि' में निकले हैं। उनमें कुछ मनोवैज्ञानिक और कुछ शुद्ध साहित्यिक हैं। साहित्यिक निबंधों में भी कुछ सैद्धांतिक हैं, जैसे साधारणीकरण और व्यक्ति-वैचित्र्यवाद, रसात्मक बोध के विविध रूप। और कुछ व्यावहारिक आलोचना से सम्बंधित हैं, जैसे भारतेंदु हरिश्चंद्र, तुलसी का भक्ति-मार्ग। एक दृष्टि से उनके मनोवैज्ञानिक निबंध भी साहित्यिक हैं, क्योंकि उनमें प्रायः उन्हीं वृत्तियों का विवेचन हुआ है जिनका कि भारतीय साहित्य में वर्णन मिलता है और उन निबंधों ने उनकी आलोचनाओं को भी प्रभावित किया है।

शुक्ल जी के मनोवैज्ञानिक निबन्ध अपनी कई विशेषताएँ रखते हैं, उनमें मुख्य ये हैं—

(१) ये मनोवैज्ञानिक होते हुए भी अपने लक्ष्य में आचार-सम्बन्धी हैं। इनमें उस लोक-संग्रह और लोक-मङ्गल की भावना निहित है जिसके कारण आचार्य शुक्ल जी ने गोस्वामी तुलसीदास जी को अपना आदर्श कवि माना।

(२) इनमें शुक्ल जी की विश्लेषण-बुद्धि का पूरा-पूरा परिचय मिलता है।

(३) इनमें जो तथ्य प्रतिपादित किये गए हैं उनको जीवन और साहित्य दोनों से उदाहृत किया गया है तथा उनका आधार सर्वथा भारतीय है।

(४) इन निबन्धों में प्रतिपादित तथ्य ही अधिकांश में उनकी व्यावहारिक आलोचना के आधार बने हैं। इस प्रकार उनके मनोवैज्ञानिक और साहित्यिक निबन्धों की उनकी आलोचनाओं के साथ एक अपूर्व अन्विति बैठ जाती है।

(५) इन निबन्धों में शुक्ल जी के व्यक्तित्व की पूरी-पूरी छाप है। बुद्धि-प्रधान होते हुए भी उनमें हृदय का स्पन्दन है।

अब हम एक-एक बात के ऊपर थोड़े विस्तार के साथ विचार करेंगे।

मनोविज्ञान और नीति का समन्वय

शुक्ल जी का मनोविज्ञान शुद्ध विज्ञान नहीं है जिसमें औचित्य की अवहेलना की जाती है। उन्होंने जिन मनोवृत्तियों और मनोवेगों को अपनी विवेचना का विषय बनाया है उनका लोक-संग्रह और सामाजिक उत्थान से विशेष सम्बन्ध है। आचार्य शुक्ल जी ने क्षात्र-धर्म को विशेष महत्व दिया है · वे लिखते हैं—"जनता के सम्पूर्ण जीवन का स्पर्श करने वाला क्षात्र धर्म है । क्षात्र धर्म के इसी व्यापकत्व के कारण हमारे मुख्य अवतार राम और कृष्ण क्षत्रिय हैं। क्षात्र धर्म एकान्तिक नहीं है (वे एकान्तिक प्रेम के भी पक्ष में नहीं हैं) उसका सम्बन्ध लोक-रक्षा से है।"[1]
('चिन्तामणि पहला भाग' पृष्ठ ४२)

शुक्ल जी ने इसी क्षात्र धर्म से सम्बन्धित वीर रस के स्थायी भाव उत्साह को अपने विवेचन में सर्व प्रथम स्थान दिया। उत्साह में उनके कर्म-सौंदर्य की भावना अनुस्यूत है। वे लिखते है "कर्म सौंदर्य के सच्चे उपासक ही सच्चे उत्साही कहलाते हैं।" ('चिन्तामणि' पृष्ठ ६)

---

१ कवि-कुल-गुरु कालिदास ने अपने 'रघुवंश' में क्षत्रिय शब्द की यही व्याख्या की थी- 'क्षतात्किल त्रायत इत्युदग्रः क्षत्र-स्य शब्दो भुवनेषु रूढ़:' (रघुवंश २।५३)। अर्थात् जो दूसरों को क्षत या हानि से बचावे वही क्षत्रिय है। इसी अर्थ के कारण क्षत्रिय शब्द प्रसिद्ध हुआ।

"सच्चा वीर जिस समय मैदान में उतरता है उस समय उसमें उतना आनन्द भरा रहता है जितना औरों को विजय या सफलता प्राप्त करने पर होता है। उसके सामने कर्म और फल के बीच या तो कोई अन्तर होता ही नहीं या बहुत सिमटा हुआ है।" ('चिन्तामणि' पृष्ठ १२)। शुक्ल जी ने लज्जा, ग्लानि और भय को जो अपनी विवेचना का विषय बनाया है वह इसीलिए कि "संकल्प या प्रवृत्ति हो जाने पर बुराई से बचाने वाले तीन मनोविकार हैं—सात्विक वृत्ति वालों के लिए ग्लानि, राजसी वृत्ति वालों के लिए लज्जा और तामसी वृत्ति वालों के लिए भय" ('चिन्तामणि' पृष्ठ ६०)। ईर्ष्या का विवेचन इसीलिए हुआ है कि उसका जन्म मिथ्याभिमान की दूषित मनोवृत्ति में होता है। ईर्ष्या के स्थान में वे स्पर्द्धा की स्थापना चाहते हैं। दोनों का अन्तर बताते हुए वे कहते हैं, "स्पर्द्धा में दुःख का विषय होता है 'मैंने उन्नति भी नहीं की?' और ईर्ष्या में दुःख का विषय होता है 'उसने उन्नति क्यों की'? स्पर्द्धा संसार में गुणी, प्रतिष्ठित और सुखी लोगों की संख्या में कुछ बढ़ती करना चाहती है और ईर्ष्या कमी।"

('चिन्तामणि' पृष्ठ १०६)

शुक्ल जी ने लोभ और प्रीति का भी विश्लेषण इसीलिए किया है कि वे प्रेम के जीवन-व्यापी कर्म-सौन्दर्य के प्रधान रूप को प्रकाश में लाने के लिए उत्सुक थे। देखिए—"प्रेम का दूसरा स्वरूप वह है जो अपना मधुर और अनुरञ्जनकारी प्रकाश जीवन-यात्रा के नाना पथों पर फेंकता है। प्रेमी जगत् के बीच अपने अस्तित्व की रमणीयता का अनुभव करता है और अपने प्रिय को भी कराना चाहता है। प्रेम के दिव्य प्रताप से उसे अपने आस-पास चारों ओर सौन्दर्य की आभा फैली दिखाई पड़ती है, जिसके बीच वह बड़े उत्साह और प्रफुल्लता के साथ अपना कर्म-सौन्दर्य प्रदर्शित करता है।"

('चिन्तामणि' पृष्ठ ८६)

श्रद्धा-भक्ति में भी कर्म-सौन्दर्य की प्रधानता है, "हमारे यहाँ उपदेशक ईश्वर के अवतार नहीं माने गए हैं। अपने जीवन द्वारा कर्म-सौन्दर्य से संघटित करने वाले अवतार कहे गए हैं।"

('चिन्तामणि' पृष्ठ ४१-४२)

इस प्रकार हम देखते हैं कि उनका मनोविज्ञान नीति-प्रधान है, नीति भी उनकी कुछ-कुछ तुलसीदास जी की सी नीचता और बुराई को क्षमा न करने वाली घोरता लिये हुए है। श्रद्धास्पद लोगों का जो आदर होता है उसके कुछ झूठे अधिकारी भी बन बैठते हैं, उनके सम्बन्ध में वे लिखते हैं—

"समाज में ये वस्तुएं (फूल और लाल बनात बिछाना) सच्चे गुणियों और

परोपकारियों के लिए हैं; पर इन्हें छीनने और चुराने को ताक में बहुत से चोर, उचक्के और लुटेरे रहते हैं जो इनके द्वारा स्वार्थ-साधन करना या अपनी तुच्छ मानसिक वृत्तियों को तृप्त करना चाहते हैं। इनसे समाज को हर घड़ी सावधान रहना चाहिए।"

"इन्हें सामाजिक दंड देने के लिए उसे सदा सन्नद्ध रहना चाहिए। ये अनेक रूपों में दिखाई पड़ते हैं। कोई गेरुआ वस्त्र लपेटे धर्म का डंका पीटता दिखाई देता है, कोई देश-हितैषिता का लम्बा चोगा पहने देशोद्धार की पुकार करता पाया जाता है।" ('चिन्तामणि' पृष्ठ २७-२८)

इस उद्धरण में शुक्ल जी के प्रबल व्यक्तित्व की भी झलक है। एक और उदाहरण लीजिए—"यदि कहीं पाप है, अन्याय, अत्याचार है तो उनका आशुफल उत्पन्न करना और संसार के समक्ष रखना लोक-रक्षा का कार्य है। अपने ऊपर किये जाने वाले अत्याचार और अन्याय का फल ईश्वर के ऊपर छोड़ना व्यक्तिगत आत्मोन्नति के लिए चाहे श्रेष्ठ हो; पर यदि अन्यायी या अत्याचारी अपना हाथ नहीं खींचता तो लोक-संग्रह की दृष्टि से वह उसी प्रकार आलस्य या कायरपन है जिस प्रकार अपने ऊपर किये हुए उपकार का कुछ भी बदला न देना कृतघ्नता है।"

('चिन्तामणि' पृष्ठ ३७)

यह भी शुक्ल जी के प्रबल व्यक्तित्व का परिचायक है। इसीलिए तो उन्होंने ईसा, टालस्टाय और गांधी की क्षमा की हँसी उड़ाई है।

विश्लेषण-बुद्धि

आचार्य शुक्ल जी ने मनोवेगों के रूप को स्पष्टता देने के लिए उनसे मिलती-जुलती वृत्तियों का उनके साथ अन्तर बारीकी के साथ दिखलाया, जैसे लोभ और प्रीति का—लोभ वस्तु के प्रति होता है और प्रीति व्यक्ति के प्रति, जब तक व्यक्ति के व्यक्तित्व का पूरा परिचय न मिले तब तक प्रीति लोभ की श्रेणी से ऊँची नहीं उठती, श्रद्धा-भक्ति का—"श्रद्धा और प्रेम के योग का नाम भक्ति है" (पृष्ठ ३२) "श्रद्धा महत्व की आनन्दपूर्ण स्वीकृति के साथ पूज्य बुद्धि का सञ्चार है।" (पृष्ठ १७), प्रेम और श्रद्धा का—"प्रेम के लिए इतना ही बस है कि कोई मनुष्य हमें अच्छा लगे, श्रद्धा के लिए आवश्यक यह है कि कोई मनुष्य किसी बात में बढ़ा हुआ होने के कारण हमारे सम्मान का पात्र हो। श्रद्धा का व्यापार-स्थल विस्तृत है प्रेम का एकान्त। प्रेम में घनत्व अधिक है श्रद्धा में विस्तार (पृष्ठ १८) "एक में (श्रद्धा में) व्यक्ति को कर्मों द्वारा मनोहरता प्राप्त होती है, दूसरे में (प्रेम में) कर्मों को व्यक्ति द्वारा। एक में कर्म प्रधान है दूसरी में व्यक्ति" (पृष्ठ १९)। लज्जा और ग्लानि में—

"दूसरों के चित्त में अपने विषय में बुरी या तुच्छ धारणा होने के निश्चय या

"सच्चा वीर जिस समय मैदान में उतरता है उस समय उसमें उतना आनन्द भरा रहता है जितना औरों को विजय या सफलता प्राप्त करने पर होता है। उसके सामने कर्म और फल के बीच या तो कोई अन्तर होता ही नहीं या बहुत सिमटा हुआ है।" ('चिन्तामणि' पृष्ठ १२)। शुक्ल जी ने लज्जा, ग्लानि और भय को जो अपनी विवेचना का विषय बनाया है वह इसीलिए कि "संकल्प या प्रवृत्ति हो जाने पर बुराई से बचाने वाले तीन मनोविकार हैं—सात्विक वृत्ति वालों के लिए ग्लानि, राजसी वृत्ति वालों के लिए लज्जा और तामसी वृत्ति वालों के लिए भय" ('चिन्तामणि' पृष्ठ ६०)। ईर्ष्या का विवेचन इसीलिए हुआ है कि उसका जन्म मिथ्याभिमान की दूषित मनोवृत्ति में होता है। ईर्ष्या के स्थान में वे स्पर्द्धा की स्थापना चाहते हैं। दोनों का अन्तर बताते हुए वे कहते हैं, "स्पर्द्धा में दुःख का विषय होता है 'मैंने उन्नति भी नहीं की?' और ईर्ष्या में दुःख का विषय होता है 'उसने उन्नति क्यों की'? स्पर्द्धा संसार में गुणी, प्रतिष्ठित और सुखी लोगों की संख्या में कुछ बढ़ती करना चाहती है और ईर्ष्या कमी।"

('चिन्तामणि' पृष्ठ १०६)

शुक्ल जी ने लोभ और प्रीति का भी विश्लेषण इसीलिए किया है कि वे प्रेम के जीवन-व्यापी कर्म-सौन्दर्य के प्रधान रूप को प्रकाश में लाने के लिए उत्सुक थे। देखिए—"प्रेम का दूसरा स्वरूप वह है जो अपना मधुर और अनुरञ्जनकारी प्रकाश जीवन-यात्रा के नाना पथों पर फेंकता है। प्रेमी जगत् के बीच अपने अस्तित्व की रमणीयता का अनुभव करता है और अपने प्रिय को भी कराना चाहता है। प्रेम के दिव्य प्रताप से उसे अपने आस-पास चारों ओर सौन्दर्य की आभा फैली दिखाई पड़ती है, जिसके बीच वह बड़े उत्साह और प्रफुल्लता के साथ अपना कर्म-सौन्दर्य प्रदर्शित करता है।"

('चिन्तामणि' पृष्ठ ८६)

श्रद्धा-भक्ति में भी कर्म-सौन्दर्य की प्रधानता है, "हमारे यहाँ उपदेशक ईश्वर के अवतार नहीं माने गए हैं। अपने जीवन द्वारा कर्म-सौन्दर्य से संघटित करने वाले अवतार कहे गए हैं।"

('चिन्तामणि' पृष्ठ ४१-४२)

इस प्रकार हम देखते हैं कि उनका मनोविज्ञान नीति-प्रधान है, नीति भी उनकी कुछ-कुछ तुलसीदास जी की सी नीचता और बुराई को क्षमा न करने वाली घोरता लिये हुए है। श्रद्धास्पद लोगों का जो आदर होता है उसके कुछ झूठे अधि-कारी भी बन बैठते हैं, उनके सम्बन्ध में वे लिखते हैं—

"समाज में ये वस्तुएं (फूल और लाल बनात बिछाना) सच्चे गुणियों और

परोपकारियों के लिए हैं; पर इन्हें छीनने और चुराने की ताक में बहुत से चोर, उचक्के और लुटेरे रहते हैं जो इनके द्वारा स्वार्थ-साधन करना या अपनी तुच्छ मानसिक वृत्तियों को तृप्त करना चाहते हैं। इनसे समाज को हर घड़ी सावधान रहना चाहिए।"

"इन्हें सामाजिक दंड देने के लिए उसे सदा सन्नद्ध रहना चाहिए। ये अनेक रूपों में दिखाई पड़ते हैं। कोई गेरुआ वस्त्र लपेटे धर्म का डंका पीटता दिखाई देता है, कोई देश-हितैषिता का लम्बा चोगा पहने देशोद्धार की पुकार करता पाया जाता है।" ('चिन्तामणि' पृष्ठ २७-२८)

इस उद्धरण में शुक्ल जी के प्रबल व्यक्तित्व की भी झलक है। एक और उदाहरण लीजिए—"यदि कहीं पाप है, अन्याय, अत्याचार है तो उनका आशुफल उत्पन्न करना और संसार के समक्ष रखना लोक-रक्षा का कार्य है। अपने ऊपर किये जाने वाले अत्याचार और अन्याय का फल ईश्वर के ऊपर छोड़ना व्यक्तिगत आत्मोन्नति के लिए चाहे श्रेष्ठ हो; पर यदि अन्यायी या अत्याचारी अपना हाथ नहीं खींचता तो लोक-संग्रह की दृष्टि से वह उसी प्रकार आलस्य या कायरपन है जिस प्रकार अपने ऊपर किये हुए उपकार का कुछ भी बदला न देना कृतघ्नता है।"

('चिन्तामणि' पृष्ठ ३७)

यह भी शुक्ल जी के प्रबल व्यक्तित्व का परिचायक है। इसीलिए तो उन्होंने ईसा, टालस्टाय और गांधी की क्षमा की हँसी उड़ाई है।

विश्लेषण-बुद्धि

आचार्य शुक्ल जी ने मनोवेगों के रूप को स्पष्टता देने के लिए उनसे मिलती-जुलती वृत्तियों का उनके साथ अन्तर बारीकी के साथ दिखलाया, जैसे लोभ और प्रीति का—लोभ वस्तु के प्रति होता है और प्रीति व्यक्ति के प्रति, जब तक व्यक्ति के व्यक्तित्व का पूरा परिचय न मिले तब तक प्रीति लोभ की श्रेणी से ऊँची नहीं उठती, श्रद्धा-भक्ति का—"श्रद्धा और प्रेम के योग का नाम भक्ति है" (पृष्ठ ३२) "श्रद्धा महत्व की आनन्दपूर्ण स्वीकृति के साथ पूज्य बुद्धि का सञ्चार है।" (पृष्ठ १७), प्रेम और श्रद्धा का—"प्रेम के लिए इतना ही बस है कि कोई मनुष्य हमें अच्छा लगे, श्रद्धा के लिए आवश्यक यह है कि कोई मनुष्य किसी बात में बढ़ा हुआ होने के कारण हमारे सम्मान का पात्र हो। श्रद्धा का व्यापार-स्थल विस्तृत है प्रेम का एकान्त। प्रेम में घनत्व अधिक है श्रद्धा में विस्तार (पृष्ठ १८) "एक में (श्रद्धा में) व्यक्ति को कर्मों द्वारा मनोहरता प्राप्त होती है, दूसरे में (प्रेम में) कर्मों को व्यक्ति द्वारा। एक में कर्म प्रधान है दूसरी में व्यक्ति" (पृष्ठ १६)। लज्जा और ग्लानि में—

"दूसरों के चित्त में अपने विषय में बुरी या तुच्छ धारणा होने के निश्चय या

आशङ्का-मात्र से जो वृत्तियों का संकोच होता है उसे लज्जा कहते हैं।" (पृष्ठ ५६) "अपनी बुराई, मूर्खता, तुच्छता इत्यादि का एकान्त अनुभव करने से वृत्तियों में जो शैथिल्य आता है, उसे 'ग्लानि' कहते हैं।" (पृष्ठ ५८) लज्जा समाज-सापेक्ष है ग्लानि समाज-निरपेक्ष और अन्तरात्मा-सम्बन्धिनी है।

इसी प्रकार शुक्ल जी ने कुछ मनोवेगों को श्रेणीबद्ध भी किया है। क्रोध की सबसे नीची श्रेणी चिड़चिड़ाहट है, बीच की श्रेणी अमर्ष है और अन्तिम श्रेणी क्रोध है। क्रोध के प्रेरक दो प्रकार के दुःख माने हैं—"क्रोध के प्रेरक दो प्रकार के दुःख हो सकते हैं—अपना दुःख और पराया दुःख। जिस क्रोध के त्याग का उपदेश दिया जाता है वह पहले प्रकार से उत्पन्न क्रोध है। दूसरे के दुःख पर उत्पन्न क्रोध बुराई की हद से बाहर समझा जाता है। जहाँ उक्त भावना निर्विशेष रहेगी वहीं सच्ची परदुःख-कातरता मानी जायगी, वहीं क्रोध के स्वरूप को पूर्ण सौन्दर्य प्राप्त होगा—ऐसा सौन्दर्य, जो काव्य-क्षेत्र के बीच भी जगमगाता आया है" (पृष्ठ १३६-१३७)। यह उद्धरण उनके मनोविज्ञान की नीतिपरकता के सम्बन्ध में तथा रावण के प्रति राम के क्रोध की नैतिकता प्रमाणित करने के लिए भी दिया जा सकता है।

लज्जा का प्रारम्भिक रूप संकोच माना है और यह शील का सहायक स्वीकार किया गया है, "लज्जा का एक रूप संकोच है जो किसी काम के करने के पूर्व ही होता है······इतनी क्रियाओं का (अपना रुपया न माँगने में, मुँह खोलकर बात न कहने में आदि-आदि) प्रतिबन्धक होने के कारण संकोच शील का एक प्रधान अङ्ग, सदाचार का एक सहज साधक और शिष्टाचार का एक-मात्र आधार है।" (पृष्ठ ६५)

कहीं-कहीं शुक्ल जी ने विभिन्न आधारों से उठी हुई मनोवृत्तियों का विभाजन कर दिया है। जैसे उन्होंने श्रद्धा के तीन आधार माने हैं (१) प्रतिभा-सम्बन्धिनी (२) शील-सम्बन्धिनी (३) साधन-सम्पत्ति-सम्बधिनी। यह विभाजन कुछ दूषित अवश्य है, क्योंकि प्रतिभा-सम्बन्धिनी श्रद्धा भी साधन-सम्पत्ति सम्बधिनी के अन्तर्गत कही जा सकती है। प्रतिभा भी तो एक प्रकार की सम्पत्ति है, किन्तु महत्त्व की बात यह है कि शुक्ल जी ने शील-सम्बन्धिनी प्रतिभा को सबमें प्रधान माना है। (यह भी उनकी नीतिपरकता का एक उदाहरण है।)

आचार्य शुक्ल जी ने मनोविकारों के दो प्रकार माने हैं "···मनोविकार दो प्रकार के होते हैं। प्रेष्य और अप्रेष्य। प्रेष्य वे हैं जो एक हृदय में पहले के प्रति उत्पन्न होकर दूसरे के हृदय में भी पहले के प्रति उत्पन्न हो सकते हैं (अर्थात् उनमें पारस्परिकता रहती है), जैसे क्रोध, घृणा, प्रेम इत्यादि··· अप्रेष्य मनोविकार जिसके प्रति उत्पन्न होते हैं उसके हृदय में यदि करेंगे तो सदा दूसरे भावों की सृष्टि

करेंगे। इनके अन्तर्गत भय, दया, ईर्ष्यादि हैं। ......प्रेय्य मनोवेग सजातीय संयोग पाकर बहुत जल्दी बढ़ते हैं......प्रेय्य मनोवेगों से बहुत सावधान रहना चाहिए।" (पृष्ठ १०२-१०३)

ईर्ष्या के सम्बन्ध में उन्होंने मूल मनोवेगों और मिश्र मनोवेगों का अन्तर किया है। ईर्ष्या को उन्होंने मिश्र मनोवेग माना है उसकी (ईर्ष्या की) गणना मूल मनोविकारों में नहीं हो सकती। यह यथार्थ में एक प्रकार से कई भावों के विचित्र सम्मिश्रण से संघटित एक विष है। ईर्ष्या के उन्होंने दो भेद किये हैं—एक असम्पन्न और दूसरा सम्पन्न। (असम्पन्न वह है जो आश्रय में कुछ कमी होने के कारण दूसरे के वैभव पर होती है और सम्पन्न वह है जो आश्रय के सम्पन्न होते हुए भी दूसरे के वैभव को नहीं सह सकती।) असम्पन्न ईर्ष्या का विश्लेषण करते हुए वे लिखते हैं—"असम्पन्न रूप वह है जिसमें ईर्ष्या करने वाला दूसरे को ऐसी वस्तु प्राप्त करते देख दुखी होता है जो उसके पास नहीं है। ऐसे दुःख में आलस्य या असामर्थ्य से उत्पन्न नैराश्य, दूसरे की प्राप्ति से अपनी छुटाई का बोध, दूसरे की असम्पन्नता की इच्छा, और अन्त में इस इच्छा की पूर्ति में बाधक उस दूसरे व्यक्ति पर एक प्रकार का मीठा क्रोध, इतने भावों का मेल रहता है।" (पृष्ठ ११८)

शुक्ल जी ने मनोविकारों (Emotions) और भाव-वृत्तियों (Sentiments) का भी अन्तर कुछ अव्यक्त रूप से स्वीकार किया है—"वैर क्रोध का अचार या मुरब्बा है...जिससे हमें दुःख पहुँचा है उस पर हमने यदि क्रोध किया और यह क्रोध हमारे हृदय में बहुत दिनों तक टिका रहा, तो वह वैर कहलाता है।" (पृष्ठ १३८)। मनोविकार तीव्र अधिक किन्तु क्षणिक और गतिमय होते हैं। भाव-वृत्तियों में तीव्रता अपेक्षाकृत कम किन्तु स्थायित्व अधिक होता है। (पृष्ठ १३२)

इस प्रकार हम देखते हैं कि शुक्ल जी के इन निबन्धों में मनोविज्ञान और नीति का अपूर्व मिश्रण है।

जीवन और साहित्य से सम्बन्ध तथा पूर्णतया भारतीय आधार

शुक्ल जी ने जिन मनोवैज्ञानिक तथ्यों का प्रतिपादन किया है वे प्रायः ऐसे हैं कि जिनका भारतीय रस-विधान से पूर्ण सम्बन्ध है और जिनके उदाहरण भारतीय साहित्य और जीवन में मिलते हैं। उत्साह, प्रेम, करुणा, क्रोध, घृणा, और भक्ति का क्रमशः वीर, शृङ्गार, करुण, रौद्र, वीभत्स और शान्त रस से सम्बन्ध है। लज्जा और ईर्ष्या सञ्चारियों में हैं। ग्लानि का भरत की ग्लानि से, उत्साह, क्रोध और प्रेम का भगवान् राम की लोक-रक्षण-लीला से सम्बन्ध है। उन्होंने उदाहरण प्रायः भारतीय साहित्य से लिये हैं। जैसे क्षमा की सीमा में शिशुपाल और कृष्ण का उदाहरण। प्रेम-पात्र के सुख की चिन्ता के सम्बन्ध में उन्होंने 'सँदेसो

देवकी सों कहियो' वाला सुन्दर उदाहरण दिया है। शुक्ल जी आजकल के मनो-विश्लेषणवादियों की भाँति नहीं है जो फ्रॉयड की दुहाई देते हुए भारतीय समाज में भी वे ही बातें देखना चाहते हैं जो कि यूरोपीय समाज में हैं या उन आचार्यों की कल्पना में हैं। दैनिक जीवन तथा साहित्य के उदाहरणों ने शुक्ल जी के विवेचन को सजीवता प्रदान कर दी है।

शुक्ल जी के मनोवैज्ञानिक निबन्धों में उनके जीवन-सिद्धान्त निहित हैं तथा उनकी व्यावहारिक आलोचनाओं के विचारात्मक अंश के बीज भी इन्ही में मिलते हैं। इस प्रकार इन निबन्धों में वे सम्बन्ध-तन्तु मिलते हैं जो उनकी सारी कृतियों को संगठित और समन्वित किये हुए हैं। शुक्ल जी के निबन्धों में कर्म-सौन्दर्य तथा लोक-संग्रह के भावों को विशेष महत्त्व दिया गया है। उन्होंने एकान्तिक प्रेम की अपेक्षा लोक-जीवन में व्याप्त और कर्म-सौन्दर्य से आलोकित प्रेम को महत्त्व दिया है। वे लिखते हैं "उस एकान्तिक प्रेम की अपेक्षा, जो प्रेमी को एक घेरे में उसी प्रकार बन्द कर देता है जिस प्रकार कोई मर्ज मरीज को एक कोठरी में डाल देता है, हम उस प्रेम का अधिक मान करते हैं जो संजीवन-रस के रूप में प्रेमी के सारे जीवन-पथ को रमणीय और सुन्दर बना देता है, उसके कर्म-क्षेत्र को अपनी ज्योति से जगमगा देता है" (चिन्ता-मणि पृष्ठ ६०)। राम के जीवन के कर्तव्य-सौन्दर्य ने उनकी सारी विचार-धारा को प्रभावित कर दिया है। अत्याचारी पर क्रोध से तिलमिलाने की बात जो उनके निबन्धों में आई है वही तुलसी की आलोचना में प्रधान स्वर बनी है—(तुलसी द्वारा) उसके (जनता के) सामने यह फिर से अच्छी तरह झलका दिया गया कि संसार के चलते व्यापारों में मग्न, अन्याय के दमन के अर्थ रण-क्षेत्रों में अद्भुत पराक्रम दिखाने वाले, अत्याचार या क्रोध से तिलमिलाने वाले ... भक्ति और श्रद्धा के दृढ़ आलम्बन हैं, धर्म के दृढ़ प्रतीक हैं (तुलसीदास)। लज्जा और ग्लानि का अन्तर बतलाकर शुक्ल जी भरत जी के लोक-पावन चरित्र में इसकी व्याख्या प्रस्तुत करते हैं। लोभ और प्रीति में जायसी और रत्नसेन के प्रेम की राम-सीता-प्रेम या राधा-कृष्ण प्रेम की अपेक्षा न्यूनता दिखाने का सम्बन्ध-सूत्र मिल जाता है। सहचार बल देकर शुक्ल जी गोपी-कृष्ण की महत्ता दिखा सके हैं। देखिए—

व्यावहारिक आलोचनाओं के आधार

"किसी की रूप-चर्चा सुनकर या अकस्मात् किसी की एक झलक पाकर (रत्न सेन पद्मावती पर व्यंग्य) हाय-हाय करते हुए इस प्रेम का आरम्भ नहीं हुआ है। नित्य अपने बीच चलते-फिरते, हँसते-बोलते, वन में गाय चराते देखते-देखते गोपियाँ कृष्ण में अनुरक्त होती हैं और कृष्ण गोपियों में।" ('भ्रमर गीत सार' की भूमिका पृष्ठ १४-१५)

श्रद्धा और भक्ति में भी राम के शील और कर्तव्य-सौन्दर्य का प्रकाश है और उसी के साथ उस भक्ति का त्यागमय आदर्श भी बतलाया गया है जो सच्चे राम-भक्त में होना चाहिए। राम का सम्बन्ध भी शील और शक्ति से है जो भगवान् की मुख्य विभूतियों में से है। उत्साह की व्याख्या में उनके लोक-मङ्गल की साधनावस्था का बीज निहित है।

इस प्रकार उनके सभी मनोवैज्ञानिक निबन्ध अपना साहित्यिक महत्त्व रखते हैं।

व्यक्तित्व की छाप तथा बुद्धि और हृदय का योग

व्यक्तित्व की छाप और निजीपन निबन्ध के आवश्यक उपकरणों में से है, किन्तु निबन्धों में जितनी सैद्धान्तिकता बढ़ती जाती है प्रायः उतना ही उनमें निर्वैयक्तिकता का समावेश भी होता जाता है। इसीलिए आचार्य शुक्लजी ने अपनी पाँच-सात पंक्तियों की भूमिका में इस प्रश्न का निपटारा कि 'ये निबन्ध विषय-प्रधान हैं या व्यक्ति-प्रधान' विज्ञ पाठकों पर छोड़ा है। इन निबन्धों में विषय की प्रधानता अवश्य है, किन्तु उनमें शुक्लजी के व्यक्तित्व की छाप स्पष्ट रूप से झलकती है। इन निबन्धों के विषय में भी व्यक्तित्व है, क्योंकि जो विषय शुक्लजी ने चुने हैं उनमें उनका हृदय बोलता हुआ दिखाई देता है। इन निबन्धों के विषय उनकी अन्य कृतियों के साथ एकरस हो जाते हैं। सबमें लोक-संग्रह की भावना का अन्तःस्पन्दन सुनाई पड़ता है।

इन निबन्धों की शैली में भी शुक्लजी के व्यक्तित्व की पूरी छाप है। ये निबन्ध भाव-विषयक होते हुए भी विचारात्मक निबन्धों के उच्चतम आदर्श हमारे सामने रखते हैं। आचार्य शुक्लजी ने विचारात्मक निबन्धों का जो आदर्श हमारे सामने रखा है, वह उनके निबन्धों में पूर्णतया चरितार्थ होता दिखाई देता है। यह आदर्श इस प्रकार है—

शुद्ध विचारात्मक निबन्धों का चरम उत्कर्ष वही कहा जा सकता है, जहाँ एक-एक पैराग्राफ में विचार दबा-दबाकर ठूँसे गए हों और एक-एक वाक्य किसी सम्बद्ध विचार-खण्ड को लिये हो। शुक्लजी के निबन्ध इस आदर्श का पालन करते हुए बेकन के निबन्धों से टक्कर ले सकते हैं, किन्तु वे नितान्त शुष्क और नीरस नहीं हैं। उनमें शुक्लजी का मस्तिष्क ही नहीं हृदय भी रमा है, जैसा उन्होंने अपनी भूमिका में स्वीकार किया है—"अपना रास्ता निकालती हुई बुद्धि जहाँ कहीं मार्मिक या भावाकर्षक स्थलों पर पहुँचती है वहाँ हृदय थोड़ा-बहुत रमता और अपनी प्रवृत्ति के अनुसार कुछ कहता गया है—बुद्धि-पथ पर हृदय भी अपने लिए कुछ-न-कुछ पाता रहा है।" उनके हृदय की छाप लोक-रक्षा के निमित्त क्षात्रधर्म का प्रतिपादन करने

वाली ओजमयी भाषा में (ऊपर 'मनोविज्ञान और नीति के समन्वय' शीर्षक अधिकरण में 'चिन्तामणि' पृष्ठ ३७ से दिया हुआ उदाहरण देखिए) प्राकृतिक दृश्यों के सौंदर्य से उल्लसित होने वाली मन की लहर में, तथा हास्य-व्यङ्गय की मीठी चुटकियों में परिलक्षित होती है।

उनके हृदय की छाप को व्यक्त करने वाले दो-एक स्थल लीजिए—

प्राकृतिक दृश्यों के प्रति उल्लासः—

"यदि देश-प्रेम के लिए हृदय में जगह करनी है तो देश के स्वरूप से परिचित और अभ्यस्त हो जाओ। बाहर निकलो तो आँखें खोलकर देखो कि खेत कैसे लह-लहा रहे हैं, नाले झाड़ियों के बीच से कैसे बह रहे हैं, टेसू के फूलों से वनस्थली कैसी लाल हो रही है, चौपायों के झुण्ड चरते हैं, चरवाहे तान लड़ा रहे हैं, अम-राइयों के बीच गाँव झाँक रहे हैं।" (पृष्ठ ७८) इस पृष्ठ पर हमको उनके महुए की गन्ध के प्रति मोह की भी झलक मिल जाती है जो उनकी पूर्वी ग्राम-प्रिय प्रकृति की परिचायक है।

मीठी चुटकियों के भी दो एक उदाहरण लीजिए—"रसखान तो किसी की 'लकुटी अरु कामरिया' पर तीनों पुरों का राज-सिंहासन तक त्यागने को तैयार थे पर देश-प्रेम की दुहाई देने वालों में से कितने अपने किसी थके-माँदे भाई के फटे-पुराने कपड़ों और धूल-भरे पैरों पर रीझकर, या कम-से-कम न खीझकर, बिना मन मैला किए कमरे की फर्श भी मैली होने देंगे? मोटे आदमियो, तुम जरा-सा दुबले हो जाते—अपने अंदेसे से सही—तो न जाने कितनी ठठरियों पर माँस चढ़ जाता।" (पृष्ठ ७७)

"सारांश यह कि एक बेवकूफी करने में लोग संकोच नहीं करते और सब बातों में करते हैं। इसमें उतना हर्ज भी नहीं, क्योंकि बिना (स्वयं) बेवकूफ हुए बेवकूफी का बुरा लोग प्रायः नहीं मानते।" (पृष्ठ ६५)

"संगीत के पेच-पाँच देखकर हठयोग याद आता है। जिस समय कोई कलावन्त पक्का गाना गाने के लिए, आठ अंगुल मुँह फैलाता है, और 'आ-आ' करके विकल होता है उस समय बड़े-बड़े धीरों का धैर्य छूट जाता है—दिन-दिन-भर चुप-चाप बैठे रहने वाले बड़े-बड़े आलसियों का आसन डिग जाता है।······ काव्य पर शब्दालंकार आदि का इतना बोझ लादा गया है कि उसका सारा रूप ही छिप गया······यदि ये कलाएँ मूर्तिमान रूप धारण करके आतीं तो दिखाई पड़ता किसी को जलोदर हुआ किसी को फीलपाँव। इनकी दशा सोने और रत्नोंजड़ी मुठली धार की तलवार की-सी हो गई।" ('चिन्तामणि' भाग १ पृष्ठ २४–२५)

"जैसे और सब विद्याओं को देसी ही पर-श्रद्धाकर्षण की आजकल खूब

उन्नति हुई है। आश्चर्य नहीं इसके लिए कुछ दिनों में एक अलग विद्यालय खुले···
···आजकल सार्वजनिक उद्योगों की बड़ी धूम रहा करती है और बहुत से लोग निराहार परोपकार व्रत करते सुने जाते हैं।" (पृष्ठ २८)

ऐसे सुरम्य स्थल उनकी ठसी-ठसाई समास-शैली में एक सुखद वैविध्य उत्पन्न कर देते हैं और उनके निबन्धों को लोहे के चने बनने से बचाये रखते हैं। बुद्धि और हृदय के इसी स्पृहणीय-से संयोग के कारण शुक्लजी के निबन्ध विषय-प्रधान होते हुए भी उनके व्यक्तित्व की आभा से द्युतिमान दिखाई पड़ते हैं।

१६. आचार्य शुक्लजी की काव्य-सम्बन्धी-विचारधारा

प्रोफेसर गुलाबराय

कविता क्या है ? यह विषय समीक्षा-शास्त्र में बड़े विवाद का रहा है। भिन्न-भिन्न आचार्यों ने अपने-अपने मत के अनुसार भिन्न-भिन्न परिभाषाएँ दी हैं। शुक्ल जी की परिभाषा 'वाक्यं रसात्मकं काव्यं' की भाँति कोई सूत्र रूप परिभाषा नहीं है। वह एक प्रकार से काव्य का मूल स्रोत बतलाती हुई उसका फल और उद्देश्य भी बतलाती है। शुक्लजी ने कविता को कर्मयोग की भाँति भावयोग माना है, क्योंकि कविता में और बातों के साथ भाव की प्रधानता रहती है। मनुष्य जब तक अपने व्यक्तिगत योग-क्षेम, हानि-लाभ के सम्बन्ध में संसार के नाना रूपों को देखता है तब तक उसका हृदय बद्ध रहता है, किंतु मनुष्य संसार के रूपों और व्यापारों के सामने जब कभी अपनी पृथक् सत्ता की धारणा से छूटकर अपने-आपको भूल-कर, विशुद्ध अनुभूति-मात्र रह जाता है तब वह मुक्त हृदय हो जाता है। हृदय की इसी मुक्तावस्था को हम रस-दशा कहते हैं, हृदय की इसी मुक्ति की अवस्था के लिए मनुष्य की वाणी जो शब्द-विधान करती आई है, उसे कविता कहते हैं। 'कविता मनुष्य के हृदय को स्वार्थ-सम्बंधों के संकुचित मण्डल से ऊपर उठाकर लोक-सामान्य भाव-भूमि पर ले जाती है, जहाँ जगत् की नाना गतियों के मार्मिक स्वरूप का साक्षात्कार और शुद्ध अनुभूतियों का संचार होता है। इस भूमि पर पहुँचे हर मनुष्य को कुछ काल के लिए अपना पता नहीं रहता, उसकी अनभूति सबकी अनुभूति होती है या हो सकती है—इस अनुभूति-योग के अभ्यास से हमारे मनोविकारों का परिष्कार तथा शेष सृष्टि के साथ हमारे रागात्मक सम्बंध की रक्षा और निर्वाह होता है।' (चिंतामणि भाग १, पृष्ठ १४१)

कविता की परिभाषा

संक्षेप में हम शुक्ल जी की परिभाषा को इस प्रकार कह सकते हैं—कविता हम वाणी की उस साधना को कहते हैं जिसके द्वारा मानव-हृदय अपने व्यक्तिगत

हनि-लाभ, योग-क्षेम के बन्धनों से मुक्त होकर लोक-सामान्य भाव-भूमि में पहुँच जाता है और वहाँ वह रस-दशा को प्राप्त होता है । इसका फल होता है भावों का परिष्कार और शेष सृष्टि के साथ रागात्मक सम्बन्ध की स्थापना और रक्षा ।

इस परिभाषा की व्याख्या में हमको दो बातें समझ लेना आवश्यक है । पहली बात यह कि मनुष्य जब तक संसार से स्वार्थ का सम्बन्ध रखता है; तब तक वह उसके संघर्ष को अधिक देखता है और सौन्दर्य को कम । मछली पकड़ने वाला जल में उछलकर एक साथ विलीन हो जाने वाली मछली का वह सौन्दर्य नहीं देख सकता जो कि एक निरपेक्ष द्रष्टा ।

व्याख्या

इसी प्रकार जब तक हमारी दृष्टि स्वार्थ से संकुचित रहती है तब तक हम संसार के नाना व्यापारों में आनन्द नहीं ले सकते । जब हम अपना व्यक्तित्व भूलकर मानवता की सामान्य भाव-भूमि में आते हैं तभी व्यक्तिगत हानि-लाभ के कारण आई हुई संसार की कटुता, उसका नुकीलापन, उसका ताप और ईर्ष्या-द्वेष एक मधुर, स्निग्ध, शीतल और शान्त सौन्दर्यमय रूप धारण करता है । व्यक्तिगत सम्बन्धों से बँधा हुआ प्रेम भी ईर्ष्या-द्वेष की भावना से कलुषित हो जाता है और व्यक्तिगत सम्बन्ध से उठे हुए क्रोध और घृणा के भाव भी मानवता की सामान्य भाव-भूमि में सात्विक रूप धारण करके सौन्दर्य का उत्पादन करते हैं । (यह बात साधारणीकरण का सिद्धान्त लिये हुए है । इस सिद्धान्त पर विशेष प्रकाश पीछे डाला जायगा ।)

इस सम्बन्ध में दूसरी बात ध्यान देने की यह है कि मनुष्य व्यक्तिगत हानि-लाभ की भावना से ऊँचा उठकर भाव को नहीं खोता । कविता द्वारा स्थापित सम्बन्ध भावात्मक होता है किन्तु वे भाव स्वार्थ से कलुषित नहीं होते । काव्य की अनुभूतियाँ विज्ञान की अनुभूतियों की भाँति कोरी ज्ञानात्मक नहीं होतीं । वे रागात्मक होती हैं—यह रागात्मकता शुद्ध और सात्विक होती है । इस रागात्मक सम्बन्ध में आकर्षण और विकर्षण दोनों ही सम्मिलित हैं—तभी प्रेम और करुणा-जैसे सुखद अनुभव और क्रोध, घृणा, भय-जैसे दुःखद अनुभव काव्य के विषय बनते हैं । शुक्लजी जगत् की अनेक रूपात्मकताओं के साथ हृदय की अनेक भावात्मकताओं का सामञ्जस्य चाहते हैं । वे लिखते हैं:—'इन अनेक भावों का व्यायाम और परिष्कार तभी समझा जा सकता है जब कि इन सबका प्रकृत सामञ्जस्य जाति के भिन्न-भिन्न रूपों व्यापारों या तथ्यों के साथ हो जाय ।' (चिन्तामणि पृष्ठ १४१-१४२) । इस प्रकार आचार्य शुक्लजी ने विभाव पक्ष और भाव पक्ष दोनों को ही समान महत्त्व दिया है, वरन यह कहना अधिक ठीक होगा कि विभाव पक्ष बाह्य जगत् के ऊपर ही भाव

जगत् को आश्रित रखता है। इस बाह्य जगत् या शेष सृष्टि में मनुष्य तथा मनुष्येतर जीव, जन्तु तथा वन, पर्वत, कछार, नदी नाले-आदि सब-कुछ आ जाते हैं।

शुक्लजी ने काव्य की इस भावात्मक अनुभूति के सम्बन्ध में उन वस्तुओं और व्यापारों पर अधिक जोर दिया है जिनसे कि मनुष्य आदिम युगों से परिचित चला आया है और जिनसे मनुष्य जीवन आदिम काल से लुब्ध और लुब्ध होता चला आया है। शुक्लजी ऐसी ही वस्तुओं से हमारे भावों का सीधा सम्बन्ध मानते हैं। कवि का कर्म यह हो जाता है कि वह सभ्यता के आवरण को चीरकर उन मूल रूपों को निकाल ले जिनसे कि हमारा सीधा सम्बन्ध है। वे मूल रूप मनुष्य जाति से चिर सम्बन्ध रखने के कारण अधिक आकर्षक और भावोत्पादक होते हैं। इसलिए कवि का यह कर्तव्य हो जाता है कि वह हमारे दैनिक व्यापारों में से सभ्यता का आवरण हटाकर उन मूल रूपों का उद्धार कर दे जिनसे कि वे हमको अधिक प्रभावित कर सकें। इसीलिए शुक्लजी कवि से साधारण और व्यापक सिद्धान्तों की विवेचना न कराकर उससे विशिष्ट, मूर्त और गोचर रूप में उनका उल्लेख कराना चाहते हैं, जिससे कि वे हमारी कल्पना को प्रभावित कर सकें। वे अमूर्त भावों के पीछे भी मूर्त और साकार रूपों को छिपा हुआ देखते हैं।

मूर्त विधान

केवल इस कथन में कि तुमने हमें नुकसान पहुँचाने के लिए जाली दस्तावेज बनाया, रसात्मकता नहीं है। इससे कोई भाव की जागृति न होगी, किन्तु यदि इसके परिणाम का सुख-दुःख का मूर्त चित्र खींच दिया जाय तो सुनने वाले के मन में दया की भावना उठ खड़ी होगी। इसका मूर्त रूप देखिए—'भाई तुमने ईमान, धर्म और लोक-परलोक का विचार छोड़कर झूठ का सहारा इसीलिए लिया कि तुम विद्युत् प्रकाश से आलोकित सुन्दर सुसज्जित हवेली में बैठकर हलवा-पूरी खाओ और मैं एक टूटी झोंपड़ी में बैठकर सूखे चनों से अपनी और अपने दुधमुँहे बच्चों की भूख को शान्त करूँ; तुम्हारे बच्चे दोपहर को भी दुशाला ओढ़कर निकलें और मेरे बच्चे रात को भी ठण्ड में सिकुड़कर दुहरे हो जायँ ! तुम मेरे बच्चों के मुँह में सूखी रोटी भी नहीं दे सकते।' शुक्लजी ने इसीलिए कविता की भाषा में उसका चित्र उपस्थित करने की शक्ति पर अधिक जोर दिया है। 'गोदान' में प्रेमचन्द जी ने घी के अभाव का वर्णन एक स्त्री के मुख से इस प्रकार कराया है—'घर में घी आँख में आँजने तक को नहीं है।' कैसी जोरदार अभिव्यक्ति है ?

शुक्लजी इसी सिद्धान्त पर प्रकृति के आदिम रूपों का आलम्बन रूप

से वर्णन किये जाने के पक्ष में हैं, यह बात तो बिलकुल ठीक है किन्तु यह मानना कि कल-कारखाने, गोदाम, स्टेशन, इंजन आदि के द्वारा भावों की जागृति उतनी ठीक नहीं है, जितनी कि वन, पर्वत, कछार, झरनों से।' यह संस्कार की बात है। औद्योगिक नगरों में शायद ये चीजें भी उतनी ही भावों को जागृति देने वाली बन गई हों। मैं जानता हूँ कि कवि की भावना आवरण में भी सौन्दर्य देख सकती है। कविता हमको साधारण दर्शकों की अपेक्षा साधारण चीजों से भी रस ग्रहण करना सिखाती है। प्रकृति के मूल रूपों की अवहेलना करना कृतघ्नता होगी, किन्तु यह मानना होगा कि नई सभ्यता से भी हमारा रागात्मक सम्बन्ध कुछ स्थापित हो चला है, कम-से-कम अपने घरों से। एक अंग्रेज कवि ने चादरों और कम्बलों से भी रागात्मक सम्बन्ध स्थापित किया है।

प्रकृति-चित्रण

Then the cool Kindlyness of sheets that soon
Smooth away trouble, and the rough male kiss
Of blankets.................the keen
Unpassioned beauty of a great machine

अस्तु यह तो एक प्रासंगिक बात है।

शुक्ल जी ने कविता के क्षेत्र को संकुचित नहीं रखा है, उन्हें उसका प्रचार नर-क्षेत्र में, तथा नरेतर बाह्य सृष्टि और यहाँ तक कि कुल चराचर सृष्टि में माना है। मशीन, कल, कारखानों द्वारा भावों की जागृति अपेक्षाकृत कम होगी लेकिन यह न समझना चाहिए कि उनसे बिलकुल नहीं होगी। इसी के स्पष्टीकरण में मैंने ऊपर की कविता उद्धृत की है। नर-क्षेत्र को तो सभी ने अपनाया है परन्तु नरेतर सृष्टि के क्षेत्र को तो कुछ कम लोगों ने। हिन्दी-कवियों की अपेक्षा संस्कृत के कवियों ने इसे अधिक अपनाया है।

शुक्लजी ने प्रकृति के वर्णन में अर्थ-ग्रहण की अपेक्षा बिम्ब-ग्रहण पर अधिक जोर दिया है। अर्थ-ग्रहण से केवल मानसिक बोध का और बिम्ब-ग्रहण से वस्तु का पूर्ण रूप-ज्ञान अभिप्रेत है। वस्तु से मतलब है उसको पूर्ण रूप में परिस्थिति और उचित वातावरण में देखना। केवल नाम से परिचय प्राप्त कर लेना नहीं।

आचार्य शुक्ल जी प्रकृति का केवल सौम्य रूप ही नहीं देखना चाहते वरन् भवभूति की भाँति उसका उग्र रूप भी। उसको ये सभी रूपों में देखना चाहते हैं—उनको ग्रामीण और वन्य प्रकृति आकर्षित करती है। वे नई जुती हुई पृथ्वी की गन्ध पर, जिसका कालिदास ने वर्णन किया है, मुग्ध हैं। प्रकृति में आनन्द-मग्न होने का कारण वे सुख-भोग नहीं वरन् उसके चिर साहचर्य द्वारा प्रतिष्ठित

वासना है। वे लिखते हैं—

'जो केवल अपने विलास या शरीर-सुख की सामग्री ही प्रकृति में ढूँढ़ा करते हैं, उनमें उस रागात्मक सत्व की कमी है जो व्यक्त सत्ता-मात्र के साथ एकता की अनुभूति में लीन करके हृदय के व्यापकत्व का आभास देता है। सम्पूर्ण सत्ताएँ एक ही परम सत्ता और सम्पूर्ण भाव एक ही परम भाव के अन्तर्भूत हैं।' (चिन्तामणि पहला भाग पृष्ठ १५१) इस प्रकार शुक्लजी के प्रकृति-प्रेम का भारतीय एकात्मवाद में प्राकृतिक आधार भी मिल जाता है।

प्रकृति से वे मार्मिक तथ्यों के ग्रहण के पक्ष में हैं। हमारे अन्योक्तिकारों का ध्यान इस ओर गया है—

कोलाहल सुनि खगन के, सरवर! जनि अनुरागि।
ये सब स्वारथ के सखा, दुर्दिन देहैं त्यागि॥

इस प्रकार के तथ्यों को ग्रहण करके मनुष्य और मनुष्येतर जाति में एक प्रकार का सामञ्जस्य स्थापित हो जाता है।

भाव और मानव-व्यापार

आचार्य शुक्लजी प्रवृत्ति का मूल कारण भाव ही मानते हैं। 'अन्तर्दृष्टि गड़ाकर देखने से कौटिल्य को नचाने वाली डोर का छोर भी अन्तःकरण के रागात्मक खण्ड की ओर मिलेगा। प्रतिज्ञा-पूर्ति की आनन्द-भावना और नन्द वंश के प्रति क्रोध या वैर की वासना बारी-बारी से उस डोर को हिलाती हुई मिलेगी'—'कविता भाव-प्रसार द्वारा कर्मण्य के लिए कर्म-क्षेत्र का और विस्तार कर देती है। मनुष्य की यही विशेषता है कि उसका भाव-विस्तार उसी के निजी सुख-दुःख तक सीमित नहीं रहता वरन् उसके ज्ञान-विस्तार का, उसके भाव-क्षेत्र का भी विस्तार होता जाता है। मानव-हृदय मनुष्य-समाज से ही प्रयत्न-तादात्म्य नहीं करता वरन् सारे पशु-पक्षियों और वन-पर्वतों और नदी-नालों तक से अपना तादात्म्य करने लग जाता है।

कवि-वाणी के प्रसार से हम संसार के सुख-दुःख आनन्द-क्लेश आदि का शुद्ध स्वार्थ-युक्त रूप में अनुभव करने लगते हैं। इस प्रकार के अनुभव के अभ्यास हृदय का बन्धन खुलता है और *मनुष्यता की उच्च भूमि* की प्राप्ति होती है। ......भावयोग की सबसे उच्च कक्षा पर पहुंचे हुए मनुष्य का जगत् के साथ पूर्ण तादात्म्य हो जाता है, उसकी अलग सत्ता नहीं रह जाती, उसका हृदय विश्व-हृदय हो जाता है।

(पृष्ठ १६०-६१)

शुक्लजी कविता का उद्देश्य केवल मनोरञ्जन या चमत्कारोत्पादन नहीं

मानते । वे कविता का अन्तिम लक्ष्य जगत् के मार्मिक पक्षों का प्रत्यक्षीकरण करके

मनोरंजन तथा चमत्कारोत्पादन

उनके साथ मनुष्य हृदय का सामञ्जस्य स्थापित करना मानते हैं, मनोरंजन कविता का साध्य नहीं हो सकता । 'कविता अपनी मनोरंजन-शक्ति द्वारा पढ़ने वाले या सुनने वाले का चित्त रमाए रहती है, जीवन-पट पर उक्त कर्मों की सुन्दरता या विरूपता अंकित करके मर्म-स्थलों का स्पर्श करती है । मनोरंजन हृदय के द्वार खोलने के लिए कुञ्जी-मात्र है ।' इस प्रकार वे चमत्कार या उक्ति-वैचित्र्य का प्रयोग करते अवश्य हैं किंतु भाव की अनुभूति को तीव्र करने के लिए । उक्ति-वैचित्र्य-मात्र कविता नहीं । इस सम्बन्ध में उन्होंने सूक्ति और काव्य में अन्तर किया है । जो उक्ति हृदय में कोई भाव जागरित कर दे या उसे प्रस्तुत वस्तु या तथ्य की मार्मिक भावना में लीन कर दे वह तो है काव्य; और जो उक्ति कथन के ढंग के अनूठेपन, रचना-वैचित्र्य, चमत्कार, कवि के श्रम या निपुणता के विचार में ही प्रवृत्त करे, वह है सूक्ति । वक्रोक्ति या उक्ति-वैचित्र्य को शुक्ल जी उसी अंश में काव्य का जीवन मानेंगे 'जहाँ तक वह भावानुमोदित हो या किसी मार्मिक भाव या किसी मार्मिक अन्तर्वृत्ति से सम्बद्ध हो ।'

अलंकारों को भी आचार्य शुक्लजी ने प्रस्तुत भाव या भावना के उत्कर्ष-साधन के लिए ही माना है, केवल साधर्म्य या सादृश्य दिखाने के लिए नहीं । आचार्य शुक्लजी ने स्वभावोक्ति को अलङ्कार नहीं माना । यह बात विवादास्पद है । सादगी में भी एक कला है शुक्लजी ने वस्तु की स्वाभाविक रमणीयता को आवश्यक माना है । उसके बिना अलङ्कारों का ढेर सौन्दर्य की सृष्टि नहीं कर सकता । अलङ्कार शोभा को बढ़ा सकते हैं, उत्पन्न नहीं कर सकते ।

कविता के सम्बन्ध में शुक्लजी ने सौन्दर्य के ऊपर बहुत जोर दिया है । उनका कथन है कि जो धर्म में 'शिव' है, वही काव्य में 'सुन्दर' है । सौन्दर्य केवल रूप-रंग तक ही सीमित नहीं है । वह मन, वचन और कर्म सब में देखा जा सकता है । कर्म का सौन्दर्य ही शिव बन जाता है । इस प्रकार उन्होंने शिवं और सुन्दरं का सम्बन्ध कर दिया है । इस प्रकार आचार और कला में भेद नहीं रहता । जो आचार-विरुद्ध है वह आन्तरिक सुन्दरता से हीन है ।

शुक्लजी ने जो सुन्दरता की परिभाषा की है वह कविता के लक्षण से मेल खा जाती है । वह परिभाषा इस प्रकार है—"किसी वस्तु के प्रत्यक्ष ज्ञान या भावना से हमारी अपनी सत्ता के बोध का जितना अधिक तिरोभाव और हमारे मन की उस वस्तु के रूप में जितनी ही पूर्ण परिणति होगी, उतनी बढ़ी हुई हमारी सौन्दर्य की अनुभूति कही जायगी ।" जहाँ पर हम सच्ची सुन्दरता देखते हैं वहाँ हम अपने

व्यक्तित्व को भूल जाते हैं। काव्य की साधना भी हमको व्यक्तित्व के संकुचित बन्धनों से मुक्त कर देती है। जो वस्तु की दृष्टि से सौन्दर्य है वह अनुभवकर्ता की दृष्टि से रस है।

कवि जगत् के सौन्दर्य की ओर पाठकों को आकर्षित करता है और उसकी कुरूपता से उनको दूर हटाता है। आचार्य शुक्ल ने अनुभूति-भेद स्वीकार करते हुए भी अपनी विषयगत प्रतिभा के अनुकूल सौन्दर्य को वस्तुगत माना है, देखिए— 'मनुष्यता की सामान्य भूमि पर पहुँची हुई संसार की सब सभ्य जातियों में सौंदर्य के सामान्य आदर्श प्रतिष्ठित हैं। भेद अधिकतर अनुभूति की मात्रा में पाया जाता है। न सुन्दर को कोई एक बारगी कुरूप कहता है और न बिलकुल कुरूप को सुन्दर' (पृष्ठ १६५)। (बीच की श्रेणियों के लिए शुक्लजी ने कुछ नहीं, कहा इन्हीं के सम्बन्ध में विषयीगत प्रतिभा काम करती है।)

आचार्य शुक्लजी ने उपयुक्त तथ्यों के अनुकूल ही अच्छी भाषा की चार विशेषताएँ मानी हैं। पहली विशेषता तो यह है कि अगोचर बातों और भावनाओं को भी, जहाँ तक हो सके भाषा स्थूल गोचर रूप दे। इस मूर्ति-विधान के लिए भाषा लक्षणा-शक्ति से काम ले—'बनन में बागन में बगरो वसन्त है' (पद्माकर) इसी के फलस्वरूप दूसरी माँग यह है कि भाषा जाति-संकेत वाले शब्दों की अपेक्षा विशेष रूप-व्यापार-सूचक शब्दों का अधिक व्यवहार करे (यह भी उनकी विषय-प्रधान प्रतिभा का फल है।)

भाषा

तीसरी विशेषता भाषा सुन्दर वर्ण-विन्यास की होनी चाहिए। 'शुष्को वृक्षस्तिष्ठत्यग्रे' के स्थान में 'नीरस तरुरिह विलसति पुरतः' अधिक कर्ण सुखद लगता है। नाद-सौंदर्य से कविता का स्थायित्व बढ़ता है। तो भी विशेषता कोरे नाम की अपेक्षा उनके रूप गुण या कार्य बोधक शब्दों के व्यवहार की है। यह बात संस्कृत में अधिक थी जैसे मेघनाद आदि शब्दों में किंतु साधारण कविता में भी अवसर के अनुकूल सम्बोधन दिये जा सकते हैं:—संकट के समय में कृष्ण को कंस-निकन्दन या मुरारी कहना अधिक अर्थबोधक होगा।'

शुक्लजी ने इसी सौन्दर्य को लोक-मंगल भी कहा है और अपने काव्य में लोक-मंगल की साधनावस्था वाले लेख में उन्होंने काव्य के दो विभाग किये हैं।

लोक-मंगल की साधनावस्था

(१) आनन्द की साधनावस्था या प्रयत्न पक्ष को लेकर चलने वाले।

(२) आनन्द की सिद्धावस्था या उपयोग पक्ष को लेकर चलने वाले।

इस विभाजन द्वारा आचार्य शुक्लजी ने यह बतला दिया है कि सौन्दर्य को हम

केवल श्रृङ्गार-प्रधान कविताओं में ही जहाँ नायक नायिकाओं या चन्द्र, ज्योत्स्ना, यमुना-पुलिन, गीत-वाद्य, मलय-समीर में ही नहीं देख सकते हैं वरन् ऐसे स्थलों में भी देख सकते हैं कि जहाँ क्रोध, घृणा और मार-काट हो । यह क्रोध, घृणा और मारकाट अत्याचार और जीवन की वीभत्सताओं को दूर करने के प्रयत्न में होता है । इसलिए सौन्दर्य (जिसमें भौतिक और आध्यात्मिक दोनों प्रकार का शामिल है) के स्थापन का जहाँ प्रयत्न दिखाई पड़े वह भी सुन्दरता है ।

प्रयत्न के सौन्दर्य के लिए सफलता अनिवार्य नहीं है । क्योंकि इस संसार में 'साधुता-सीदति' और 'विलसित खलई' के उदाहरण सहज ही मिल जाया करते हैं । कर्त्तव्य का सौन्दर्य असफलता में भी प्रकाश देता है । यदि प्रयत्न की सफलता हो जाय तो उसे उपदेशात्मकता Diadacticism न समझना चाहिए 'कवि जहाँ मंगल-शक्ति की सफलता दिखाता है वहाँ कला की दृष्टि से सौन्दर्य का प्रभाव डालने के लिए; धर्मशासक की हैसियत से डराने के लिए नहीं कि यदि ऐसा कार्य करोगे तो ऐसा फल पाओगे । कवि कर्म-सौन्दर्य के प्रभाव द्वारा प्रवृत्ति या निवृत्ति अन्तः प्रकृति में उत्पन्न करता है, उसका उपदेश नहीं देता । सौन्दर्य दिखाने में आकर्षण की भावना रहती है । आकर्षण स्वाभाविक होता है, वह प्रसन्नता देता है; आदेश भार स्वरूप हो जाता है ।

साधारणीकरण और व्यक्ति-वैचित्र्यवाद

यह समस्या इस प्रकार है—

"किसी काव्य का श्रोता या पाठक जिन विषयों को मन में लाकर रति, करुणा, क्रोध, उत्साह आदि भावों तथा सौन्दर्य, रहस्य, गांभीर्य आदि भावनाओं का अनुभव करता है वे अकेले उसी के हृदय से सम्बन्ध रखने वाले नहीं होते, मनुष्य मात्र की भावात्मक सत्ता पर प्रभाव डालने वाले होते हैं । कहने का तात्पर्य यह है कि काव्य के वर्णित भाव काव्य के आश्रय (जो रति, क्रोध आदि के भावों का अनुभव करता है वह आश्रय कहलाता है) के ही व्यक्तिगत भाव नहीं होते वरन् वे साधारणीकरण व्यापार द्वारा सहृदय मनुष्य-मात्र के भाव हो जाते हैं, न मेरे रहते हैं न पराये । इसी कारण दर्शक या श्रोता काव्य के पात्रों से तादात्म्य अनुभव कर सकता है । वे देश और काल में दूर के होते हुए भी हमारी सहानुभूति (सहानुभूति का यहाँ शाब्दिक अर्थ लिया जाता है सह+अनुभूति) के विषय बन जाते हैं। "

काव्य का विषय सदा 'विशेष' होता है 'सामान्य' नहीं । वह, व्यक्ति सामने लाता है, जाति नहीं । यह बात आधुनिक कला-समीक्षा के क्षेत्र में पूर्णतया स्थिर हो चुकी है ।

अभिव्यञ्जनावाद के प्रवर्तक क्रोसे (Croce) से अवतरण देते हुए शुक्लजी ने बतलाया है कि काव्य का काम है कल्पना में 'बिम्ब' (Images) या मूर्त भावना उपस्थित करना, बुद्धि के सामने कोई विचार (Concept) लाना नहीं। बिम्ब जब होगा तब विशेष या व्यक्ति का होगा सामान्य या जाति का नहीं। स्वयं शुक्लजी ने भी कवि के कर्म में मूर्त-विधान को ही उपस्थित करना बतलाया है।

अब यह देखना चाहिए कि हमारे यहाँ विभाजन व्यापार में जो 'साधारणीकरण' कहा गया है उसके विरुद्ध तो यह सिद्धान्त नहीं पड़ता अर्थात् एक ओर साधारणीकरण पर और दूसरी ओर मूर्तता पर, जो व्यक्ति से सम्बन्ध रखती है, जोर दिया गया है। इनका समन्वय किस प्रकार हो सकता है इस समस्या का उत्तर शुक्लजी के शब्दों में देते हैं:—

"साधारणीकरण का अभिप्राय यह है कि पाठक या श्रोता के मन में जो व्यक्ति विशेष या वस्तु आती है, वह जैसे काव्य में वर्णित आश्रय के भाव का आलम्बन होती है वैसे ही सब सहृदय पाठकों या श्रोताओं के भाव का आलम्बन होती है।"

शुक्लजी ने इस सम्बन्ध में यह और बतलाया है कि सब अवस्थाओं में पाठक का आश्रय की अनुभूति से तादात्म्य नहीं हो सकता। जैसे यदि कोई निरपराध के प्रति क्रोध करे तो हम क्रोध करने वाले आश्रय के भावों से तादात्म्य नहीं रखते वरन् उसके प्रति घृणा के भाव रखने लगते हैं। ऐसी अवस्था में आश्रय आश्रय नहीं रहता वरन् स्वयं वही हमारा आलम्बन बन जाता है। जैसे रावण जहाँ सती सीता पर क्रोध करता है तो हम उसके क्रोध में शामिल नहीं होते वरन् उससे घृणा करते हैं या स्वयं उस पर क्रोध करते हैं। यदि कोई पुरुष किसी कुरूपा स्त्री पर अपनी आसक्ति प्रकट करता है तो हमारे हास्य का आलम्बन बन जाता है। यदि हमारा तादात्म्य होता है तो कवि के उस गुप्त भाव से होता है जिसके कारण वह उस पात्र को मंच पर या काव्य में लाया, बशर्ते कि कवि स्वयं शीलवान हो, नहीं तो कवि भी हमारी घृणा का आलम्बन बन जायगा।

इस लेख में शुक्ल जी ने बतलाया है कि काव्य का विभाव-पक्ष हमको नाना रूपों-रंगों से चित्रित रूप-विधानों में मिलता है। ये कुछ प्रत्यक्ष होते हैं और कुछ अप्रत्यक्ष। अप्रत्यक्ष भी प्रत्यक्ष पर आश्रित हैं।

रसात्मक बोध के विविध रूप

हम प्रत्यक्ष में किसी सुन्दर वस्तु को (वह चाहे सजीव हो चाहे निर्जीव) देख कर प्रभावित होकर रस-मग्न हो सकते हैं अथवा उसका स्मरण करके आनन्द-विभोर हो सकते हैं। देखी हुई चीज के आधार पर नई सृष्टि भी करके उसमें रसलीन हो सकते हैं।

१८. शुक्ल जी की कविता

प्रो० भारतभूषण 'सरोज'

साधारणतः पं० रामचन्द्र शुक्ल आचार्य एवं निबन्ध-लेखक के रूप में विशेष प्रसिद्ध हैं । उनका नाम सुनते ही मस्तिष्क-पटल पर जो चित्र उपस्थित होता है वह एक विचारशील और गम्भीर आलोचक का चित्र है। परन्तु वास्तव में वे केवल विचारशील आलोचक ही न थे मल्कि एक भावुक और सहृदय कवि भी थे । किन्तु उनके कवि रूप का उस कोटि तक विकास न हो सका कि उनके पाठक उन्हें आलोचक एवं निबन्ध-लेखक के समान ही कवि के रूप में भी स्मरण कर सकें। उनका समय—द्विवेदी-युग—ऐसा था जब कि कविता ह्रास की ओर जा रही थी। उस युग के पथ-प्रदर्शक द्विवेदी जी जिस प्रकार कवियों को उनका कर्त्तव्य बताने में दत्तचित्त थे उसी प्रकार शुक्ल जी भी यह बताने में विशेष प्रयत्नशील थे कि कविता क्या है । शुक्ल जी ने थोड़ा और आगे बढ़कर तुलसी, सूर और जायसी-जैसे महाकवियों के काव्यों का स्वरूप-निरूपण करके कविता के वास्तविक सौन्दर्य को भी जन-मानस के सम्मुख उपस्थित किया । अस्तु, शुक्ल जी एक ओर जहाँ काव्य के मर्मज्ञ थे वहाँ दूसरी ओर सहृदय एवं भावुक कवि भी थे। परिस्थितिवश वे इस क्षेत्र में बहुत अधिक कार्य न कर सके किन्तु जो कुछ किया वही उनके यश को स्थिरता प्रदान करेगा इसमें सन्देह नहीं।

शुक्ल जी के काव्य पर विचार करते समय यह बात अत्यन्त दुःख देती है कि उनकी लिखी हुई बहुत सी काव्य-सामग्री, जो प्रकाशित होने के लिए एकत्र की गई थी, खो जाने के कारण प्रकाशित ही न हो सकी। यदि उनकी लिखी समस्त काव्य-सामग्री प्रकाशित हो गई होती तो उनके कवि-हृदय के दर्शन भली-भाँति हो सकते।

द्विवेदी-युग में अनुवाद-कार्य प्रचुर मात्रा मेंहो रहा था। काव्य के क्षेत्र में भी संस्कृत, बँगला और अंगरेजी के श्रेष्ठ काव्यों के अनुवाद किये जा रहे थे। शुक्लजी

ने भी मौलिक काव्य-रचना के साथ के सर एडविन आर्नल्ड द्वारा रचित अंगरेजी काव्य 'The Light of Asia' का हिन्दी में 'बुद्ध-चरित' नाम से अनुवाद किया है। इसलिए शुक्ल जी के काव्य को हम दो भागों में विभक्त करके विचार करेंगे।

१. अनूदित काव्य। २. मौलिक काव्य।

शुक्ल जी ने The Light of Asia का अनुवाद कर समय अनेक स्थानों पर स्वतन्त्रता से कार्य लिया है। वे स्वयं प्रकृति के महान् आराधक थे। अतः अनुवाद करते समय जहाँ ऐसे दृश्य मिले जिनको पढ़कर उनका हृदय आन्दोलित हो उठा उनका अनुवाद करते समय वे अपने को रोक नहीं सके। उन्होंने स्थान-स्थान पर भावों का विस्तार से प्रकाशन किया है। किन्तु ऐसा करते हुए भी उन्होंने अनुवादक की मर्यादा का पालन किया है और मूल लेखक के भावों की रक्षा भी की है। 'बुद्ध-चरित' के आरम्भिक वक्तव्य में उन्होंने अपने दृष्टिकोण को स्वयं ही स्पष्ट कर दिया है। वे लिखते हैं—"यद्यपि ढंग इसका ऐसा रखा गया है कि एक स्वतन्त्र हिन्दी-काव्य के रूप में इसका ग्रहण हो पर साथ ही मूल पुस्तक के भावों को स्पष्ट करने का भी पूर्ण प्रयत्न किया गया है। दृश्य-वर्णन जहाँ अयुक्त या अपर्याप्त प्रतीत हुए वहाँ बहुत-कुछ फेर-फार करना या बढ़ाना भी पड़ा है।" इस दृष्टि को लेकर अनुवाद करने का परिणाम अच्छा ही हुआ। 'बुद्ध-चरित' अनुवाद-ग्रन्थ होते हुए भी The Light of Asia की अपेक्षा अधिक सुन्दर तथा सरस बन पड़ा है। दो उदाहरणों से यह बात स्पष्ट हो जायगी।

But, when the days were numbered, then befell—
The parting of our Lord—which was to be—
Where by came wailing in the Golden Home,
Woe to the king and Sorrow O'er the land,
But for all flesh deliverance, and that Law
Which whose hears—the same shall make him free.

जब दिन पूरे भए बुद्ध भगवान् हमारे,
तजि अपनो घर-बार घोर बन ओर सिधारे।
जासों परयो खभार राज-मन्दिर में भारी,
शोक-बिकल अतिभूप, प्रजा सब भई दुखारी।
पै निकस्यो निस्तार पंथ प्राणिन हित नूतन;
प्रगट्यो शास्त्र पुनीत कटैं जासों भव-बन्धन।

× × × ×

संस्था में पारस्परिक द्वेष और दलबन्दी देखते हैं तो हृदय दुःखी हुए बिना नहीं रहता। फिर भला शुक्ल जी-जैसे भावुक व्यक्ति अपने समय में देश को अवनति की ओर ले जाने वाली परिस्थितियों को मौन रहकर किस प्रकार सहन कर सकते थे। जिस समय सूरत-कांग्रेस में फूट पड़ गई उस समय वे अपनी लेखनी को न रोक सके। देशवासियों से अनुरोध करते हुए उन्होंने कहा—

"किन्तु आज बाईस वर्ष तक कितने झोंके खाती।
अन्यायी को लज्जित करती न्याय छटा छहराती॥
यह जातीय सभा हम सबकी न्याय ठेलती आई।
हाय फूट तेरे आनन में वह भी आज समाई॥
यही समझते थे दोनों दल पृथक् पंथ अनुयायी।
होकर भी उद्देश्य-हानि को सह न सकेंगे भाई॥
किन्तु देख सूरत की सूरत भगे भाव यह सारे।
आशंका तब तरह-तरह की मन में उठी हमारे॥
अब तो कर कुछ कृपा कि जिससे एक सभी फिर होवें।
अपने मन की मैल देश की अश्रु-धार से धोवें॥
जो-जो सिर पर बीति रही उसको जी वेगि भुलावें।
मौन मार निज मातृभूमि की सेवा में लग जावें॥"

शुक्ल जी की देश-भक्ति-विषयक एक कविता है 'भारत और वसन्त'। यह बहुत सार-गर्भित है। वसन्त के आगमन पर भारत ने उसके सम्मुख अपनी दीन-दशा का मार्मिक वर्णन किया है, जिसे सुनकर बसन्त ने भारत को अतीत-गौरव का स्मरण कराया है। स्थान-स्थान पर सुन्दर व्यंग्य हैं। पश्चिम की कृतघ्नता पर लिखी गई इन पंक्तियों को देखिये—

"विविध बिद्या कला-कौशल जगत् में फैलाय।
कियो अपने जान तो उपकार ही इन हाय॥
हा! कृतघ्न प्रतीचि जन सब सीखि इनते ज्ञान।
विभव मद में चूर सकुचत करत अब सम्मान॥"

शुक्ल जी को हिन्दू जाति का पतन देखकर भी दुःख होता था। 'गोस्वामी जी और हिन्दू जाति' शीर्षक कविता उन्होंने इसीलिए लिखी थी कि हमारी जाति की आँखें खुलें और वह गोस्वामी जी द्वारा बताये हुए शील, शक्ति एवं सौन्दर्य से समन्वित भगवान् राम को पहचानें और अपना उत्थान करें। इस कविता की कुछ पंक्तियाँ इस प्रकार हैं—

"......प्रभु की ओर देखने जब हम लगे हृदय में द्वारे।
नए पंथ कुछ चले चिढ़ाने 'वह तो जग से न्यारे'॥
अटपट बानी ने जीवन की खटखट से खटकाया।
लोक - धर्म के रुचिर रूप पर चटपट पट फैलाया॥
......इतने में सुन पड़ी अतुल-सी तुलसी की बर-बानी।
जिसने भगवत्कला लोक के भीतर भी पहचानी॥
शोभा शक्ति शीलमय प्रभु का रूप मनोहर प्यारा।
दिखा लोक - जीवन के भीतर जिसने दिया सहारा॥
शक्ति बीज शुभ भव्य भक्ति वह पाकर मंगलकारी।
मिटी खिन्नता जीने की रुचि फिर कुछ जगी हमारी॥"

जब शुक्ल जी को अपने देश से इतना प्रेम था तो भला उसके सुन्दर अथवा असुन्दर प्राकृतिक दृश्यों के प्रति उनका आकर्षण क्यों न होता। प्रकृति के साथ उनकी घनिष्ठता इस सीमा तक पहुँच गई थी कि उन्हें उसमें कुरूपता दिखाई ही नहीं देती थी।

शुक्लजी ने प्रकृति के संश्लिष्ट-चत्रण पर ही विशेष बल दिया है। स्वयं भी उन्होंने संश्लिष्ट चित्र उपस्थित करने का प्रयत्न किया है। वे यह समझते थे कि मानव अपने क्षुद्र भावों का प्रकृति में आरोप करके उसकी विशालता और उसके सच्चे स्वरूप को धुँधला बना देता है। प्रकृति के नैसर्गिक रूप ही मानव-हृदय के सोये हुए भावों को जागृत करने में समर्थ हैं।

"प्रकृति के शुद्ध रूप देखने को आँखें नहीं,
जिन्हें वे ही भीतरी रहस्य समझाते हैं।
झूठे-झूठे भावों के आरोप से आच्छन्न उसे,
करके पाखंड कला अपनी दिखाते हैं॥
अपने कलेवर की मैलो औ' कुचैली वृत्ति,
छोपके निराली छटा उसकी छिपाते हैं।
अश्रु-श्वास-ज्वार-ज्वाला नीरव रुदन नृत्य,
देख अपना ही तंत्री तार वे बजाते हैं।"

× × × ×

"नर भव-शक्ति की अनन्त रूपता है बिछी,
तुझे अन्धकूपता से बाहर बढ़ाने को।
चारों ओर फैले महामानस की ओर देख,
गर्त्त में न गड़ा गड़ा हंस कुछ पाने को॥
अपनी क्षुद्र छाया के पीछे दौड़ मारने से,
सच्चा भाव विश्व का न एक हाथ आने को।
रूप जो आभास मुझे सत्य-सत्य देंगे बस,
उन्हीं को समर्थ जान अन्तस् जगाने को॥"

शुक्ल जी को इस बात का महान् खेद था कि मानव प्रकृति-जननी की आनन्दमयी क्रोड़ को त्यागकर 'सभ्यता के आवरण' में बँधता जा रहा है। इस सम्बन्ध में अपने विचार शुक्ल जी कितनी भावुकता से प्रकट करते हैं—"हम पेड़-पौधों और पशु-पक्षियों से सम्बन्ध तोड़कर बड़े-बड़े नगरों में आ बसे; पर उनके बिना रहा नहीं जाता। हम उन्हें हर वक्त पास न रखकर एक घेरे में बन्द करते हैं और कभी-कभी मन बहलाने के लिए उनके पास चले जाते हैं। हमारा साथ उनसे भी छोड़ते नहीं बनता। कबूतर हमारे घर के छज्जों के नीचे सुख से सोते हैं; गौरे हमारे घर के भीतर आ बैठते हैं; बिल्ली अपना हिस्सा या तो म्याँव-म्याँव करके माँगती है या चोरी से ले जाती है, कुत्ते घर की रखवाली करते हैं और वासुदेव जी कभी-कभी दीवार छोड़कर निकल पड़ते हैं। बरसात के दिनों में जब सुर्खी—चूने की कड़ाई की परवाह न करके हरी-हरी घास पुरानी छत पर निकलने लगती है, तब हमें उसके प्रेम का अनुभव होता है। वह मानो हमें ढूँढ़ती हुई आती है और कहती है कि "तुम हमसे क्यों दूर-दूर भागे फिरते हो ?"

जननी-तुल्य प्रकृति की 'हत्या' करने पर मानव तुला हुआ है। वह आज निर्मम होकर कहीं वृक्षों को काटता है, कहीं पक्षियों और पशुओं को मारता है। यह बात शुक्ल जी-जैसे प्रकृति-प्रेमी को कैसे सह्य हो सकती थी। उन्होंने मानव की भर्त्सना करते हुए कहा—

"कर से कराल निज काननों को काटकर,
शैलों को सपाट कर, सृष्टि को संहार ले।
नाना रूप रंग धरे, जीवन-उमंग-भरे,
जीव जहाँ तक बने मारते, तू मार ले॥
माता धरती की भरी गोद यह सूनी कर,
प्रेत-सा अकेला पाँव अपना पसार ले।

विश्व बीच नर के विकास हेतु नरता ही,
होगी किन्तु अलम् न, मानव विचार ले ॥

प्रकृति-चित्रण के सम्बन्ध में शुक्ल जी का यह दृष्टिकोण था कि प्रकृति के सुन्दर एवं असुन्दर सभी रूपों का चित्रण करने वाला कवि ही सच्चा प्रकृति-प्रेमी है। "जो केवल मुक्ताभास-हिमबिन्दु-मण्डित मरकताभ-शाद्वल-जाल, अत्यन्त विशाल गिरिशिखर से गिरते हुए जल-प्रपात के गम्भीर गर्त्त से उठी हुई सीकर-नीहारिका के बीच विविधवर्णस्फुरण की विशालता, भव्यता और विचित्रता में ही अपने हृदय के लिए कुछ पाते हैं, वे तमाशबीन हैं—सच्चे भावुक या सहृदय नहीं।"

शुक्ल जी द्वारा किये गए विन्ध्य के समीपवर्ती लहलहे खेतों की बसन्त-कालीन सुषमा का सुन्दर वर्णन निम्न लिखित पंक्तियों में किस अनूठेपन के साथ किया गया है—

"भूरी हरी घास आस-पास फूली सरसों है,
पीली-पीली बिन्दियों के चारों ओर है प्रसार ?
कुछ दूर विरल सघन फिर और आगे,
एक रंग मिला चला गया पीत पारावार ॥
गाढ़ी हरी श्यामता की तुङ्ग राशि - रेखा घनी,
बाँधती है दक्षिण की ओर उसे घेर-घार।
जोड़ती है जिसे खुले नीले नभ-मण्डल से,
धुँधली-सी नीली नग-माला उठी धुआँधार ॥"

जहाँ बसन्त के ऐसे नयनाभिराम दृश्य को चित्रित किया है वहीं उसी लगन के साथ उन्होंने ग्रीष्म के भयंकर दृश्य को भी अंकित करने में किसी प्रकार की कमी नहीं की। नीचे के उदाहरण में संतप्त ग्रीष्म का कितना सजीव वर्णन है—

"प्रखर प्रणयपूर्ण दृष्टि से प्रभाकर की,
ललक लपटभरी भूमि भभराई है।
पीवर पवन लोट - लोट धूलि - धूसरित,
झपट रहा है बड़ी धूम की बधाई है ॥
सूखे तृण-पत्र लिये कहीं रेणु - चक्र उठा,
घूर्णित प्रमत्त देता नाचता दिखाई है।
झाड़ और झपेट झेल झूमते खड़े हैं पेड़,
मर्मर - मिलित हू हू दे रहा सुनाई है ॥

"नर भव-शक्ति की अनन्त रूपता है बिछी,
तुझे अन्धकूपता से बाहर बढ़ाने को।
चारों ओर फैले महामानस की ओर देख,
गर्त्त में न गड़ा गड़ा हंस कुछ पाने को॥
अपनी क्षुद्र छाया के पीछे दौड़ मारने से,
सच्चा भाव विश्व का न एक हाथ आने को।
रूप जो आभास मुझे सत्य-सत्य देंगे बस,
उन्हीं को समर्थ जान अन्तस् जगाने को॥"

शुक्ल जी को इस बात का महान् खेद था कि मानव प्रकृति-जननी की आनन्दमयी क्रोड़ को त्यागकर 'सभ्यता के आवरण' में बँधता जा रहा है। इस सम्बन्ध में अपने विचार शुक्ल जी कितनी भावुकता से प्रकट करते हैं—"हम पेड़-पौधों और पशु-पक्षियों से सम्बन्ध तोड़कर बड़े-बड़े नगरों में आ बसे; पर उनके बिना रहा नहीं जाता। हम उन्हें हर वक्त पास न रखकर एक घेरे में बन्द करते हैं और कभी-कभी मन बहलाने के लिए उनके पास चले जाते हैं। हमारा साथ उनसे भी छोड़ते नहीं बनता। कबूतर हमारे घर के छज्जों के नीचे सुख से सोते हैं; गौरे हमारे घर के भीतर आ बैठते हैं; बिल्ली अपना हिस्सा या तो म्याँव-म्याँव करके माँगती है या चोरी से ले जाती है, कुत्ते घर की रखवाली करते हैं और वासुदेव जी कभी-कभी दीवार छोड़कर निकल पड़ते हैं। बरसात के दिनों में जब सुर्खी—चूने की कड़ाई की परवाह न करके हरी-हरी घास पुरानी छत पर निकलने लगती है, तब हमें उसके प्रेम का अनुभव होता है। वह मानो हमें ढूँढ़ती हुई आती है और कहती है कि "तुम हमसे क्यों दूर-दूर भागे फिरते हो?"

जननी-तुल्य प्रकृति की 'हत्या' करने पर मानव तुला हुआ है। वह आज निर्मम होकर कहीं वृक्षों को काटता है, कहीं पक्षियों और पशुओं को मारता है। यह बात शुक्ल जी-जैसे प्रकृति-प्रेमी को कैसे सह्य हो सकती थी। उन्होंने मानव की भर्त्सना करते हुए कहा—

"कर से कराल निज काननों को काटकर,
शैलों को सपाट कर, सृष्टि को संहार ले।
नाना रूप रंग धरे, जीवन-उमंग-भरे,
जीव जहाँ तक बने मारते, तू मार ले॥
माता धरती की भरी गोद यह सूनी कर,
प्रेत-सा अकेला पाँव अपना पसार ले।

विश्व बीच नर के विकास हेतु नरता ही,
होगी किन्तु अलम् न, मानव विचार ले ॥

प्रकृति-चित्रण के सम्बन्ध में शुक्ल जी का यह दृष्टिकोण था कि प्रकृति के सुन्दर एवं असुन्दर सभी रूपों का चित्रण करने वाला कवि ही सच्चा प्रकृति-प्रेमी है। "जो केवल मुक्ताभास-हिमबिन्दु-मण्डित मरकताभ-शाद्वल-जाल, अत्यन्त विशाल गिरिशिखर से गिरते हुए जल-प्रपात के गम्भीर गर्त्त से उठी हुई सीकर-नीहारिका के बीच विविधवर्णस्फुरण की विशालता, भव्यता और विचित्रता में ही अपने हृदय के लिए कुछ पाते हैं, वे तमाशबीन हैं—सच्चे भावुक या सहृदय नहीं।"

शुक्ल जी द्वारा किये गए विन्ध्य के समीपवर्ती लहलहे खेतों की बसन्त-कालीन सुषमा का सुन्दर वर्णन निम्न लिखित पंक्तियों में किस अनूठेपन के साथ किया गया है—

"भूरी हरी घास आस-पास फूली सरसों है,
पीली-पीली बिन्दियों के चारों ओर है प्रसार ?
कुछ दूर विरल सघन फिर और आगे,
एक रंग मिला चला गया पीत पारावार ॥
गाढ़ी हरी श्यामता की तुङ्ग शशि - रेखा घनी,
बाँधती है दक्षिण की ओर उसे घेर-घार।
जोड़ती है जिसे खुले नीले नभ-मण्डल से,
धुँधली-सी नीली नग-माला उठी धुआँधार ॥"

जहाँ बसन्त के ऐसे नयनाभिराम दृश्य को चित्रित किया है वहीं उसी लगन के साथ उन्होंने ग्रीष्म के भयंकर दृश्य को भी अंकित करने में किसी प्रकार की कमी नहीं की। नीम्ने के उदाहरण में संतप्त ग्रीष्म का कितना सजीव वर्णन है—

"प्रखर प्रणयपूर्ण दृष्टि से प्रभाकर की,
ललक लपटभरी भूमि भभराई है।
पीवर पवन लोट - लोट धूलि - धूसरित,
झपट रहा है बड़ी धूम की बधाई है ॥
सूखे तृण-पत्र लिये कहीं रेणु - चक्र उठा,
घूर्णित प्रमत्त देता नाचता दिखाई है।
झाड़ और झपेट झेल झूमते खड़े हैं पेड़,
मर्मर - मिलित हू हू दे रहा सुनाई है ॥

बढ़ती चली आ रही है मण्डली हमारी,
वही धुन में हो चूर—भरपूर पैर धुनती।
आस-पास चौकड़ी न भरते कहीं हैं पैर,
डोलते न पंख कोई चोंच भी न चुनती॥
उभरे किसी ढेले की छाया में बटोही कीट,
लेता है विराम वहीं लता-जाल बुनती।
सिर को निकाल तरु-कोटर से मैना एक,
चुपचाप आहट हमारी बैठ सुनती॥"

ऐसे प्रकृति-प्रेमी होने के कारण नगरों की अपेक्षा ग्रामों की ओर शुक्ल जी का आकर्षण होना स्वाभाविक ही था। उन्होंने ग्राम-जीवन और ग्रामों के जीते जागते वर्णन किये हैं। गाँव का चित्र वे इन शब्दों में अंकित करते हैं:—

"ग्राम के सीमान्त का सुहावना स्वरूप अब,
भासता है भूमि कुछ और रंग लाती है।
कहीं-कहीं किंचित् हेमाभ हरे खेतों पर,
रह-रह श्वेत शुक आभा लहराती है॥
उमड़ी-सी पीली भूरी हरी द्रुम पुन्ज घटा,
घेरती है दृष्टि दूर दौड़ती ही जाती है।
उसी में विलीन एक ओर धरती हो मानो,
घरों के स्वरूप में उठी-सी दृष्टि आती है॥"

इसी प्रकार नीचे के छन्द में शुक्ल जी ने ग्रामों के पथ का, वहाँ होने वाले क्रिया-कलापों का बड़ा ही विशद एवं पूर्ण चित्र अंकित किया है:—

"गया उसी देवल के पास से है ग्राम-पथ,
श्वेत धारियों में नई घास को विभक्त कर।
थूहरों से सटे हुए पेड़ और झाड़ हरे,
गो-रज से धूम ले जो खड़े हैं किनारे पर॥
उन्हें कई गायें पैर अगले चढ़ाए हुए,
कंठ को उठाए चुपचाप ही रही हैं चर।
जा रही हैं घाट-ओर ग्राम-वनिताएँ कई,
लौटती हैं कई एक घट औ' कलश भर॥"

इस प्रकार शुक्ल जी द्वारा रचित सम्पूर्ण काव्य-सामग्री पर जब हम विचार करते हैं तब हम देखते हैं कि 'बुद्ध-चरित' के अतिरिक्त उनकी

बीस के लगभग छोटी-छोटी कविताएँ तथा 'हृदय का मधुर भार' शीर्षक एक पद्य-निबन्ध प्राप्त होता है। इनमें से अधिकांश कविताएँ, जिनमें देश-प्रेम एवं जातीय भावों की अभिव्यक्ति हुई है, साधारण स्तर की कविताएँ हैं। प्रकृति-सम्बन्धी कविताएँ ही विशेष महत्त्व की हैं। इसमें सन्देह नहीं कि उनकी प्रकृति-सम्बन्धी कविताओं को पढ़कर प्रत्येक पाठक को यह निश्चय हो जाता है कि यदि शुक्ल जी अध्यापक न होकर किसी और दिशा में गए होते तो वे आलोचक की अपेक्षा कवि के रूप में अधिक सफल हुए होते।

शुक्ल जी के काव्य के सम्बन्ध में एक और बात ध्यान रखने योग्य है। उनके जीवन-काल में ही छायावादी युग आ चुका था। किन्तु उन्होंने उस ओर अपनी विशेष रुचि नहीं दिखाई। उनके द्वारा लिखी गई कविताएँ प्रायः दण्डक, रोला या सवैया छन्दों में लिखी गई हैं। गीत छन्द से मिलता-जुलता छन्द उन्होंने लिखा अवश्य है, किन्तु छायावादी कवियों के समान गीत उन्होंने नहीं लिखे। उन्होंने ब्रज भाषा एवं खड़ी बोली दोनों में सफलता पूर्वक रचना की और उनमें नवीनता लाने का भी यत्न किया।

अन्त में हम शुक्ल जी के एक शिष्य डॉ० केसरीनारायण शुक्ल के शब्दों को उद्धृत करके लेख को समाप्त करते हैं:—

"शुक्ल जी के साहित्यिक जीवन की विचार-धारा का मूल स्रोत उनकी कविता में उमड़ता है। उनकी कविता में उनके जीवन की झलक पाई जाती है। उनमें उनकी आन्तरिक भावना के दर्शन होते हैं। उनकी समालोचना के आदर्श की कुञ्जी भी उनकी कविता में धरी है। उनकी कविता उनके जीवन, व्यक्तित्व और विचार का मन्त्र है। उनकी कविता के भाव आगे चलकर विविध क्षेत्रों में नाना रूप से पुष्ट हुए हैं। उनकी कविता उनके हृदय का सच्चा उद्गार है। फिर भी शुक्ल जी ने अपनी कविताओं को हृदय का उद्गार न कहकर 'हृदय का मधु भार' कहा है; क्योंकि इनके सहारे वे 'संसार के इन रूखे रूपों के कड़वेपन की झार' सहते चल रहे हैं। वे जानते हैं कि इन्हें कविताओं के बीच 'प्रथम उमड़ी थी जीवन की यह धार' इसीलिए वे समझते हैं कि:—

'लगी रहेगी ताक झाँक यह सब दिन इसी प्रकार'।"

१६. शुक्लजी का कृतित्व

श्री शान्तिप्रिय द्विवेदी

(१) अञ्जलि

आचार्य पण्डित रामचन्द्र शुक्ल नश्वर शरीर छोड़कर अब अनन्त पथ के यात्री हैं; किन्तु क्षर शरीर द्वारा साहित्य को जो अक्षर दे गए हैं उसमें आज भी वे हमारे बीच हैं।

अध्यापक के पद से उनके सार्वजनिक जीवन का आरम्भ हुआ था, अध्यापक के पद से ही उनके साहित्यिक जीवन का कीर्त्ति-प्रसार हुआ, और वही उनका चिर-विश्राम भी बना। अपने आरम्भिक जीवन में मिर्जापुर के मिशन-हाईस्कूल में वे ड्राइङ्ग-मास्टर थे। और आगे चलकर जब वे हिन्दू-यूनिवर्सिटी के प्रमुख हिन्दी-साहित्याध्यापक अथवा साहित्य के आचार्य-पद पर गौरवासीन हुए तब भी वे हमें ड्राइङ्ग की ही शिक्षा देते थे। पहले जो ड्राइङ्ग पेन्सिल की कुछ रेखाओं में सीमित थी वह बाद में उनकी लेखनी की पुष्ट पंक्तियों द्वारा सहित्य के विशद क्षेत्र में चली गई।

शुक्लजी तन्त्रविद् और रासायनिक साहित्यकार थे। उनके साहित्यिक व्यक्तित्व के अनेक अङ्ग हैं—(१) निबन्ध-लेखक, (२) समीक्षक, (३) अनुवादक, (४) कोषकार तथा (५) कवि। किन्तु उनकी लोकप्रियता समीक्षक के रूप में ही अधिक है। कविता और कहानी उनके साहित्यिक व्यक्तित्व के आंशिक रूप हैं, किन्तु हम तो यह कहेंगे कि कविता ही उनकी आत्मा थी, समीक्षा और निबन्ध-साहित्य उनका ठोस शरीर था। उनके भीतर जो रसात्मकता थी उसीने उनके गम्भीर गद्य-साहित्य में सुदृढ़ कलश प्राप्त किया।

शुक्लजी मूलतः कवि थे। द्विवेदी युग में उन्होंने एकाध कहानी भी लिखी है, यह वह समय था जब हिन्दी में मौलिक कहानियों का ढाँचा तैयार किया जा रहा था। उन्होंने बड़ी ही प्रेमल रुचि पाई थी। किसी बिछुड़े हुए की स्मृति उन्हें बड़ी प्यारी लगती थी। कथा-साहित्य के प्रसङ्ग में उन्होंने एक स्थान पर लिखा है—"हम कोई ऐसी कहानी या उपन्यास देखने को उत्सुक हैं जिसमें किसी

पूर्व-परिचित वृक्ष या जीव-जन्तु को भी स्मरण किया गया हो।" उनकी यह भावुकता ठेठ भारतीय संस्कारों में पली थी, गँवई-गाँव की वन्य प्रकृति की तरह, जिसमें भावुकता स्वाभाविकता बन गई है। खपरैलों पर छाई लताओं की तरह ही उनकी स्वाभाविकता भी उनके विवेचना-साहित्य में एक ग्रामीण-भारतीयता पा गई है।

शुक्लजी वन्य प्रकृति के अनुरागी थे। जहाँ कहीं रहते थे, ग्रामीण शोभा-श्री का वातावरण बना लेते थे। उद्यानों के बीच में 'पैलेस' नहीं हरियाली के बीच भवन बनाकर रहते थे। इस प्रकार के प्रकृति-जीवन में आधुनिकता उन्हें उतना ही स्पर्श कर पाई थी जितना भवन-निर्माण में स्थापत्य के उपकरणों का संयोग। यही बात उनके साहित्य के लिए भी कही जा सकती है।

द्विवेदी-युग ने साहित्य की विभिन्न दिशाओं में विविध प्रतिनिधि दिये हैं—उपन्यासों में प्रेमचन्द, नाटकों में जयशङ्कर प्रसाद, कविताओं में मैथिलीशरण, आलोचना में स्वयं शुक्ल जी। जिस प्रकार द्विवेदी-युग के ये साहित्यिक अपनी नवोन्मेषिनी प्रतिभा के कारण नये युग में भी समादृत हुए उसी प्रकार शुक्लजी भी।

द्विवेदी-युग का काव्य-साहित्य उन्नति करता हुआ अपने चरम उत्कर्ष (छायावाद) पर पहुँचा। किन्तु जिस गति से उस युग के काव्य-साहित्य ने उन्नति की, उस गति से गद्य-साहित्य ने नहीं की। यद्यपि काव्य की तरह गद्य-साहित्य के भी कुछ प्रतिनिधि-लेखकों के नाम हमारे सामने हैं, किन्तु वे बहुत-कुछ पुराने ढर्रे के हैं, उनमें वार्द्धक्य है, यौवन नहीं। यद्यपि कविगुरु रवीन्द्रनाथ की भाँति चिरनूतन साहित्य की आशा सभी से नहीं की जा सकती तथापि साहित्य की नई सीमाओं से दुराव रखना किसी विकासशील साहित्यिक के लिए गौरव की बात नहीं हो सकती। द्विवेदी-युग के प्रायः सभी साहित्यिक, साहित्य की नई सीमाओं के प्रति सहानुभूतिपूर्ण नहीं थे, वे एक विशेष युग की परिधि में रूढ़ियों की तरह बँध गए थे। शुक्लजी भी उसी समाज के साहित्यिक थे, किन्तु उनके भीतर जो एक सहृदय कवि बैठा हुआ था, उसमें सङ्कोच तो था किन्तु सङ्कीर्णता नहीं थी। हाँ किसी नये व्यक्ति से सम्पर्क होने पर उससे जो परिचय-हीनता की दूरी होती है, वही नये साहित्य के प्रति शुक्ल जी के मन में भी थी। कभी-कभी वे उससे घबराते भी थे, किन्तु उसके निकट परिचय में आ जाने पर उसकी विशेषताओं का समर्थन भी करते थे, साथ ही बुजुर्ग की तरह अपनी अरुचियों को भी प्रकट कर देते थे। वे अनुदार नहीं थे, किन्तु उनकी उदारता एक निजी मर्यादा में बँधी हुई थी। वह मर्यादा आँख मूँदकर न तो प्राचीन की अभ्यर्थना करती थी और न नवीनों की

अवहेलना। उनमें एक सजग अन्वीक्षण था। इसी कारण वे प्राचीन और नवीन दोनों ही साहित्यों की आलोचना कर सके। यह जरूर है कि जिस प्रकार उन्होंने देर-सबेर नवीन काव्य-साहित्य का निरीक्षण किया उसी प्रकार नवीन गद्य-साहित्य का नहीं। किन्तु जिस प्रचुर परिमाण में नवीन काव्य-साहित्य आ चुका है, उस परिमाण में अभी नवीन गद्य-साहित्य नहीं आ सका है। छायावाद की कविता का आरम्भ तो द्विवेदी-युग में ही हो गया था किन्तु नवीन गद्य-साहित्य का निर्माण अब हो रहा है। यदि आचार्य जी हमारे सौभाग्य से कुछ वर्षों और जीवित रहते तो नवीन गद्य-साहित्य को भी अपना स्नेह-संरक्षण दे जाते।

शुक्ल जी हमारे साहित्य के चार युग देख गए हैं—भारतेन्दु-युग, द्विवेदी-युग, छायावाद-युग और प्रारम्भिक प्रगतिशील-युग। स्वयं वे मध्ययुग के सामाजिक व्यक्ति थे, किन्तु वाणी के चैतन्य पुजारी थे। वाणी की पूजा में नवीन उपकरणों का चयन करने में वे बेसुध नहीं थे, हाँ नये उपकरणों का सङ्कलन वे बहुत सोच-समझ-कर करते थे। इसमें विलम्ब अवश्य होता था, किन्तु उनका काम 'देर आयद दुरुस्त आयद' होता था। अपने धीर-गम्भीर पदों से वे छायावाद-युग तक बढ़ आए थे।

अपने हिन्दी-साहित्य का इतिहास' के नये संस्करण के बाद ही वे लोकान्तर को चले गए हैं। यद्यपि वे नये संस्करण को कुछ और परिवर्तित-परिवर्द्धित करना चाहते थे, तथापि हम तो यही कहेंगे कि अपनी ओर से वे साहित्य के इतिहास को जहाँ तक छोड़ गए हैं, वह उनकी रुचि के अनुरूप है।

यूनिवर्सिटियों में हिन्दी-साहित्य का स्टैण्डर्ड बनाने में दो व्यक्तियों का प्रमुख हाथ है—एक श्रद्धेय बाबू श्यामसुन्दरदास का, दूसरे स्वयं शुक्ल जी का। बाबू साहब ने हिन्दी के लिए जो क्षेत्र तैयार किया शुक्ल जी ने उसमें साहित्य-सिञ्चन किया।

प्रायः शुक्लजी के शिष्य-प्रशिष्य ही हाईस्कूलों, कालेजों और यूनिवर्सिटियों में हिन्दी-साहित्य का अध्यापन कर रहे हैं। शुक्लजी के ही समीक्षा-साहित्य को माप-दण्ड मानकर वे उनके साहित्यिक उद्योगों को सुलभ कर रहे हैं। हम आशा करते हैं कि उनके अनुयायियों की यह गुरु-भक्ति केवल रूढ़िगत न होकर उनकी वह मानसिक विस्तीर्णता भी प्राप्त करेगी, जिसके कारण शुक्लजी प्राचीन और नवीन, दोनों ही युगों के साहित्य-आचार्य थे।

(२) पूर्वपीठिका

हिन्दी में नियमित समालोचना इसी सदी के प्रारम्भ का श्रीगणेश है। इससे पूर्व भारतेन्दु-युग में कविता के बाद गद्य का निर्माण-कार्य शुरू हो गया था। तब गद्य-साहित्य नवीन अंकुर-मात्र था। साहित्य में कविता ही एकच्छत्र थी। ब्रजभाषा

का बोल-बाला था। ब्रजभाषा में प्रचुर काव्य-साहित्य होते हुए भी उसकी समालोचना-प्रत्यालोचना नहीं होती थी। तब न इतनी पत्र-पत्रिकाएँ थीं और न इतना जगा हुआ देश था। हमारे जीवन की सभी दिशाओं में मुस्लिम सल्तनत का दरबारी वातावरण था। भारतेन्दु-युग तक मानो उस युग के सितार की झंकार अपनी अन्तिम प्रतिध्वनि ले रही थी। गार्हस्थिक जीवन में नैतिक पुरुष हमारे आदर्श होते हुए भी सार्वजनिक जीवन में शासक लोग ही हमारे आदर्श थे। अतएव उनके जीवन का जो रवैया था वही हमारे काव्य-साहित्य में भी चल रहा था। भक्त कवियों का साहित्य हमारे घरों में भजन-पूजन बना हुआ था, श्रृङ्गारिक कवियों का साहित्य हमारा आहार-विहार। किसी साहित्यिक दृष्टिकोण से नहीं, बल्कि लौकिक और पारलौकिक सुविधाओं की दृष्टि से श्रृङ्गारिक और आध्यात्मिक साहित्य अङ्गीकृत होते रहे। दैनिक जीवन (लौकिक जीवन) श्रृङ्गार रस में ही बहता रहा। उस समय कवियों के अखण्ड समाज जुड़ते थे, फौव्वारे की तरह उनकी वाग्धारा छूटती थी। होली में पिचकारी छोड़ने-जैसी प्रतिद्वन्द्विता चलती थी। कवि एक दूसरे के सामने बड़े दम-खम से उपस्थित होते थे। यह था उस युग का साहित्य। और उस साहित्य का माप-दण्ड था अलङ्कार शास्त्र—वह मानो श्रृङ्गारिक मनोविनोदों के लिए 'चार्ट' का काम करता था। आभूषणों की पहचान से ही जिस तरह नारी के अवयवों की पहचान होती थी, उसी तरह अलङ्कारों द्वारा कविता की। फलतः उस समय के काव्य-साहित्य में बाहरी कारीगरी खूब हुई। कवि स्वर्णकार बन गए; रीति-शास्त्री पारखी (जौहरी) बन गए। उस समय का काव्य-साहित्य आत्मा के भीतर से नहीं, शरीर के माध्यम से आया था। आत्मा का साहित्य (भक्ति-काव्य) परमात्मा को नैवेद्य देने के लिए ठाकुर जी के मन्दिरों में पड़ा हुआ था। सार्वजनिक जीवन में वह कभी-कभी आरती की तरह घूम जाता था।

यह थी हिन्दी-काव्य की स्थिति। दूसरी तरफ संस्कृत और उर्दू के काव्य-साहित्य भी अपने-अपने ढङ्ग से चल रहे थे। हिन्दी-काव्य अंशतः इन्हीं दोनों का मध्यवर्ती था। श्रृङ्गारिक अभिव्यक्तियों की प्रेरणा उसने उर्दू से ली, जैसे जीवन की प्रेरणा मुस्लिम सल्तनत से; और कविताओं की निरख-परख की कसौटी संस्कृत से ली; उसके आधार पर अलंकार-शास्त्र बनाया; यह मानो मुस्लिम आत्मा लेकर उस पर हिन्दू रङ्ग चढ़ा दिया गया। इस प्रकार हम सिर्फ अपने बाह्य-निर्माण में लगे हुए थे। किन्तु एक ओर हिन्दी के श्रृङ्गारिक कवियों ने मुख्यतः उर्दू की रसिकता से सहयोग किया तो दूसरी ओर कुछ मुस्लिम आत्माओं ने हिन्दी के भक्ति-काव्य से। इन्हें हम सूफी कवि कहते हैं। श्रृङ्गारिक रचनाएँ उनके यहाँ पर्याप्त थीं अतएव इस

कोटि की हिन्दी-रचनाओं में उन्हें कोई विशेष नवीन आदान की अपेक्षा नहीं जान पड़ी। हाँ, जिस प्रकार शृंगारिक कवियों ने संस्कृत काव्य-शास्त्र का विन्यास लिया, उसी प्रकार हिन्दी में आने वाले सूफी कवियों ने शृंगारिक कवियों से उनका शारीरिक रूपक।

मध्य युग को पार करके, भारतेन्दु-युग को बीच में छोड़कर हम द्विवेदी युग में पहुँचते हैं। मुस्लिम शासन बदल चुका था, अंग्रेजी शासन उत्तराधिकारी हो चुका था। उर्दू की प्रधानता का स्थान अंग्रेजी लेने लगी थी। घरेलू जीवन में अपनी-अपनी जातीय परिधि में रहते हुए भी सार्वजनिक जीवन में हम अंग्रेजी वातावरण में आने लगे थे। तब तक हमारे साहित्य और जीवन की नवीन दिशा स्पष्ट होने लगी थी। किन्तु मध्य युग के इतिहास का एक दीर्घकालीन प्रभाव हमारे मन, स्वभाव और रुचि में बना हुआ था। एक शब्द में, हमारे संस्कार मध्यकालीन (मुस्लिमकालीन) बने हुए थे। फलतः हमारे जीवन और साहित्यिक चिन्तन का रुख-मुख उसी ओर था। नये शासन में हम काव्य से गद्य में भी आ गए। बस पिछले दायरे से हम केवल भाषा की नवीनता तक ही पहुँचे। एक ओर गद्य का निर्माण, दूसरी ओर पिछले काव्यों का स्पष्टीकरण—यही हमारी समालोचना का साहित्यिक विषय रहा।

नई भाषा (गद्य की भाषा) के निर्माण का वाद-विवाद भारतेन्दु युग में ही चल पड़ा था, पिछले काव्यों का विश्लेषण द्विवेदी-युग में शुरू हुआ। खड़ी बोली की कविता तब जन्म ले रही थी, उसकी कला-विवेचना का समय नहीं आ पाया था। क्या गद्य, क्या काव्य, दोनों के ही लिए भाषा-सम्बन्धी विवाद ही प्रधान बना हुआ था। फलतः कला की विवेचना की दृष्टि से ब्रज भाषा का प्राप्त साहित्य ही हमारी आलोचना-प्रत्यालोचना का विषय बन गया।

इस युग के आलोचकों में लाला भगवानदीन, मिश्रबन्धु और पण्डित पद्म-सिंह शर्मा प्रमुख हैं। जैसा कि पहले कहा है; हमारे संस्कार मध्यकालीन (मुस्लिम-कालीन) बने हुए थे; फलतः काव्य हमारे लिए मनोरंजन की कला था, वाणी-विनोद था। द्विवेदी-युग में खड़ी बोली के उत्कर्ष के पूर्व वह इसी अर्थ में अङ्गीकृत था। अतएव, समालोचना के नाम पर जो काव्य-सम्बन्धी विवाद हुए वे भी साहित्य में में 'डिबेटिङ्ग क्लबों' का मनोरंजन ही सुलभ कर रहे थे। ब्रजभाषा की शृङ्गारिक रचनाओं को लेकर ही ये साहित्यिक डिबेट चल रहे थे और जिस प्रकार उस युग के कवियों में एक काव्य-प्रतियोगिता चल रही थी, उसी प्रकार उनके अर्वाचीन हिमायतियों में रीझ-बूझ की प्रतिद्वन्द्विता चल पड़ी—यह थी हमारे साहित्य की तुलनात्मक समालोचना!

उन आलोचकों में मिश्रबन्धुओं ने एक कदम आगे बढ़ाया—उन्होंने कवियों का परिचय ('हिन्दी-नवरत्न') और साहित्य का इतिहास ('मिश्रबन्धु विनोद') उपस्थित किया। इस दिशा में त्रुटियों के होते हुए भी यह पहला व्यवस्थित प्रयत्न था, जिसका परिष्करण और गम्भीर प्रणयन उत्तरोत्तर भविष्य का कार्य था।

वे विवादात्मक और तुलनात्मक समालोचनाएँ आज के साहित्य में कोई गम्भीर स्थान भले ही न रखती हों, किन्तु उनका भी एक विशेष साहित्यिक महत्त्व है। उन्होंने गद्य की भाषा को कलात्मक बनाने में अच्छा सहयोग दिया है। इस कोटि के आलोचकों में पद्मसिंह शर्मा गण्यमान्य हैं।

एक ओर काव्य-सम्बन्धी विवादों में हिन्दी-गद्य कलात्मक बन रहा था, दूसरी ओर भाषा-सम्बन्धी विवादों में गम्भीरता भी प्राप्त कर रहा था। भाषा-सम्बन्धी विवादों में स्वयं अपने युग के निर्माता आचार्य पण्डित महावीरप्रसाद द्विवेदी भी सम्मिलित थे। इस दिशा के अन्य महारथियों में पण्डित गोविन्दनारायण मिश्र और बाबू बालमुकुन्द गुप्त उल्लेखनीय हैं।

यह सब-कुछ एक तरह से गद्य की भाषा का निर्माण-काल था, गद्य के इसी निर्माण-काल में खड़ी बोली की कविता अंकुरित हो रही थी। द्विवेदी जी ब्रजभाषा के काव्य-सम्बन्धी विवादों में न पड़कर केवल भाषा-सम्बंधी विवादों में जो भाग ले रहे थे उसी का यह परिणाम था कि गद्य के साथ ही वे खड़ी बोली के काव्य की भाषा के निर्माण में भी लग गए थे। एक ओर ब्रजभाषा से वे विमुख हो चुके थे, दूसरी ओर खड़ी बोली के काव्य के लिए अपने साहित्य में कोई आदर्श नहीं पा रहे थे। फलतः जिस संस्कृति के कलादर्श पर ब्रजभाषा की कविता का बानक बना था, उन्होंने उसी संस्कृत के काव्यों के गुण-दोष-विवेचन का कार्य प्रारम्भ किया। 'कालि-दास की निरंकुशता' खड़ी बोली के काव्य के लिए उनकी आदर्श-प्रियता की सूचक है। 'नैषध-चरित-चर्चा' और 'कुमार सम्भव-सार' सत्काव्यों के आदर्श के रूप में उनके प्रीतिभाजन हुए। किंतु खड़ी बोली की कविता संस्कृत-साहित्य से सांस्कृतिक आदान तो ले रही थी, साथ ही उसे एक विपुल आदान अपने वर्त्तमान काल से भी मिल रहा था। राष्ट्रीय जागृति ने उस नई काव्य-भाषा (खड़ी बोली) को नया जीवन दे दिया। गुप्तजी की 'भारत-भारती' क्या निकली, खड़ी बोली की प्राण-प्रतिष्ठा हो गई। इसके बाद ज्यों-ज्यों राष्ट्रीय जागृति ने हमारे जीवन की सीमा का विस्तार किया त्यों-त्यों साहित्य में आदान के अन्य माध्यमों से भी हम परिचित होते गए, संस्कृत के बाद बँगला से, बँगला के बाद अंग्रेजी से भी आदान लेने लगे। आज

उस युग की खड़ी बोली की कविता छायावाद के रूप में अपने क्लाइमेक्स पर पहुँच चुकी है ।

किंतु हम फिर पीछे मुड़ें । शुक्ल जी द्विवेदी-युग में ही लेखक के रूप में प्रकाशित हुए । उनका साथ मुख्यतः भारतेन्दुकालीन साहित्यिकों से था ; किंतु उनके साहित्यिक संस्कार न तो भारतेन्दुकालीन थे, न द्विवेदीकालीन, न मुस्लिम कालीन । वे पूर्णतः अतीतकालीन आर्य व्यक्ति थे । सामाजिक, साहित्यिक और राजनीतिक हलचलों से अलग वे एक निजी मनोजगत् में अपना साहित्यिक पथ सन्धान कर रहे थे । सामयिक हलचलों को उन्होंने अपने सम्पूर्ण जीवन में भी महत्त्व नहीं दिया। वे जैसे उनके लिए अस्तित्व-हीन हों । साहित्य पर सामयिक हलचलों का जो प्रभाव पड़ता था वे विचार के लिए उसे अपने सामने रखते तो थे किंतु उसका विवेचन वे प्राचीन व्यवस्था के अनुसार करते थे । ऐसे प्रसङ्गों में वे मुख्यतः साहित्य के कला पक्ष को अपनी स्वीकृति या अस्वीकृति देते थे ।

तो, द्विवेदी-युग में जब भाषा और काव्य-सम्बंधी विवाद चल रहा था उस समय भी शुक्ल जी तटस्थ थे; उस समय मानसिक व्यापारों को लेकर मनोवैज्ञानिक लेख लिखते थे; क्रोध, लोभ, क्षमा इत्यादि उसी समय के लेख हैं । इस दिशा में वे अंग्रेजी के उन लेखकों के साथ थे जो आरम्भिक मनःशास्त्री थे । किंतु आगे चलकर शुक्ल जी के साहित्यिक कदम भी उठे ; उन्होंने साहित्यिक विचार भी दिए । असल में शुक्ल जी की प्रवृत्ति यह रही है कि वे तटस्थ रहकर किसी निर्माण-कार्य को देखते थे । और जब वह अपने में पूर्ण हो जाता था तब उसके मूल्य को आँकते थे, इमारत बन जाने पर उसकी नींव देखते थे । जिस समय वे मनोवैज्ञानिक लेख लिख रहे थे उस समय हमारा साहित्य अपने निर्माण में लगा हुआ था, अतएव उसमें उन्हें कुछ देखने-दिखाने की शीघ्रता नहीं थी । फलतः सामयिक प्रसङ्गों से अलग मनुष्य के चिरन्तन मानसिक व्यापारों के विश्लेषण में ही उन्होंने मनोयोग दिया । जैसे उन्होंने अपने मनोवैज्ञानिक लेखों में शरीर-शास्त्र न देकर मनःशास्त्र दिया, उसी प्रकार साहित्यिक लेखों में रस-शास्त्र दिया । साथ ही जैसे उनकी आत्मा के संस्कार एक विशेष संस्कृति के दायरे में आर्ष हैं, वैसे ही कला के संस्कार भी एक विशेष युग की साहित्यिक रुचि में मर्यादाबद्ध हैं । और हम देखते हैं कि संस्कारों और रुचियों के निजी सीमा-बन्धन के बाहर शुक्ल जी को अन्य प्रयत्न प्रारम्भ में असन्तोष-जनक जान पड़े हैं, बाद में उन नये प्रयत्नों के स्थान लेने पर, निर्माण-कार्य हो जाने पर, शुक्ल जी को अपने ढङ्ग से उनका भी समर्थन करना पड़ा है कुछ अन्सतोष के

साथ; यथा, छायावाद का। आगे चलकर यही बात समाजवाद के बारे में भी होती।

जैसा कि पहले कहा है, शुक्ल जी के ऐतिहासिक संस्कार न तो भारतेन्दु-युग के थे, न द्विवेदी-युग के, न मुस्लिम काल के, उनके संस्कार आर्यावर्त्त के संस्कार थे। आस्तिक गृहस्थों की भाँति उनकी रुचि भक्ति-काव्य की ओर थी, भक्ति-काव्य में भी राम-काव्य की ओर। जब कि ब्रज भाषा के काव्य-विवादों में आने वाले महानुभाव मुस्लिम-काल के संस्कारों के रसिक थे, शुक्ल जी ने हिन्दू-जीवन के आधार-स्वरूप भक्ति-काव्यों का मर्मोद्घाटन किया। समालोचना और साहित्यिक इतिहास के क्षेत्र में शुक्ल जी के आगमन से साहित्यिक विचारों में गम्भीरता का आरम्भ होता है। उनके पूर्व की समालोचनाएँ नदी की उथली सतह से क्रीड़ा कल्लोल-जैसी हैं। वे समालोचना न होकर काव्य के बजाय गद्य में वाग्विनोद-मात्र हैं, जब कि शुक्लजी ने उसे विचार-विमर्ष बना दिया। शुक्ल जी ने ही साहित्य की अतल गम्भीरता से परिचित कराया। तुलनात्मक समालोचना के नाम पर चलने वाले वादविवादियों को छोड़कर शुक्ल जी ने मध्य युग के स्वस्थ साहित्यिक विकासों का दिग्दर्शन कराया। और जैसा कि कहा गया है, उनकी रुचि भक्ति-काव्य की ओर थी, उन्होंने हमारे सामने सूर, तुलसी और जायसी को विशेष रूप से उपस्थित किया।

काव्यालोचन ही शुक्ल जी का प्रमुख कार्य रहा; स्वभावतः काव्य-प्रेमी होने के कारण उनका मन इसी में अधिक रमा।

हिन्दी में आधुनिक समालोचना-शैली के जन्मदाता शुक्ल जी हैं। वे हमारे वर्तमान समीक्षा-साहित्य के आदिगुरु हैं। उन्होंने द्विवेदी-युग से आगे बढ़कर संस्कृत काव्य-शास्त्र को अंग्रेजी से मिला दिया। अंग्रेजी से सहयोग करने में अपनी मर्यादा में वे उतने ही आर्ष हैं जितने संस्कृत के सान्निध्य में। संस्कृत को शब्दकोष बनाकर उन्होंने अंग्रेजी के समीक्षात्मक शब्दों का परिचय दिया, मानो वायुयान का बोध पुष्पक-विमान से कराया। इस दिशा में, समालोचक ही न रहकर वे शब्दोद्भावक भी हुए। साहित्य के नए सिद्धान्तों और नए शब्दों को अपने ढङ्ग से व्यवस्थित रूप देकर वे आचार्य हो गए हैं। खेद है कि उनके बाद अंग्रेजी समालोचना-शैली तो निरन्तर चली आ रही है, किंतु व्यवस्थापना नहीं हो रही है। पिछले समालोचकों के बजाय शुक्ल जी उसी प्रकार नवीन हैं, जिस प्रकार ब्रजभाषा के बजाय खड़ी बोली। एक ही भाषा (हिन्दी) जिस प्रकार अपना मूल अस्तित्व बनाए हुए खड़ी बोली में पुनर्जीवित हो गई, उसी प्रकार संस्कृत की समालोचना-

शैली शुक्लजी द्वारा नवजीवन पा गई। समालोचना के माध्यम से शब्दों और विचारों के व्यवस्थापन में उन्होंने हमें अपना जो आचार्यत्व दिया है, सम्प्रति हम उससे वञ्चित हैं। एक गृहस्थ के जीवन में जो गुरु-गम्भीर उत्तरदायित्व होता है वही उत्तरदायित्व शुक्ल जी के कृतित्व में है। उसमें साद्यन्त एक सुगठित व्यक्तित्व है।

मध्ययुग की किसी जमी हुई गृहस्थी-जैसा एक प्राचीन अभिजात्य शुक्ल जी के साहित्य में है, जब कि आज का विकराल युग सब-कुछ तोड़-फोड़कर नये ऐतिहासिक जीवन के स्वप्नों में सङ्घर्ष-व्यस्त है। आशा है, इस विक्रांत युग को पार करके किसी निकट भविष्य में हम जीवन और साहित्य के व्यवस्थापन में गम्भीर उत्तरदायित्व का नवीन परिचय देंगे।

अस्तु, यहाँ अब शुक्लजी की कुछ साहित्यिक स्थापनाओं और उनकी समीक्षा-प्रणाली पर भी दृष्टिपात कर लेना चाहिए।

(३) काव्य में प्रकृति

शुक्ल जी प्रकृति-चित्रण में यथातथ्यता चाहते हैं। किंतु छायावाद का कवि प्रकृति को भी एक व्यक्तित्व देकर देखता है, केवल प्राकृतिक अवयव देकर नहीं। वह प्रकृति का संज्ञापन करता है। यथातथ्य रूप में तो प्रकृति एक मनुष्य के लिए एक आवेष्टन या फ्रेम-मात्र रह जाती है, जीवन से अभिन्न नहीं। संश्लिष्ट रूप में प्रकृति क्षेपक हो जाती है, जीवन से एकात्मक नहीं। इस रूप में तो प्रकृति का अपना अस्तित्व वैसे ही गौण हो जाता है जैसे पुरुष के सम्मुख नारी का व्यक्तित्व। शुक्लजी संश्लिष्ट चित्रण के रूप में बाह्य समता देकर प्रकृति और मनुष्य में आंतरिक विषमता बनाये रह जाते हैं उनके प्रकृति-चित्रण में प्रकृति उपसर्ग-मात्र रह जाती है—एक स्पन्दन, शून्य अवदान। शुक्लजी प्रकृति को रेखाबद्ध करते हैं—'गाढ़ी हरी श्यामता की तंग राशि रेखा घनी—किंतु छायावाद का कवि रेखाओं से अधिक महत्त्व स्पन्दन को देता है।

प्रकृति के चित्रण में शुक्ल जी उसके नाना रूपों की अभिव्यक्ति चाहते हैं -- कोमलता से लेकर प्रखरता तक (ताकि उसके साथ सभी मानव-व्यापारों का सामञ्जस्य हो जाय)। अतएव, काव्य में प्रकृति की सुकुमार अभिव्यक्ति से वे सन्तुष्ट नहीं। एक लेखमें कहते हैं—'जो केवल प्रफुल्ल प्रसून-प्रसार के सौरभ-सञ्चार, मकरन्द-लोलुप मधुप-गुञ्जार, कोकिल-कूजित निकुञ्ज और शीतल सुखस्पर्श-समीर इत्यादि की ही चर्चा किया करते हैं, वे विषयी या भोगलिप्सु हैं। इसी प्रकार मुक्ताभास हिमविंदुमण्डित मरकताभ शाद्वलजाल, अत्यन्त विशाल गिरि-शिखर से गिरते हुए जल-प्रपात के गम्भीर गर्त्त से उठी हुई सीकर-नीहारिका के बीच विविध

वर्णस्फुरण की विशालता, भव्यता और विचित्रता में ही अपने हृदय के लिए कुछ पाते हैं वे तमाशबीन हैं, सच्चे भावुक या सहृदय नहीं।'—यह आलङ्कारिक वाक्यावली स्वयं शुक्ल जी के गद्य-काव्य का एक अच्छा नमूना है। किंतु उनका आरोप छायावाद के कवियों के बजाय ब्रजभाषा के कवियों के लिए अधिक ठीक हो सकता है जिन्होंने मधुचर्या के लिए प्रकृति के कोमल उद्दीपनों को लिया। ब्रजभाषा की शृङ्गारिक परम्परा के भीतर से आये हुए भारतेन्दु-युग के प्रतीक किन्हीं छायावादी कवियों में (यथा, 'प्रसाद' में) भी प्रकृति का यह उपयोग देखा जा सकता है; किन्तु द्विवेदी युग के बाद आये हुए अंग्रेजी के 'रोमैंटिक रिवाइवल' के प्रतीक छायावादी कवियों ने काव्य में प्रकृति को उसी कमनीय व्यक्तित्व का विकास दिया है जो समाज में अवरुद्ध है। हमारा अभिप्राय नारी-व्यक्तित्व से है। उत्तरकालीन छायावादी कवियों ने (मुख्यतः पन्त और महादेवी ने) नारी-व्यक्तित्व को प्रकृति में प्रतिष्ठापित किया है—'देवि, मा, सहचरि प्राण' की संज्ञा देकर। इस प्रकार भावात्मक होते हुए भी प्रकृति संश्लिष्ट न रहकर सामाजिक हो गई है।

शुक्ल जी के प्रकृति-अनुराग में 'प्रकृति' नहीं, 'पुरुष' है; सीता नहीं, राम हैं—'गोदावरी या मन्दाकिनी के किनारे बैठे हुए।' प्रकृति के उस कक्ष में क्या राम ही हैं, सीता नहीं? लोकसंग्रह का जो सबसे बड़ा माध्यम (सीता) है वह राम के व्यक्तित्व के सम्मुख वैसे ही लुप्त है जैसे पुरुष के सम्मुख प्रकृति।

शुक्ल जी के संश्लिष्ट चित्रण में प्रकृति रङ्गमञ्च की पार्श्ववर्ती दृश्यपटी बन गई है। उनके लिए प्रकृति 'नेचर' है, नेचरल्टी को धारण किये हुए स्वयं व्यक्तित्व नहीं। प्रकृति से उनका सामाजिक सम्बन्ध उद्यान-सेवन का जान पड़ता है।

प्रकृति में नारी के प्रतिष्ठाता कवियों ने प्रकृति को जिस रूप में लिया उस रूप में वह 'नेचर' नहीं, 'प्रकृति' है—एक मधुरा अभिव्यक्ति। काव्य में प्रकृति की यह अभिव्यक्ति पुरुष के बजाय नारी के व्यक्तित्व पर उनके विश्वास की सूचक है। प्रकारान्तर से पुरुष-सभ्यता के प्रति यह उनका रसात्मक प्रतिरोध भी कहा जा सकता है।

शुक्ल जी की तरह प्रकृति और जीवन को 'नेचर' के रूप में न लेने के कारण उन्होंने 'प्रचण्डता और उग्रता' में भी 'सौन्दर्य' नहीं देखा। प्रचण्डता और उग्रता को तदनुरूप ही चित्रित किया। प्रचण्डता को ब्राह्मणत्व के योग से 'सौंदर्य' बना देने पर उसमें विश्वामित्र और परशुराम का व्यक्तित्व आ सकता है, वशिष्ठ (विशिष्ट) का नहीं। ब्राह्मणत्व के योग से सौंदर्य पा जाने पर भी प्रचण्डता और उग्रता में असुन्दरता बनी रह जाती है। छायावाद का कवि सौंदर्य का विशिष्टीकरण

करता है। छायावाद-रहस्यवाद का प्रकृति-चित्रण सांख्य के अनुकूल है। सांख्य के अनुसार—'आत्मा अपने सीमित रूप में जड़ से बँधा है अतः प्रकृति की उपाधियाँ उसे मिल जाने के कारण वह भी परम पुरुष के निकट प्रकृति का परिचय लेकर उपस्थिति होने लगा।······समर्पण के भाव ने भी आत्मा को नारी की स्थिति दे डाली। सामाजिक व्यवस्था के कारण नारी अपना कुल-गोत्र आदि छोड़कर पति को स्वीकार करती है और स्वभाव के कारण उसके निकट अपने-आपको पूर्णतः समर्पित करके उस पर अधिकार पाती है। अतः नारी के रूपक से सीमाबद्ध आत्मा का असीम में लय होकर असीम हो जाना सहज ही समझा जा सकता है।'

प्रकृति का इस रूप में चित्रण महादेवी की कविताओं में मिलता है। पन्त ने प्रकृति में नारी के व्यक्तित्व की स्थापना करके रमणीयता ला दी है, महादेवी ने उसमें 'समर्पण' लाकर मधुरता।

प्रकृति के संश्लिष्ट चित्रण के लिए शुक्लजी ने कालिदास और भवभूति के काव्य-चित्रों का उदाहरण दिया है, किन्तु उन्होंने 'प्रकृति को उसकी यथार्थ रेखाओं में भी अङ्कित किया है और जीवन के प्रत्येक स्वर से स्वर मिलाने वाली सङ्गिनी के रूप में भी।······खड़ी बोली के कवियों ने अपने काव्य में जीवन और प्रकृति को वैसे ही सजीव, स्वतन्त्र, पर जीवन की सनातन सहगामिनी के रूप में अङ्कित किया है जैसा संस्कृत काव्य के पूर्वार्द्ध में मिलता है।'

शुक्लजी का प्रकृति के प्रति दृष्टिकोण अर्थ-चेतना का है, आत्मचेतना का नहीं। प्रकृति से उनका सम्बन्ध स्थूल है, सूक्ष्म संवेदनात्मक नहीं। इसीलिए प्रकृति के संश्लिष्ट चित्रण में उनकी दृष्टि संस्कृत-काव्यों के उन्हीं स्थलों पर रमी है जहाँ वह उपकरण या अलङ्करण-मात्र है। जीवन में प्रकृति का एक अभिन्न रूप वह भी है जहाँ सूक्ष्म संवेदन जड़-चेतन को 'एक विराट शरीरत्व' का आकार दे देता है। प्राचीनतम काव्य में आकार से सूक्ष्म की प्रक्रिया महादेवी के शब्दों में इस प्रकार हुई है—'प्रकृति के अस्त-व्यस्त सौन्दर्य में रूप-प्रतिष्ठा, बिखरे रूपों में गुण-प्रतिष्ठा; फिर इनकी समष्टि में एक व्यापक चेतन की प्रतिष्ठा और अन्त में रहस्यानुभूति।' महादेवी के ही शब्दों में—'जहाँ तक भारतीय प्रकृतिवाद का सम्बन्ध है वह दर्शन के सर्ववाद का काव्य में भागवत अनुवाद कहा जा सकता है। यहाँ प्रकृति दिव्य शक्तियों का प्रतीक भी बनी, उसे जीवन की सजीव सङ्गिनी बनने का अधिकार भी मिला, उसने अपने सौन्दर्य और शक्ति द्वारा अखण्ड और व्यापक परम तत्त्व का परिचय भी दिया और मानव के रूप का प्रतिबिम्ब और भाव का उद्दीपन बनकर भी रही।' शुक्लजी का संश्लिष्ट चित्रण इनमें से किसी भी सीमा में नहीं है, उसमें

प्रकृति का प्रकृत निरीक्षण है।

शुक्लजी ने 'रहस्य' को दो श्रेणियों में विभक्त किया है—(१) साम्प्रदायिक रहस्यवाद और (२) स्वाभाविक रहस्य-भावना। इन्हें हम कहेंगे, सूक्ष्म रहस्य और स्थूल रहस्य। शुक्लजी की स्वाभाविक रहस्य-भावना में स्थूलता है। सूक्ष्म रहस्य को वे साम्प्रदायिक इसलिए कहते हैं कि उसे वे भारतीय काव्य में नहीं देख सके हैं, अतएव उन्हें वह बाहरी सम्प्रदाय से आया हुआ जान पड़ता है। किन्तु जैसे प्रकृति के संश्लिष्ट चित्रण में उनका ध्यान भारतीय काव्य के स्थूल रूप-विधान की ओर रहा, वैसे ही रहस्य-भावना में गोचर रूप की ओर।

रहस्यवाद

शुरू में ही यह स्पष्ट हो जाय कि वे काव्य को वाल्मीकि से प्रारम्भ करते हैं। किन्तु वाल्मीकि के समय तक जीवन में लौकिकता आ गई थी, उससे पूर्व वेदों-उपनिषदों में जीवन-चिन्तन का एक विशेष सांस्कृतिक युग वृहत् पृष्ठभाग बन गया है। परवर्ती युग प्रागैतिहासिक काल के जीवन-चिन्तन के विभिन्न अंशों को सगुण या सामाजिक बनाकर चलते रहे। रहस्यवाद का मूल उपनिषद् में मिल सकता है। भूतवाद की ओर शुक्लजी का झुकाव अधिक होने के कारण वे जीवन की सूक्ष्म अनुभूतियों को विस्मृत करते रहे हैं। सूक्ष्म ही तो आध्यात्मिक है; अपनी रुचि भिन्नता के कारण वे आध्यात्मिकता को साम्प्रदायिकता में डाल गए हैं।

काव्यत्व प्राप्त करके रहस्यवाद साम्प्रदायिक नहीं रह जाता, क्योंकि तब उसमें 'धर्म का रूढ़िगत सूक्ष्म' नहीं, 'जीवन का सूक्ष्म' आ जाता है। अतएव, 'रहस्य का अर्थ वहाँ से होता है जहाँ धर्म की इति है।'

महादेवीजी के शब्दों में—'छायावाद का कवि धर्म के अध्यात्म से अधिक दर्शन के ब्रह्म का ऋणी है जो मूर्त्त और अमूर्त्त विश्व को मिलाकर पूर्णता पाता है। दर्शन और काव्य की शैलियों में अन्तर है परन्तु यह अन्तर रूपगत है, तत्वगत नहीं; इसी से एक जीवन के रहस्य का मूल और दूसरी शाखा-पल्लव-फूल खोजती रही हैं।'

शुक्लजी ने कहा है—'अव्यक्त की जिज्ञासा का ही कुछ अर्थ होता है, उसकी लालसा या प्रेम का नहीं।' महादेवी जी कहती हैं—'विश्व के रहस्य से सम्बन्ध रखने वाली जिज्ञासा जब केवल बुद्धि के सहारे गतिशालि होती है तब वह दर्शन की सूक्ष्म एकता को जन्म देती है और जब हृदय का आश्रय लेकर विकास करती है तब प्रकृति और जीवन की एकता विविध प्रश्नों में व्यक्त होती है।'

शुक्लजी का कथन है—'जिज्ञासा केवल जानने की इच्छा है।' किन्तु

महादेवीजी के शब्दों में—'बुद्धि का ज्ञेय ही हृदय का प्रेय हो जाता है।' यह प्रेय ज्ञान की इतिमत्ता के बजाय काव्य की मधुरता पाकर माधुर्य भाव बन जाता है। किन्तु अनन्त रूपों की समष्टि के पीछे छिपे चेतन का तो कोई रूप नहीं। अतः उसके निकट ऐसा माधुर्यभाव-मूलक आत्म-निवेदन कुछ उलझन उत्पन्न करता रहा है।' यही उलझन शुक्लजी को भी हुई है; क्योंकि 'रति-भाव' के अङ्गीभूत 'लालसा या अभिलाषा' द्वारा उन्होंने माधुर्य-मूलक रहस्य-निवेदन को ऐन्द्रिक रूप में परखना चाहा है। परन्तु महादेवी के ही शब्दों में—'यह आत्म-निवेदन लालसा-जन्य आत्म-समर्पण से भिन्न है, क्योंकि लालसा अन्तर्जगत् के सौन्दर्य की साकारता नहीं देखती; किसी स्थूल अभाव की पूर्ति पर केन्द्रित रहती है।'

शुक्लजी साधन (प्रत्यक्ष) को ही साध्य (परोक्ष) रूप में ले लेते हैं, इसीलिए कहते हैं—'भौतिक जगत् की रूप-योजना लेकर जिस प्रेम की व्यञ्जना होगी वह भाव की दृष्टि से वास्तव में भौतिक जगत् की उसी रूप-योजना के प्रति होगा।'—किन्तु महादेवीजी के विश्लेषण में वह रूप-योजना एक माध्यम-मात्र है, वे कहती हैं—'जब चेतन की व्यापकता और जड़ की विविधता की अनुभूति हमारा हृदय करता है तब वह रूपों के ही माध्यम से अरूप का परिचय देता है।·········उसका उद्देश्य रूपों की विविधता को परम तत्त्व में एकरस कर देना है।'

शुक्लजी का दृष्टिकोण सांसारिक है रहस्यवादी दृष्टिकोण आभ्यन्तरिक है—जिसके सम्मुख संसार एक धरातल है, अन्तस्तल नहीं। अन्तस्तल की अभिव्यक्तियों के लिए लौकिक रूप सचित्र सङ्केत बन जाते हैं।

रहस्यवाद के मधुर रूपक को हृदयङ्गम करने के लिए दार्शनिक मनःस्थिति आवश्यक है, क्योंकि उसका अन्तर्गठन उसी के अनुरूप है। महादेवीजी के शब्दों में—'रहस्य भावना के लिए द्वैत की स्थिति भी आवश्यक है और अद्वैत का आभास भी, क्योंकि एक के अभाव में विरह की अनुभूति असम्भव हो जाती है और दूसरे के बिना मिलन की इच्छा आधार खो देती है।'

शुक्लजी को महादेवी की काव्यानुभूतियों के लिए यह संशय है—'कहाँ-तक वे वास्तविक अनुभूतियाँ हैं और कहाँ तक अनुभूतियों की रमणीय कल्पना है, यह नहीं कहा जा सकता।' किन्तु कल्पना भी तभी अग्रसर होती है जब उसमें अनुभूति होती है। कल्पना कला-पक्ष है, अनुभूति संज्ञा-पक्ष। बिना संज्ञा-पक्ष के कला-पक्ष अपने पङ्ख कैसे फैला सकता है! असल में शुक्लजी कला-पक्ष की रंगीनी से विरत हैं, किन्तु कला-पक्ष राम के जटा-जूट और वल्कल-परिधान की तरह सौम्य भी हो

सकता है तथा कृष्ण के मोर-मुकुट और आलुलायित केश-पटल की तरह चपल भी।

सब मिलाकर शुक्लजी अपनी विवेचनाओं में एक आस्तिक मनोवैज्ञानिक अथवा बौद्धिक आस्तिक हैं। वे शङ्कराचार्य के मतानुयायी हैं। बौद्धिकता उन्हें रागात्मकता की ओर ले जाती है, आस्तिकता भावाभिव्यक्ति की ओर। शुक्लजी का सगुणवाद एक आस्तिक यथार्थवाद है, यदि इसके भीतर से ईश्वरत्व को निकाल दें तो यही भौतिक यथार्थवाद हो जाता है।

अन्तराल

शुक्लजी जीवन के लोक-पक्ष की ओर हैं। एक जगह विवश होकर उन्होंने अपने दृष्टिकोण को 'लोकवाद' कहा है। वे मनुष्य के हृदय को व्यक्तिगत सम्बन्ध के संकुचित 'मण्डल' से ऊपर उठाकर 'लोक-सामान्य भावभूमि' पर ले गए, किन्तु शुरू में ही, कविता की परिभाषा में, मनुष्य के हृदय के व्यक्तिगत पक्ष (सब्जेक्टिव)-को छोड़ गए। इससे उनकी काव्य-समीक्षा में एक बड़ा अन्तराल रह गया है। व्यक्तिगत पक्ष से शुक्लजी का अभिप्राय वैयक्तिक स्वार्थ से है। वह सर्वसाधारण का पक्ष है। किन्तु कवि का व्यक्तिगत पक्ष उसका आत्मपक्ष या आन्तरिक पक्ष है। यह उसकी अनुभूति का स्मारस्य पक्ष है—मनोरम पक्ष, जहाँ वह अपने भीतर रमता है। इसी आत्मरमण को लेकर कहीं तो वह भावुक हो जाता है, कहीं साधक। भावुक—मधुर रति में, साधक—आत्मप्रणति में।

कविता की परिभाषा में शुक्लजी व्यक्ति से लोक की ओर बढ़कर विस्तीर्ण हो गए हैं किन्तु जीवन की अन्तस्संज्ञा को अस्पृश्य कर गए हैं। उद्भिज (प्राकृतिक) और इन्द्रियज (मानुषिक) ज्ञान से सीमित हो जाने के कारण कवि का आत्मज (मानसिक) भाव उनके लिए अपरिचित रह गया है, इसीलिए 'प्रतीति' पर ही उनका आग्रह अधिक रहा, प्रतीति अनुभूति नहीं बन सकी। अनुभूति में कवि का आत्मपक्ष वही है जो 'रामचरित' में 'मानस' है। मानस-पक्ष कवि का ऐकान्तिक पक्ष है। रहस्यवाद में कवि का मानस-पक्ष वही है जिसकी ओर शुक्लजी ने 'तुलसी के भक्ति-मार्ग' में यह निर्देश किया है—'अनुभूति-मार्ग या भक्ति-मार्ग बहुत दूर तक तो लोक-कल्याण की व्यवस्था करता दिखाई देता है, पर और आगे चलकर यह निस्सङ्ग साधक को सब भेदों से परे ले जाता है।' जीवन की इस सतह को स्वीकार करके भी शुक्लजी रहस्यवाद में अनुभूति नहीं देख सके। अनुभूति के लिए गोचर-प्रतीति चाहते हैं, किन्तु 'निस्सङ्ग' हो जाने पर तो गोचरता बहुत गौण हो जाती है। निस्सङ्गता शुक्लजी की प्रतिपादित 'प्रकृत काव्य-भूमि'—'मनोमय कोश'—से परे हो जाती है। 'चाँदनी' के लिए पन्तजी ने कहा है—

वह है, वह नहीं, अनिर्वच,
जग उसमें, वह जग में लय,
साकार-चेतना-सी वह,
जिसमें अचेत जीवाशय !

—इसमें चाँदनी का गोचर रूप नहीं रह जाता, अगोचर रूप में कवि के स्वारस्य से चेतना की साकारता का भावन करना पड़ता है। फिर भी वह 'वही' है, इसका अनिश्चय अनुभूति को नीरव कर देता है। अन्तस्संज्ञा गोचर होकर प्रतीति, शब्दमय होकर अनुभूति और अनिर्वच होकर विदेह हो जाती है। कवि जब कहता है—'यह विदेह प्राणों का बन्धन'—तब वह अंतस्संज्ञा की सूक्ष्म प्राण-प्रतिष्ठा करता है। किन्तु शुक्लजी इतनी सूक्ष्मता की ओर जाने को तैयार नहीं, उनके लिए प्रतीति ही अलम् है।

शायद छायावाद के रहस्यात्मक कवि प्राचीन निस्सङ्ग साधकों की भाँति परमहंस न हों, किन्तु प्रत्येक कलाकार में जीवन और जगत् के प्रति एक निस्संगता तो होती ही है, वहीं वह आत्मनिमग्न भी हो जाता है।

शुक्लजी का मनोविज्ञान पञ्चभूतात्मक है, अतएव उन्हें भाव सत्य नहीं, वस्तुसत्य अभिप्रेत है। असल में उनका मतभेद स्वभाव-जन्य है, भाव-जन्य नहीं। अपनी रुचि की सीमाएँ बाँधकर वे एक ओर कवि के ऐकान्तिक-पक्ष (भाव सत्य) को 'जगत् रूपी अभिव्यक्ति से तटस्थ, जीवन से तटस्थ, भावभूमि से तटस्थ कल्पना की झूठी कलाबाजी' करार देते हैं, दूसरी ओर रहस्यवाद को साम्प्रदायिक निर्वासन दे देते हैं। देखना यह चाहिए कि रहस्यवाद में काव्यत्व है अथवा केवल प्रवचन। काव्यत्व आ जाने पर साम्प्रदायिकता का साहित्यिक शुद्धीकरण हो जाता है। कवि-रूप में सूर और तुलसी की भाँति रवीन्द्रनाथ भी साम्प्रदायिक नहीं रह जाते। काव्यत्व लेकर साम्प्रदायिकता से रहस्यवादी उसी प्रकार परे हो जाता है जिस प्रकार कवि समाज में रहकर समाज के ऊपर। इसीलिए एक देश की काव्यानुभूतियाँ दूसरे देश की अनुभूतियों को भी छूती हैं।

रवीन्द्रनाथ के रहस्यवाद के सम्बन्ध में शुक्लजी की यह धारणा समुचित नहीं है कि उसमें अरब और फारस के सूफियों की वह अभिव्यक्ति है जो यूरोप में गई, इसलिए भारतीय पद्धति से उसका मेल नहीं बैठता। यूरोप के सम्पर्क में रवीन्द्र-नाथ की मूल आत्मा वैसे ही भारतीय है, जैसे भारत के सान्निध्य में प्रेममार्गी सूफियों की अभिव्यक्ति फारसी। दोनों में अपनी जातीयता बनी हुई है। मध्ययुग में भारत और अरब-फारस के बीच जैसे प्रेममार्गी सूफी एक साहित्यिक सेतु थे, वैसे

ही आधुनिक युग में भारत और यूरोप के बीच रवीन्द्रनाथ। निर्गुण (अद्वैत) को लक्ष्य और सगुण (द्वैत) को उपलक्ष्य बनाकर रवीन्द्रनाथ ने दोनों का मनोहर रसात्मक समन्वय कर दिया है। कवि अपनी काव्योचित उदारता से समन्वय देकर साम्प्रदायिक रूढ़ियों से उपर उठ जाता है। मध्य युग में तुलसीदास और आधुनिक युग में रवीन्द्रनाथ ऐसे ही रूढ़ि-मुक्त समन्वयशील कवि हैं। समन्वय की ओर शुक्लजी भी हैं, किन्तु उनके 'सामञ्जस्यवाद' में मनोरागों का सामञ्जस्य है, तुलसी और रवीन्द्र में मनोविकासों का समन्वय। मध्यकालीन प्रेममार्गी सूफियों की अपेक्षा रवीन्द्रनाथ की नवीनता अभिव्यक्ति की अर्वाचीनता में है। वंश-परम्परा से ब्राह्म समाजी (आधुनिक) होते हुए भी रवीन्द्रनाथ अपने व्यक्तित्व में मध्यकालीन वैष्णव हैं। अतएव, उनकी आंग्ल अभिव्यक्ति देखकर ही उन्हें तथाकथित साम्प्रदायिक रहस्यवाद के घेरे में नहीं ले जाना चाहिए। वे विशुद्ध कवि हैं—मार्गी।

'स्वाभाविक रहस्य-भावना से शुक्लजी का अभिप्राय भावानुभूति से है; यह उन्होंने 'साम्प्रदायिक रहस्यवाद' को 'सिद्धान्ती' कहकर स्पष्ट कर दिया है। कबीर और रवीन्द्र की रचनाओं में जहाँ कहीं उन्हें भावानुभूति मिली है वहाँ उसे उन्होंने सराहा है। मूलतः शुक्लजी का मतभेद चिन्तना और भावना का है। इसे इस रूप में न रखकर साम्प्रदायिकता और स्वाभाविकता की ओट में धार्मिक विभेद सामने लाना उचित नहीं; इससे कलात्मक दृष्टिकोण ओझल हो जाता है, रूढ़ धार्मिक संस्कार सामने आ जाता है।

काव्य में भावना की इच्छा रखते हुए भी शुक्लजी उसे अपनी बौद्धिक चिन्तना से ही ग्रहण करते रहे हैं; फलतः काव्य का अनुभूति-पक्ष उनकी 'लैबोरेटरी' में ठीक नहीं उतर पाया। उनका 'टेस्टट्यूब' उसके अनुकूल नहीं।

महादेवी जी ने ऊपर रहस्यात्मक माधुर्य-भाव के लिए जिस द्वैत-अद्वैत (विरह-मिलन) की मनःस्थिति का सङ्केत किया है; शुक्लजी ने भी उस मनोभूमि को अपने ढङ्ग से स्पर्श किया है। कहते हैं—'हमें तो ऐसा दिखाई पड़ता है कि जो ज्ञान-क्षेत्र में ज्ञाता और ज्ञेय है वही भाव-क्षेत्र में आश्रय और आलम्बन है। ज्ञान की जिस चरम सीमा पर जाकर ज्ञाता और ज्ञेय एक हो जाते हैं, भाव की उसी चरम सीमा-पर जाकर आश्रय और आलम्बन भी एक हो जाते हैं।' शुक्लजी का यह विवेचन 'काव्य में रहस्यवाद' लिखने के पूर्व का है, उस समय तक 'अभिव्यक्तवाद' (लोकवाद) उनमें विशेष प्रबल नहीं था। उस समय उन्होंने 'परोक्ष' का भी परिचय इस प्रकार दिया है—'नियमों से निराश होकर, परोक्ष ज्ञान और परोक्ष शक्ति से पूरा पड़ता न देखकर ही मनुष्य परोक्ष 'हृदय' की खोज में लगा और

अन्त में भक्तिमार्ग में जाकर उस परोक्ष हृदय को उसने पाया।'

इस परोक्ष भक्तिमार्ग में आश्रय और आलम्बन लोक-संग्राहक भी है, यथा रामायण में; और आत्मसंग्राहक भी, यथा 'विनयपत्रिका' और आधुनिक गीतिकाव्य में। शुक्लजी ने लोक-संग्रह तो ले लिया किन्तु आत्मसंग्रह को छोड़ दिया। उनके परवर्त्ती मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण में 'अभिव्यक्तिवाद' प्रधान हो गया, आत्मवाद दब गया। सूर, तुलसी और जायसी के विवेचन में प्रसङ्गवश उन्होंने काव्य की विविध भाव-भूमियाँ ली हैं, किन्तु आगे उनमें एक ही रुचि प्रधान हो गई है।

व्यक्तिगत पक्ष में शुक्लजी जैसे सूक्ष्म अनुभूति को छोड़ गए हैं वैसे ही मधुर अनुभूति को भी। जीवन और कला में शील और शक्ति को तो वे देख सके किन्तु माधुर्य को ओझल कर गए। हाँ, सौंदर्य का प्रयोग उन्होंने 'कर्म' में किया है, 'संज्ञा' में नहीं। सौंदर्य कर्मवाचक होने के कारण वह शील और शक्ति में अन्तर्भूत हो गया, इस तरह सौंदर्य भी मङ्गल का ही पर्याय हो गया, उसका निजी व्यक्तित्व ('सुन्दर') नहीं रह गया। सौंदर्य मनुष्य का लोक-पक्ष (कर्म-पक्ष) ही नहीं, व्यक्तिगत पक्ष (भाव-पक्ष) भी है, वहीं वह माधुर्यमूलक भी है।

सब मिलाकर कोमल और कठिन रसों के सञ्चय में उनका झुकाव परुष-वृत्ति की ओर ही है, कोमल वृत्ति की ओर नहीं। वात्सल्य, करुणा और शृङ्गार में उनके मन का वही अंश है जिसमें पुरुष का अनुग्रह या अहम् है, नारी की सहृदयता नहीं। 'अर्द्धनारीश्वर' से उन्होंने ईश्वर-रूप ही लिया है, नारी-रूप परिशिष्ट रह गया है। तुलसी-काव्य के बाद सूर के 'भ्रमर-गीत' पर भी उनका दृष्टिपात उनके समीक्षा-साहित्य का एक परिशिष्ट ही है। पुरुष-व्यक्तित्व को ही प्रधानता देने के कारण उनकी समीक्षाओं में माधुर्य का अभाव हो गया है। आश्चर्य है कि लाक्षणिक दृष्टि से उन्होंने प्राचीन और नवीन जिन दो मुक्तक हिंदी कवियों को प्रशस्ति दी है, वे माधुर्यमूलक हैं—घनानन्द और सुमित्रानन्दन पन्त। सूर का भ्रमर गीत भी माधुर्यमूलक है; ऐसे मधुर काव्य की ओर शुक्लजी का झुकाव उसके माधुर्य-भाव के कारण नहीं, बल्कि उनकी बहिर्मुखी रुचि (वस्तुओं और व्यापारों) के कारण है। शुक्लजी ने अपनी समीक्षाओं और सम्मतियों में 'जगत् और जीवन के मार्मिक स्थल, का प्रयोग प्रायः किया है, इस प्रयोग में 'जगत्' उनके लिए वस्तु (दृश्य) है, जीवन उनके लिए व्यापार (क्रिया)।

कवि के ऐकांतिक पक्ष में—चाहे वह आत्मप्रणति में हो या मधुर रति में—शुक्लजी का मनोयोग नहीं। तुलसी की रामायण में उन्हें कवित्व मिला, 'विनय पत्रिका' इत्यादि मुक्तक आत्म-व्यञ्जक रचनाओं में नहीं। हाँ, 'विनयपत्रिका' की अपेक्षा

छायावाद के प्रगीत-मुक्तकों में कवित्व अधिक है। किन्तु 'विनय पत्रिका' के लिए आत्मप्रणति की और प्रगीत-मुक्तकों के लिए मधुर रति की मनोभूमि इन काव्यों के अनुकूल प्रस्तुत कर लेनी होगी, तब उनमें कवि का स्वारस्य मिल सकेगा।

शुक्लजी जगत् और जीवन की म्रू पिङ्ग चाहते हैं। उनकी रुचि प्रबन्ध-काव्य-प्रधान है—जिसमें जगत् और जीवन का अनेक-रूपात्मक परिचय मिल जाता है।

यहीं यह भी स्पष्ट हो जाय कि शुक्ल जी को 'आध्यात्मिकता' और 'कला' से वितृष्णा है, क्योंकि स्वयं उनमें इनका अभाव है। इस वितृष्णा का एक कारण यह भी है कि उन्होंने इन शब्दों को एक संकुचित सीमा में लिया है—आध्यात्मिकता के अन्तर्गत, कला को बेल-बूटे और नक्काशी के अन्तर्गत। अपने पुराने ढङ्ग से उन्होंने आध्यात्मिकता को पारमार्थिकता और कला को लाक्षणिकता का परिधान दिया है। किन्तु इस रूप में आध्यात्मिकता और कला अपनी अर्थ-व्यापकता खो बैठते हैं। अध्यात्म को गान्धी से और कला को रवीन्द्र से जो जीवन-ज्योति मिली है उसके कारण ये शब्द गरिमा-मण्डित हो गए हैं।

(४) कलात्मक धरातल

काव्य-समीक्षा में शुक्लजी मध्यकाल की आचार्य-परम्परा में हैं। परम्परा-बद्ध होकर भी वे उसके अनुयायी ही नहीं, विकास भी हैं; रीतिकालीन पद्धति के आधुनिक आचार्य हैं। उनकी आधुनिकता काव्य के मनोवैज्ञानिक विश्लेषण में है। उनका मनोवैज्ञानिक विश्लेषण अंग्रेजी ढङ्ग का है—रीति-काल की अपेक्षा नवीन और अति-आधुनिक काल की अपेक्षा प्राचीन। यों कहें, वे रीति काल के नव्यतम भाष्यकार हैं। काव्य में नवीनता को उन्होंने चाहा है किन्तु समीक्षा के क्षेत्र में वे उतने ही पुराने हैं जितना कि स्वयं उनका मनोविकास।

शुक्लजी हिन्दी में आधुनिक आलोचना-पद्धति के आद्य-प्रवर्त्तक है; इसीलिए उनमें परम्परा अधिक, नवीन स्पर्श स्वल्प है। शुक्लजी उन्नीसवीं सदी के भारतीय हैं, फलतः साहित्य में भी उतने ही आधुनिक। हाँ, वे साहित्यिक लिबरल हैं, कट्टर रीतिशास्त्रियों की तरह कञ्ज़र्वेटिव नहीं! जैसे लिबरल राजनीतिक विधानों के। वे समालोचना में 'आधुनिक मनोविज्ञान आदि की सहायता से भारतीय रस-निरूपण पद्धति का संस्कार' चाहते थे। स्वयं उन्होंने भाव-विभाव, वक्रोक्ति, अन्योक्ति, अभिव्यञ्जना इत्यादि को नवीन अर्थों का रुख मुख दिया है, मानो पुराने शब्दकोष को नवीन प्रयोगों का अभिप्राय। रीति-शास्त्र को उन्होंने काव्य लिखने के लिए बन्धन नहीं माना है; किन्तु काव्य-समीक्षा के लिए उसे एक आवश्यक सहायक माना है। उनके शब्द—'साहित्य के शास्त्र-पक्ष की प्रतिष्ठा काव्य-चर्चा की सुगमता के लिए

माननी चाहिए, रचना के प्रतिबन्ध के लिए नहीं।'

शुक्लजी काव्य को मुख्यतः एक विज्ञान के रूप में और गौणतः कला के रूप में लेते दिखाई देते हैं। वे वैधानिक समीक्षक हैं। कहते हैं—'भिन्न-भिन्न देशों की प्रवृत्ति की पहचान यदि हम काव्य के भाव और विभाव दो पक्ष करके करते हैं तो बड़ी सुगमता हो जाती है।' भाव, विभाव और अनुभाव का स्पष्टीकरण उन्होंने इस प्रकार किया है—'भाव से अभिप्राय संवेदना के स्वरूप की व्यञ्जना से है; विभाव से अभिप्राय उन वस्तुओं या विषयों के वर्णन से है जिनके प्रति किसी प्रकार का भाव या संवेदना होती है।..................विभाव के समान भाव-पक्ष का भी पूरा विधान हमारे यहाँ मिलता है। उक्ति, चेष्टा और शरीर-धर्म तीनों प्रकार के अनुभावों द्वारा भावों की व्यञ्जना होती आई है।'

उपरिनिर्दिष्ट 'व्यञ्जना' और 'वर्णन' में शुक्लजी का झुकाव वर्णन की ओर है। कहते हैं—'हम विभाव-पक्ष को कविता में प्रधान स्थान देते हैं। विभाव से अभिप्राय लक्षण-ग्रंथों में गिनाये हुए भिन्न-भिन्न रसों के आलम्बन-मात्र से नहीं हैं।......जगत् की जो वस्तुएँ, जो व्यापार या जो प्रसङ्ग हमारे हृदय में किसी भाव का सञ्चार कर सकें उन सबका वर्णन आलम्बन का ही वर्णन मानना चाहिए।'

तो यों कहें कि शुक्लजी व्यञ्जनात्मक काव्य की अपेक्षा वर्णनात्मक काव्य के विशेष इच्छुक हैं। विभाव (आलम्बन) की प्रधानता देकर शुक्ल जी काव्यवस्तु को ही मुख्य बना देते हैं, भाव को व्यञ्जना के अन्तर्गत काव्य का उपाङ्ग। वे भाव की अपेक्षा भावक की ओर हैं। किन्तु जहाँ काव्य में आलम्बन स्वयं कवि का हृदय ही हो जाता है वहाँ तो भाव ही प्रधान हो जायगा, वस्तु गौण; किन्तु शुक्ल जी का कहना है—'भाव-प्रधान कविता में—ऐसी कविता में संवेदना की विवृत्ति ही रहती है—आलम्बन का आक्षेप पाठक के ऊपर छोड़ दिया जाता है। विभाव-प्रधान कविता में—ऐसी कविता में जिसमें आलम्बन का ही विस्तृत रमणीय चित्रण रहता है—संवेदना पाठक के ऊपर छोड़ दी जाती है।'

असल में, इस कथन में शुक्ल जी का वही मूर्त्त-अमूर्त्त मतभेद है जिसे उन्होंने स्थल-स्थल पर व्यक्त-अव्यक्त एवं गोचर-अगोचर के प्रसङ्ग में प्रकट किया है। वे यहाँ भी मूर्त्त-विधान की ओर हैं। जीवन की ओर हैं। जीवन के मूर्त्त-विधान में जैसे वे सगुण की ओर हैं, वैसे ही काव्य के मूर्त्त-विधान में विभाव की ओर। शुक्ल जी की मूर्त्तिमत्ता में अन्तःकरण बाह्यःकरण से प्रेरित है, भाव-प्रधान कविताओं में बाह्यःकरण अन्तःकरण से। विभाव-प्रधान कविताएँ यदि अमूर्त्त को संवेदन के लिए छोड़ देती हैं तो भाव-प्रधान कविताएँ अमूर्त्त को ही मूर्त्त कर देती हैं; बाह्यःकरण

को अन्तःकरण बना देती हैं। इस तरह आलम्बन और संवेदन में अभिन्नता (आत्मीयता) आ जाती है, क्योंकि तब संवेदन हो जाता है, रागात्मकता रसात्मक हो जाती है, अनुभूति सहानुभूति (सह-अनुभूति) बन जाती है। एक शब्द में संवेदन को कवित्व मिल जाता है। पन्त की 'चाँदनी' का उद्धरण देकर शुक्ल जी कहते हैं—'चाँदनी अपने-आप इस प्रकार की भावना नहीं जगाती।' किन्तु अपने-आप तो प्रकृति का कोई भी उपादान मानवीय मनोरागों से अनुरञ्जित नहीं। वह अपने में निरपेक्ष है, काव्य और जीवन उसे सापेक्ष दृष्टि से अपने निकट ले आता है। शुक्ल जी काव्य में कल्पना और भावना की ओर विशेष रुजू नहीं, किन्तु इनके बिना तो काव्य भी गणित, इतिहास, भूगोल अथवा ड्राइङ्ग ही रह जायगा। कल्पना काव्य का भाव-शरीर है, भावना उसका व्यक्तित्व। शरीर और व्यक्तित्व के बिना काव्य केवल कङ्काल रह जायगा।

कला-पक्ष में शुक्ल जी का झुकाव लाक्षणिकता की ओर है। कहते हैं—'अब इस समय हिन्दी-काव्य-भाषा में मूर्त्तिमत्ता की समास-शक्ति का, लक्षणा-शक्ति का, अधिक विकास अपेक्षित है।······लाक्षणिकता के सम्यक् और स्वाभाविक विकास द्वारा भाषा भाव-क्षेत्र और विचार-क्षेत्र दोनों में बहुत दूर तक, बहुत ऊँचाई तक प्रकाश फेंक सकती है।'

शुक्ल जी की लाक्षणिकता संवेदन की ही ओर है। छायावाद में संवेदन ही नहीं, आलम्बन भी लाक्षणिक हो जाता है; लाक्षणिक रूप में आलम्बन प्रतीक हो जाता है।

वे कला-पक्ष में वस्तु और व्यापार की संश्लिष्टता की ओर हैं। 'छायावाद' में संश्लिष्टता का यह रूप भी है; जैसे पन्त के 'उच्छ्वास', 'आँसू', 'ग्रन्थि', 'नौका-विहार' और 'एकतारा' में, 'प्रसाद' की 'कामायनी' में, निराला की अधिकांश कविताओं में। संश्लिष्टता वहीं है जहाँ आलम्बन आभ्यन्तरिक न होकर बाह्य है, किन्तु संश्लिष्टता के इस रूप में छायावाद की नवीनता नहीं है, उसकी नवीनता चित्तवृत्तियों की संश्लिष्टता में है। मध्यकालीन परम्परा की रचनाओं में चित्तवृत्तियों की यह संश्लिष्टता उत्प्रेक्षा और सन्देहालङ्कार के रूप में आई है, किन्तु उसमें आलम्बन का व्यक्तित्व सङ्घटित नहीं हो सका है; बाह्य प्रकृति अन्तःप्रकृति नहीं बन सकी है। छायावाद की मनोवृत्त्यात्मक संश्लिष्टता में व्यक्तित्व की स्थापना है, बाह्य प्रकृति कवि के स्वारस्य से अतःप्रकृति बन गई है। पन्त का 'वीचि-विलास' इसके लिए बहुत सुन्दर उदाहरण है।

अतएव, छायावाद की कविताओं के सम्बन्ध में शुक्ल जी का यह मन्तव्य एकाङ्गी है—'छायावाद समझकर लिखी जाने वाली कविताओं में अप्रस्तुत व्यापारों

की बड़ी लम्बी लड़ी के अतिरिक्त और कुछ नहीं होता। सब मिलाकर पढ़ने से न कोई सुसङ्गत और नूतन भावना मिलेगी, न कोई विचार-धारा और न किसी उद्भावित सूक्ष्म तथ्य के साथ भाव-संयोग, जिसका कुछ स्थायी संस्कार हृदय पर रहे। अतः ऐसी कविताओं की परीक्षा करने पर उपमान-वाक्यों के ढेर के अतिरिक्त और कुछ नहीं बचता।'—अपनी इसी मान्यता के अनुसार शुक्ल जी ने छायावाद के जिन मुक्तकों को 'छींटे' कहा है, उनमें एक ही आलम्बन की अनेक संवेदनाओं का गुम्फन है; यथा, पन्त की 'छाया'; 'नक्षत्र' और 'बादल' में। शुक्ल जी ने स्थल-स्थल पर जिसे 'अनेक रूपात्मक जगत्' कहा है, 'उपमान वाक्यों के ढेर' में कवि उस अनेक चित्तवृत्यात्मक रूपों में परिलक्षित करता है। इसे हम मनोवृत्तियों के विविध 'पोज़' अथवा अनेक मुद्राओं के रूप में भी ले सकते हैं। इसमें वस्तु[1] की नहीं, रस की संश्लिष्टता रहती है। महादेवी जी के शब्दों में—'छायावाद तत्त्वतः प्रकृति के बीच में जीवन का उद्‌गीथ है, अतः कल्पनाएँ बहुरङ्गी और विविध रूपी हैं।'

छायावाद के मुक्तकों के अनेक तर्ज हैं। यद्यपि सभी में आत्मवृत्ति ही रहती है तथापि अभिव्यक्ति और आलम्बन के प्रकार में अन्तर है।

शुक्ल जी की काव्य-समीक्षाओं से उनके विचारों का जो रूप हमारे सामने आता है वह ड्राइङ्ग की शक्ल में है। उन्होंने अपने विचारों की ड्राइङ्ग की बन्दिश खूब चुस्त की है, कानून की बन्दिशों की तरह। उनका झुकाव टेकनीकों के 'खाके' की ओर है। वे रीतिज्ञ हैं, मर्मी नहीं; यही बात उनके जीवन-सम्बन्धी दृष्टिकोण के लिए भी कही जा सकती है। उनके विवेचन में चित्र-विधान है, चित्र-कला नहीं। ड्राइङ्ग जब अपना अस्तित्व समाप्त करके कला का व्यक्तित्व धारण करती है, शुक्ल जी उस व्यक्तित्व की परिधि में नहीं जा सके हैं।

मानसिक निर्माण

शुक्ल जी का मानसिक निर्माण बौद्धिक है। उनमें कविता की अपेक्षा वास्तविकता अधिक है। आइडियलिज्म की ओर उनका झुकाव नहीं, उनकी आस्तिकता तो उनका परम्परागत संस्कार है, उसे वे अपने ढंग से वास्तविकता का सगुण आधार देकर ग्रहण करते हैं—रागात्मक बनाकर। जीवन और कला में रागात्मकता पर जोर देते हुए शुक्ल जी उसके विज्ञान की ओर हैं, कवित्व की ओर नहीं। उनमें घनत्व है, द्रवणता या तरलता नहीं; निष्पत्ति है, परिणति नहीं; मनीषा है, अनुभूति नहीं; राग है, रस नहीं। जैसे चित्र के लिए ड्राइङ्ग, वैसे ही रस के लिए उनका राग है। राग जहाँ

---

[1] वस्तु तो आलम्बन न रहकर स्वयं भी संवेदन हो जाती है। यही कारण है कि छायावाद के प्रगीत मुक्तक प्रायः शीर्षक-रहित होते हैं।

उद्गार हो जाता है वहाँ वह अपना मूल-रूप समेटकर रस हो जाता है। शुक्ल जी ने जिस रोमैण्टिसिज्म को 'स्वच्छन्दतावाद' कहा है उसकी स्वच्छन्दता में राग की तीव्रता ही है, उद्गार की गहराई नहीं। किन्तु रोमैण्टिसिज्म में राग की तीव्रता नहीं, रस की गहराई है; वह फेनिल नहीं, उर्म्मिल है; उसमें आवेश नहीं, उन्मेष है।

कला का स्पर्श करने के लिए शुक्ल जी जैसे ड्राइङ्ग की प्रक्रिया दिखलाते हैं, वैसे ही रस की अनुभूति के लिए राग की प्रक्रिया। फलतः ये रासायनिक रह जाते हैं; भावुक नहीं, भावक हो जाते हैं। कला और जीवन के विवेचन में शुक्ल जी क्रिया की ओर अधिक सक्रिय हैं—कला में वस्तुओं को लेकर और जीवन में व्यापारों को लेकर, इसीलिए काव्य में वस्तुओं और व्यापारों की संश्लिष्टता को ही 'चित्रण' कहते हैं। वस्तु उनकी ड्राइङ्ग का आकार है, आत्मा उसमें व्यापार है। इस प्रकार उनके लिए जगत् और जीवन बहिर्गत है, अन्तर्गत नहीं। उनका दृष्टिकोण व्यावहारिक अथच उपयोगितावादी है। शुक्ल जी का रुख बहिर्मुख होने के कारण वे सूक्ष्म संवेदनों को स्पर्श नहीं कर सके हैं। शील के साथ माधुर्य के बजाय शक्ति (ओज) का संयोग करके वे अनुभूति-पक्ष में उसकी तीव्रता की ओर हैं। यथार्थवाद की चरमभूमि (समाजवाद) में जाकर भी कवि पन्त का कहना है—'अनुभूति की तीव्रता का बोध बहिर्मुखी (एक्ट्रोवर्ट) स्वभाव अधिक करा सकता है, मङ्गल का बोध अन्तर्मुखी स्वभाव (इन्ट्रोवर्ट); क्योंकि दूसरा 'कारण-रूप' अन्तर्द्वन्द्व को अभिव्यक्त न करके उसके 'फल-स्वरूप' कल्याणमयी अनुभूति को वाणी देता है।'

शुक्लजी ने काव्य-समीक्षा में रीतिकालीन रस-निरूपण-पद्धति के संस्कार और प्रसार के लिए आधुनिक मनोविज्ञान की सहायता लेने का सङ्केत किया है। आधुनिक मनोविज्ञान की सहायता लेने पर शुक्लजी का शील-पक्ष वैसे ही खण्डित हो जायगा जैसे उनके रागात्मक विश्लेषण द्वारा छायावाद का रहस्य पक्ष खण्डित हो गया है। फ्रायड का मनोविज्ञान वात्सल्य का और मार्क्स का मनोविज्ञान सेव्य-सेवक का प्रतिपादन नहीं करता, वह तो काम-विकार और अर्थ-विकार की वास्तविकता को स्पष्ट कर देता है। इस स्थिति में शुक्लजी के रस-शास्त्र को शरीर-शास्त्र और समाज-शास्त्र बन जाना होगा। इस तरह रस नीरस हो जायगा। शुक्लजी का सांस्कृतिक 'अतीत' भी सुरक्षित नहीं रह जायगा, उसमें सामन्तवादी युग का ऐतिहासिक विकार दृष्टिगोचर होने लगेगा। शुक्लजी ने रहस्य लोक से विमुख होकर काव्य के लिए जिस गोचर जगत् पर जोर दिया है, आधुनिक मनोविज्ञान के 'एक्स रे' से देखने पर वह रस-जगत् न कहकर वस्तु-जगत् हो जाता है। अपनी आस्तिक सीमा में शुक्लजी वस्तु जगत् की ओर ही हैं, भाव जगत् की ओर नहीं। वस्तु जगत

में वे आधुनिक मनोविज्ञान के जिस प्रारम्भिक काल में हैं, समाजवाद में उसी का विकास है।

अपने शील-पक्ष के प्रतिपादन में शुक्लजी को आधुनिक मनोवैज्ञानिकों से जो कुछ कहना पड़ता उसके लिए उन्हें बुद्धि-पक्ष से उतरकर भाव-पक्ष पर आ जाना पड़ता। शक्ति के लिए जैसे शील है, वैसे ही वस्तु के लिए भाव और भाव के लिए रहस्य। काव्य प्राणिचेतना का परिष्कार है, वह स्थूल को संज्ञा का संस्कार देता है, मनोविकार को मनोविकास की ओर ले जाता है। जैसे वनस्पति-शास्त्र द्वारा वस्तु-परिचय ही मिल सकता है उसका आस्वाद नहीं, वैसे ही मनोविज्ञान से रसाभास मिल सकता है, रसानुभूति नहीं। अतएव काव्य-समीक्षा में भाव की परख 'अनुभूति' से कला की परख 'रीति' (टेकनीक) से संस्कार को परख सामाजिक 'स्थिति' से करनी चाहिए। सामाजिक परख इसलिए आवश्यक है कि उससे जीवनी-शक्ति के क्षय का ऐतिहासिक निदान सामने आता है—काव्य जगत् की सुख-समृद्धि की वृद्धि के लिए, अपकर्ष के लिए नहीं।

समालोचना की सम्मिलित पृष्ठभूमि

तो, काव्य-समीक्षा के रीतिवाद (कला का विधानवाद), छायावाद (अनुभूतिवाद), और समाजवाद (ऐतिहासिक निदानवाद) की सम्मिलित पृष्ठ-भूमि चाहिए। शुक्लजी ने इनमें से एक (कला के विधानवाद) को ही लिया है, मनोविज्ञान का स्पर्श देकर; अनुभूतिवाद को उसी के अन्तर्गत ले लिया है। अपने वैधानिक ढाँचे में छायावाद तक वे बढ़ आए थे, किन्तु गांधीवाद और समाजवाद की ओर कदम नहीं बढ़ा सके। शायद गान्धीवाद में उन्हें गोचर जगत् की और समाजवाद में आभिजात्य ('शील') की गन्ध नहीं मिली। अतएव ऐसी रचनाओं को उन्होंने उसी प्रकार परम्परागत पारमार्थिक ढाँचा दिया जिस प्रकार अनुभूतिवाद को वैधानिक ढाँचा।

अनुभूतिवाद (छायावाद और रहस्यवाद) के लिए वैधानिक समीक्षा की ही नहीं, प्राभाविक समालोचना को भी आवश्यकता है। प्राभाविक समालोचना टेकनिकल नहीं, आइडियल है; वह कवि की अनुभूति को पाठक में जगाती है, उसे भी कवि बनाती है। इससे उसकी काव्य-रुचि को स्वावलम्बन मिलता है, कोरा अध्ययन नहीं। विद्यार्थियों में काव्य का संस्कार जगाने के लिए इसकी बड़ी आवश्यकता है। हाँ, ऐसी समालोचना में कवि की अनुभूति से समालोचक की अभिन्नता होनी चाहिए, निजी आरोपण नहीं। प्राभाविक समालोचना को 'प्राभाविक सहानुभूति'

प्राभाविक समालोचना

कहना अधिक उपयुक्त होगा । हृदय के संस्कार के लिए उसकी सार्थकता है । विधानवाद और समाजवाद दोनों अपनी समीक्षा में बहिर्मुख हैं—एक 'कला' के टेकनिकल साइड में है, दूसरा 'जीवन' के टेकनिकल साइड में, आत्माभिव्यञ्जन को दोनों ही नहीं छिपाते । प्राणी का व्यक्तिगत पक्ष दोनों ही छोड़ जाते हैं । प्राणी का व्यक्तिगत पक्ष व्यक्तिवाद नहीं, उसे या तो व्यक्तित्ववाद कहें या अस्तित्ववाद । विधानवाद द्वारा रागात्मक व्यक्तित्व ही सामने आता है, छायावाद द्वारा रसात्मक व्यक्तित्व । रसात्मक व्यक्तित्व ही कवित्व है । समाजवाद में व्यक्ति व्यक्ति रह जाता (समाज बन जाता है), किन्तु वह भी रागात्मक व्यक्ति का ही सामाजिक 'एनलार्जमेण्ट' कर देता है, कवित्व—व्यक्तित्व—उससे भी दूर रह जाता है । दोनों को (रीतिवाद और समाजवाद को) सजीव करने के लिए प्राभाविक सहानुभूति अपेक्षित है ।

प्राभाविक आलोचना द्वारा आलोचक में भी अनुभूति का परिचय मिलता है । अनुभूति के लिए रसज्ञता ही नहीं, रसार्द्रता भी चाहिए ।

प्राभाविक आलोचना में काव्य का हृदय-पक्ष रहता है । हृदय की मार्मिकता के लिए सहृदयता या हृदय-तरलता अथवा आत्मद्रवणता चाहिए । मनुष्य में हृदय-पक्ष नारी का अंश है, बुद्धि-पक्ष पुरुष का अंश ।

प्राभाविक सहानुभूति में नारीत्व अपेक्षित है । अपने इन्दौर-भाषण में शुक्लजी ने मिस्टर स्पिगर्न की जिस अभीष्ट समीक्षा-पद्धति को 'जनानी सामालोचना' से अभिहित किया है, उसे हम कहेंगे रमणीय समीक्षा । न हो, इसे रसात्मक या भावात्मक समीक्षा भी कह लें । जब बुद्धि-पक्ष जीवन और कला को शुष्क कर देता है तब हृदय-पक्ष आता है, जीवन में परुष-अतिशयता का वह प्रतिलोम है । इस दृष्टि से अहिंसावाद और छायावाद-रहस्यवाद में भी नारी-अंश की प्रतिष्ठापना है । इसके बिना समालोचना बौद्धिक जञ्जाल या बुद्धि-प्रपञ्च हो जायगी ।

शुक्लजी की स्थिति यह है कि रहस्यवाद को साम्प्रदायिक कहकर उसे धर्म के 'ज्ञान काण्ड' के भीतर छोड़ देते हैं,[1] किन्तु स्वयं वैधानिक समीक्षा के रूप में कला का 'ज्ञान-काण्ड' उपस्थित कर देते हैं । इस प्रकार वे भी एक साहित्यिक सम्प्रदाय में चले जाते हैं । शुक्लजी ने कहा है—'किसी वाद के ध्यान से साम्प्रदायिक सिद्धान्त के ध्यान से, जो कविता रची जायगी उसमें बहुत-कुछ अस्वाभाविकता और कृत्रिमता होगी । 'वाद' की रक्षा या प्रदर्शन के ध्यान में कभी-कभी क्या, प्रायः रस-सञ्चार का प्रकृत मार्ग किनारे छूट जायगा ।'—यही बात विधानवाद के लिए भी कही जा सकती है । वह कविता की इञ्जीनियरिंग तो करता है किन्तु

वैधानिक समालोचना

[1]यदि उनमें प्राभाविक सहानुभूति होती तो ऐसा न करते ।

फीलिङ्ग को नहीं जगा पाता। शुक्लजी ने अपने विधानवाद में काव्य को ऐसे कानूनों तर्कों और बन्दिशों से बाँध दिया है कि वह 'लॉ' की दृष्टि से तो ठीक है किन्तु कला और जीवन को दृष्टि से मुक्ति (छूट) चाहता है। कानून ही तो जीवन नहीं है। शुक्लजी काव्य को रीतिवाद को बन्दिशों में बाँधने के पक्ष में नहीं, वे उसकी स्वतन्त्रता के समर्थक थे' किन्तु प्राभाविक सहानुभूति के अभाव में उसे स्वयं ही बन्दिशों में जकड़ गए। शुक्लजी में साहित्य की वैधानिक परख अच्छी थी, किन्तु काव्य को तरह उनका हृदय-पक्ष भी उसी में जकड़ गया। फलतः उनकी आलोचनाएँ तात्त्विक हो गईं, मार्मिक नहीं। शुक्लजी के काव्य-प्रेम में उनका आलोचक-रूप इतना घनीभूत रहा था कि वे साहित्य के सहज रस से वञ्चित रह जाते थे। पहले से ही आलोचक-दृष्टिकोण बना लेने पर द्रष्टा का आनन्द खो जाता है। बहुत शास्त्रीय विश्लेषण, रस को विरस कर देता है।

रहस्यवाद न तो ज्ञानकाण्ड के भीतर है और न साम्प्रदायिक है। शुक्लजी ने उसकी उत्पत्ति की जो पैमाइश की है वह उनके अपने साम्प्रदायिक दृष्टिकोण की सूचक है। रहस्यवाद ज्ञानपरक नहीं, भावपरक है; अतएव *व्यक्ति-प्रधान* 'ज्ञानकाण्ड' से उसका सम्बन्ध नहीं। टेकनीकों में अवश्य ही *साहित्यिक रुचि* वह अंग्रेजी से प्रभावित है, उसी तरह जैसे शुक्लजी रस-निरूपण-पद्धति को आधुनिक मनोविज्ञान के सम्पर्क में प्रेरित करना चाहते हैं। गोचर और अगोचर (साक्षेप-निरक्षेप) के दृष्टिभेद को बाद देकर देखना चाहिए कि छायावाद या रहस्यवाद अपने भावों में मूर्त्त है या नहीं। शुद्ध कला दृष्टि से तो यही अपेक्षित है। गोचर-अगोचर तो विज्ञान और दर्शन का विषय है, उस दृष्टिकोण से देखने पर इस वाद-विवाद का अन्त नहीं हो सकता, क्योंकि जगत् और जीवन अभी अपने प्रयोगों और अनुभवों में स्थिर नहीं है।

जैसा कि ऊपर कहा है, शुक्लजी में परुषा-वृत्ति प्रधान है। उनमें जीवन के कोमल स्पन्दनों का स्पर्श भी है किन्तु उनकी कोमला-वृत्ति उनकी परुषा-वृत्ति से वैसे ही दबी हुई है, जैसे प्रस्तरस्तूप के नीचे रस को झिरझिरी, बुद्धि के नीचे सहृदयता असल में शुक्लजी की स्थिति प्रसाद जी के 'स्कन्दगुप्त' नाटक के उस मातृगुप्त-जैसी है जो स्वभाव से तो कवि है किन्तु कर्त्तव्य से विचारक हो गया है, वह अपने सङ्गोपन-व्यक्तित्व (कवित्व) को वैधानिक सीमा के भीतर ही लेने को बाध्य है।

'चिन्तामणि' के 'निवेदन' में शुक्लजी ने कहा है—'इस पुस्तक में मेरी अन्तर्यात्रा में पड़ने वाले कुछ प्रदेश हैं। यात्रा के लिए निकलती रही है बुद्धि, पर हृदय को भी साथ लेकर। अपना रास्ता निकालती हुई बुद्धि जहाँ कहीं मार्मिक या

भावाकर्षक स्थलों पर पहुँची है वहाँ हृदय थोड़ा-बहुत रमता और अपनी प्रवृत्ति के अनुसार कुछ कहता गया है। इस प्रकार यात्रा के श्रम का परिहार होता रहा है। बुद्धि-पथ पर हृदय भी अपने लिए कुछ-न-कुछ पाता रहा है।' 'निवेदन' के अन्त में शुक्लजी कहते हैं—"इस बात का निर्णय मैं विज्ञ पाठकों पर ही छोड़ता हूँ कि निबन्ध विषय-प्रधान हैं या व्यक्ति-प्रधान।" हम कहेंगे—"व्यक्ति-प्रधान"। उनका शास्त्रीय विवेचन उनकी व्यक्तिगत रुचियों का प्रतिपादन बन गया है।

शुक्लजी लोक-भूमि में बाहर से प्रसरित—विस्तृत—होकर काव्य-भूमि में भीतर से संकुचित—परिमित—हो गए हैं। मूर्त्त-अमूर्त्त में वे मूर्त्त की ओर हैं, भाव और वस्तु में वस्तु की ओर, अन्तर्गत-लोकगत में लोकगत की ओर, मुक्तक और प्रबन्ध में प्रबन्ध की ओर, हिन्दू-मुस्लिम में हिन्दुत्व की ओर, तथा वर्तमान और अतीत में अतीत की ओर।

शुक्लजी की व्यक्तिगत रुचि काव्य की अपेक्षा कथा के अधिक अनुकूल है। उनकी काव्य-सम्बन्धी स्थापनाएँ सटीक हो जाती हैं यदि उन्हें कहानियों, उपन्यासों और प्रबन्ध-काव्यों में समाविष्ट कर लें। वहाँ केवल रागात्मकता और संश्लिष्टता का ही पूर्ण निर्वाह नहीं हो जाता, बल्कि 'अनेक रूपात्मक जगत् और जीवन' का सामञ्जस्य भी हो जाता है। यहाँ यह भी स्पष्ट हो जाना चाहिए कि शुक्लजी की कथोन्मुख रुचि मुख्यतः अतीत-गाथा की ओर है—ऐतिहासिक नाटकों, उपन्यासों और काव्यों की ओर। उनके इस अतीत-प्रेम में कुहुक है। टेकनीक की दृष्टि से उन्हें पुराने ढाँचे के उपन्यास अधिक रुचते हैं।

शुक्लजी ने 'काव्य में रहस्यवाद' और 'हिन्दी-साहित्य का इतिहास' का प्रथम संस्करण ऐसे समय में लिखा जब उनमें प्रतिक्रिया का जोर था। यद्यपि

छायावाद, रहस्यवाद और समाजवाद

अपने आप्त संस्कारों की रक्षा के लिए उनमें प्रतिक्रिया बनी हुई थी, तथापि प्रतिक्रिया के अपेक्षाकृत शान्त हो जाने पर उन्होंने नये काव्य-साहित्य की कुछ उदार समीक्षा भी की है, वहीं उन्होंने छायावाद के टेकनीकों की प्रशंसा भी की। उनके शब्द—"छायावाद की शाखा के भीतर धीरे-धीरे काव्य-शैली का बहुत अच्छा विकास हुआ, इसमें सन्देह नहीं। उसमें भावावेश की आकुल व्यञ्जना, लाक्षणिक वैचित्र्य, मूर्त्त प्रत्यक्षीकरण, भाषा की वक्रता, विरोध-चमत्कार, कोमल पद-विन्यास इत्यादि काव्य का स्वरूप संघटित करने वाली प्रचुर सामग्री दिखाई पड़ी।"

शुक्लजी ने अपने इतिहास में छायावाद का निर्देशन इस प्रकार किया है—"छायावाद शब्द का प्रयोग दो अर्थों में समझना चाहिए एक तो रहस्यवाद के अर्थ में, जहाँ उसका सम्बन्ध काव्य-वस्तु से होता है अर्थात् जहाँ कवि उस अनन्त

और अज्ञात प्रियतम को आलम्बन बनाकर अत्यन्त चित्रमयी भाषा में प्रेम की अनेक प्रकार से व्यंजना करता है······छायावाद शब्द का दूसरा प्रयोग काव्य-शैली या पद्धति-विशेष के व्यापक अर्थ में है। ······ छायावाद का केवल पहला अर्थात् मूल अर्थ लेकर तो हिन्दी काव्य-क्षेत्र में चलने वाली श्री महादेवी वर्मा ही हैं। पन्त, प्रसाद, निराला इत्यादि और सब कवि प्रतीक-पद्धति या चित्रभाषा-शैली की दृष्टि से ही छायावादी कहलाये।"

शुक्लजी के उक्त निर्देश से इतना लाभ तो हो जाता है कि छायावाद-युग की सभी रचनाओं को एक ही आध्यात्मिक परिधि में रखकर विवेचन करने की प्रवृत्ति दूर हो जायगी। किन्तु इसी के साथ छायावाद और रहस्यवाद का स्पष्टीकरण भी हो जाना चाहिए। छायावाद रहस्यवाद की प्रारम्भिक स्टेज है, रहस्यवाद उसका विकास। छायावाद में चेतन का आभास मिलता है, रहस्यवाद में आभास ही नहीं अन्तःसाक्षात् भी होता है। रहस्यवाद का प्रायः प्रारम्भिक रूप ही पन्त, प्रसाद और निराला में यत्र-तत्र मिलता है, और कहीं-कहीं उसका विकास (रहस्यवाद) भी। 'कामायनी' के अन्त में प्रसाद जी रहस्यवादी हो गए हैं और महादेवी तो शुक्लजी के कथनानुसार पूर्णतः रहस्यवादी हैं ही।

हाँ, नवीन काव्य के अभ्यस्त न होने के कारण इस युग की काव्य-सम्बन्धी भिन्नताओं को शुक्ल जी ग्रहण नहीं कर सके, फलतः पन्त के समाजवाद को 'टु रोमैंटिसिज्म' ('स्वाभाविक स्वच्छन्दतावाद') में और उनके नेचरलिज्म को कहीं-कहीं मिस्टिसिज्म में डाल गए। 'लाई हूँ फूलों का हास' में शुक्लजी को पन्त का 'पारमार्थिक ज्ञानोदय' जान पड़ा है। इसमें पारमार्थिकता नहीं, कवि की आत्मविह्वलता है, क्योंकि—

"अधिक अरुण है आज सकाल,
चहक रहे जग-जग खगबाल।"

में कवि की यह आत्मव्यंजना है कि प्राकृतिक दृश्यों में कलरव-मुखरित अरुण प्रभात का दृश्य उसे सर्वोपरि प्रिय है। इसे वह आगे यह कहकर स्पष्ट कर देता है—

"चाहे तो सुन लो यह बोल,
आज न लूँगी कुछ भी मोल।"

यथार्थवाद की समाजवादी भूमि पर पन्त ने जो 'कर्म का मन' दिया है उसमें शुक्लजी ने अपने अभीप्सित 'गत्यात्मक जगत् का कर्म-सौन्दर्य' देखा है। इस प्रकार हम देखते हैं कि शुक्लजी को 'लोकवाद' में उसी यथार्थ का 'नित्य-रूप' (सामान्य रूप) है जिस यथार्थ का युग-रूप पन्त के समाजवाद में है। शुक्लजी

उस 'नित्य-रूप' में अपना सामाजिक संस्कार मिलाकर उसमें पुरातन संस्कृति की स्थापना करते हैं, पन्त युग-चेतना देकर नवीन संस्कृति की। यद्यपि युग-रूप की अपेक्षा शुक्लजी को यथार्थ का 'नित्य-रूप' ही वाञ्छित है और पन्तजी को परामर्श देते हैं—"पन्तजी आन्दोलनों की लपेट से अलग रहकर जीवन के नित्य और प्रकृति स्वरूप को लेकर चलें और उसके भीतर लोक-मङ्गल की भावना का अवस्थान करें"; तथापि शुक्लजी को यह सन्तोष है—"अभिव्यंजना के लाक्षणिक वैचित्र्य आदि के अतिशय प्रदर्शन की जो प्रवृत्ति 'पल्लव' में पाते हैं, उसकी अपेक्षा अब पन्त की काव्य-शैली अधिक सङ्गत, संयत और गम्भीर हो गई है।"

शुक्लजी ने छायावाद की जिस काव्य-कला की प्रशंसा की है उस कला को निकाल देने पर कविता 'मैटर आव फैक्ट' रह जाती है, जिसे शुक्लजी ने द्विवेदी-युग की कविताओं में 'इतिवृत्त' कहा है। उस युग में वह इतिवृत्त ही है, किन्तु, 'मैटर आव फैक्ट' तो अब आ रहा है—समाजवादी रचनाओं में। शुक्लजी की शब्द-संस्थिति यह रही कि वे आगे के अंग्रेजी शब्दों को अपने प्राप्त-युगों में समेट लेते थे, यथा इतिवृत्त के युग में 'मैटर आव फैक्ट' को, फैक्ट के युग में 'ट्रू रोमैण्टिसिज्म' को। इससे युग-बोध में विपर्यय हो जाता है। रोमैण्टिसज्म के लिए उन्होंने जो शब्द ('स्वच्छन्दतावाद') दिया है वह भी चिन्तनीय है। इसी तरह अन्यान्य अंग्रेजी शब्दों के लिए उन्होंने हिन्दी के जो स्थानापन्न शब्द दिये हैं उनका भी पर्यवेक्षण होना चाहिए ताकि वे स्थानापन्न ही रहकर पूर्ण अर्थव्यञ्जना हो जायँ; इससे भाषा की अभिव्यक्ति-शक्ति बढ़ेगी।

युग-निर्देशन

शुक्ल जी ने नई काव्य-धारा (छायावाद) का उद्गम मैथिलीशरण, मुकुटधर और बदरीनाथ भट्ट में माना है। यह भी एक चिन्तनीय विषय है। असल में हिन्दी की नई काव्य-धारा रवि बाबू की विष्णुपदी है, इसे इस रूप में स्वीकार कर लेने पर केवल यह विचारणीय रह जाता है कि हिन्दी में उसे विकास और प्रभाव किन कवियों से मिला, इस तरह वे प्रवर्त्तक की अपेक्षा रचना-क्रम से क्रमागत प्रतिनिधि के रूप में यों अंगीकृत होंगे—प्रसाद, निराला, पन्त, महादेवी। इनमें से पन्त और महादेवी का काव्य-प्रभाव अधिक पड़ा है। माखनलाल जी इस धारा के अन्तर्गत नहीं, उनमें वीर-काव्य (वर्तमान रूप में राष्ट्रीय काव्य), कृष्ण-काव्य और उर्दू-काव्य की मुक्तक समष्टि है; उनमें द्विवेदी-युग के दो व्यक्तित्वों (मैथिलीशरण और 'सनेही') का मौलिक संयोजन है। नवीन, दिनकर, सुभद्राकुमारी इत्यादि इसी दिशा में हैं।

शुक्ल जी मुख्यतः काव्य-समीक्षक हैं, विशेषतः मध्यकालीन हिन्दी-काव्य-

साहित्य के समीक्षक; तथापि 'हिन्दी-साहित्य का इतिहास' में वे गद्य-साहित्य के भी एक गम्भीर समीक्षक हैं। इस दिशा में भी उनकी काव्य और जीवन-सम्बन्धी पूर्वपरिचित रुचि ही तत्पर है। रुचि-जन्य होने के कारण उनका इतिहास जन्त्री भी हो गया है; इसीलिए ऐतिहासिक कोटि में न आने वाली रचनाओं और रचयिताओं का भी उसमें संग्रंथन हो गया है। उनके इतिहास को बहुत-कुछ कवियों के इतिवृत्त का भी रूप धारण करना पड़ा है। शुक्लजी की विशेषता यह है कि उन्होंने ही हिन्दी-साहित्य का इतिहास लिखने की वैज्ञानिक पद्धति का श्रीगणेश किया। प्रारम्भ वे कर गये हैं, विकास नये इतिहासकारों का काम है। किन्तु अभी तक साहित्य के इतिहास-लेखक में व्यावसायिक अनुकरण ही अधिक चल रहा है, पाठ्य पुस्तकों की तरह। नवीनता नहीं आ रही है। भाषा-विज्ञान की तरह ही साहित्यिक इतिहास भी भौगोलिक, राजनीतिक और सामाजिक छान-बीन की चीज है, क्योंकि इन्हीं प्रवृत्तियों से भाषा और साहित्य दोनों बनते हैं। साहित्य जीवन की किन-किन प्रवृत्तियों (व्यक्ति, समाज और राजनीति) की निष्पत्ति है, इसके निदर्शन से ही साहित्य का इतिहास ऐतिहासिक स्वरूप पा सकता है, आज जैसे हम राष्ट्र का इतिहास लिखने का ढंग बदल रहे हैं वैसे ही साहित्य के इतिहास का ढंग भी बदलेंगे। नए ढंग का इतिहास लिखने में मनोवैज्ञानिक समीक्षा की बड़ी जरूरत पड़ेगी। जीवन के सङ्घर्ष में लगी पीढ़ियाँ ही कभी स्वस्थ होकर यह काम करेंगी। शुक्ल जी ने अपने इतिहास का नया संस्करण ऐसे समय में लिखा जब वे जराक्रान्त हो चुके थे; ऐसी स्थिति में भी उन्होंने भगीरथ पुरुषार्थ किया है। उनके पुरुषार्थ को नवीन तारुण्य मिलना चाहिए।

हिन्दी-साहित्य का इतिहास

शुक्लजी ने अपने 'इतिहास' के नए संस्करण में प्रसंगवश पहली बार वर्तमान सामूहिक आन्दोलनों पर भी किञ्चित् दृष्टिपात किया है। इन आन्दोलनों के सम्बन्ध में उनका कहना है कि "हमारे निपुण उपन्यासकारों को केवल राजनीतिक दलों द्वारा प्रचारित बातें ही लेकर न चलना चाहिए वस्तुस्थिति पर अपनी व्यापक दृष्टि भी डालनी चाहिए।"

किसान-आन्दोलन और मजदूर-आन्दोलन के बजाय उन्होंने शोषक साम्राज्य-वाद और पूँजीवाद को हटाने का संकेत किया। दूसरे शब्दों में वे विदेशी स्थापित स्वार्थों का उच्छेद चाहते थे जिसके बिना ये आन्दोलन देश की वस्तुस्थिति से दूर जा पड़ते हैं। साथ ही साहित्य में 'जगत् और जीवन के' उस 'नित्य रूप' की अभि-व्यक्ति भी बनाए रखने का उन्होंने परामर्श दिया है 'जिसकी व्यंजना काव्य को दीर्घायु प्रदान करती है'। तथास्तु।

पिछली परम्परा के आलोचकों में शुक्लजी ही सर्वप्रथम आलोचक हैं जिन्होंने

साहित्य को जीवन के सान्निध्य में रखकर देखा है।

उनकी समीक्षाओं से दो लाभ हुए—एक तो प्राचीन काव्यों के समुचित अध्ययन का अवसर मिला, दूसरे विधानवाद (रीति-शास्त्र को) मनोविज्ञान का आलोक भी मिला। हिन्दी-काव्य-समीक्षा को उन्होंने पिछली समीक्षा-सम्बन्धी अवस्थाओं से उबारा है। उनके जैसा नियामक और निर्णायक-समीक्षक दुर्लभ है।

शुक्लजी को शब्दोद्भावना का श्रेय भी प्राप्त है। अंग्रेजी के पारिभाषिक साहित्यिक शब्दों को उन्होंने हिन्दी के शब्द दिए हैं। ये स्थानापन्न शब्द चाहे मूल-शब्द के पूर्ण अर्थव्यंजक न होकर उनके निजी अभिप्राय के ही द्योतक हो गए हों, किन्तु शब्द-निर्माण की दिशा में उन्होंने नवीनता की प्रेरणा दी है। उनके पहले इतना भी नहीं हो सका था।

शुक्लजी की शैली विवेचनात्मक है। उनके नैबन्धिक गठन में परिपुष्टता और विचारों में समान शक्ति है, साथ ही प्रांजल सुस्पष्टता भी। इस गम्भीर शैली में उनके व्यंग, आक्रोश और वीभत्स दृष्टान्त अशोभन लगते हैं। उनके गम्भीर विवेचनात्मक वातावरण के बीच ये बहुत हल्के पड़ जाते हैं, किन्तु उन्हें क्षेपक की तरह निकाल देने पर उनके विचार अपनी गरिमा में गुरु-गम्भीर हैं। कहीं-कहीं उनके शुद्ध हास्य के छींटे हृदय को तरावट दे जाते हैं, तथा—"बिहारी की नायिका जब साँस लेती है तब उसके साथ चार कदम आगे बढ़ जाती हैं। घड़ी के पेण्डुलम की-सी दशा उसकी रहती है।" साथ ही मधुर रति की ओर उनका झुकाव होने के कारण इस परिहास में लाक्षणिकता चूक गई है—

एक कवि जी ने कहा है—

"काजर दे नहिं एरी सुहागिन !
अँगुरि तेरी कटेगी कटाछन।"

यदि कटाक्ष से उँगली कटने का डर है तब तो तरकारी चीरने या फल काटने के लिए छुरी, हँसिया आदि की कोई जरूरत न होनी चाहिए।

तृतीय खण्ड

प्रमुख कृतियाँ

२०. 'जायसी-ग्रन्थावली' की भूमिका

प्रो० कन्हैयालाल 'सहल'

हिन्दी-साहित्य में समालोचना का सूत्रपात करने वाले वास्तव में आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल ही थे, यदि यह कहा जाय तो इसमें शायद अत्युक्ति न होगी। निरर्थक भावुकता तथा बिना किसी निर्दिष्ट पद्धति के यों ही कवियों की श्रेणी बाँधने और एक कवि को दूसरे कवि से छोटा या बड़ा बतलाने की मनोवृत्ति को वे भौंडी बात समझते थे। अपने गम्भीर अध्ययन तथा तलस्पर्शिनी विवेचन-शक्ति के बल पर व्याख्यात्मक विश्लेषण द्वारा काव्य की अन्तरतम विशेषताओं को उन्होंने बड़े सुस्पष्ट रूप में रखा; शब्दों के घटाटोप में भावों को अन्तर्हित कर डालने की प्रवृत्ति (आजकल के कुछ समालोचकों में जैसे देखने में आती है) उनसे कोसों दूर थी। समीक्षा-क्षेत्र में उनकी सबसे बड़ी देन है पौर्वात्य तथा पाश्चात्य सिद्धान्तों का समन्वय करते हुए रस-सिद्धान्त की स्थापना। किन्तु इस सम्बन्ध में हमें यह याद रखना होगा कि शुक्लजी का झुकाव प्रबन्ध-काव्यों की ओर अधिक था और इसलिए उन्होंने अपनी आलोचनाओं के लिए भी गोस्वामी तुलसीदास के 'रामचरितमानस' और जायसी के 'पद्मावत' को चुना, जो दोनों ही हिन्दी-साहित्य के परम प्रसिद्ध प्रबन्ध काव्य हैं। प्रस्तुत लेख में हमें 'जायसी-ग्रन्थावली' की भूमिका के सम्बन्ध में ही दो शब्द कहने हैं।

शुक्लजी वाले संस्करण से पहले भी 'पद्मावत' के दो-चार संस्करण उपलब्ध थे किन्तु शुक्लजी वाला संस्करण यदि न निकलता तो विष-व्याख्या-मूर्च्छित 'पद्मावत' की जो हालत होती उससे जायसी की स्वर्गस्थ आत्मा भी क्षुब्ध हुए बिना न रहती। एक श्रेष्ठ समालोचक किसी कवि के यश को किस प्रकार अक्षुण्ण रख सकता है, जायसी की भूमिका इसका ज्वलन्त उदाहरण है। २७१ पृष्ठ की इस विस्तृत भूमिका को पढ़कर सहृदय पाठक जायसी के काव्य से प्रभावित हुए बिना नहीं रहता। श्री पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल ने ठीक ही कहा है कि शुक्लजी ने काव्य के अध्ययन के सम्बन्ध में वह परिस्थिति उपस्थित की कि जिससे पाठक अपने-आपको उस स्थिति में अनुभव करे जिस स्थिति में अनुभव करके रचयिता ने अपनी रचना का निर्माण किया। परीक्षा में बैठने वाले विद्यार्थियों ने केवल इस विशाल-काय भूमिका की

सहायता से अपनी परीक्षाएँ पास कीं और अब भी करते चले जा रहे हैं, प्रबन्ध-काव्य के भावी आलोचकों का पथ-प्रदर्शन भी इसी भूमिका ने किया है, यह नगेन्द्रजी के 'साकेत: एक अध्ययन' से स्पष्ट है।

इस भूमिका के पृष्ठ-पृष्ठ से शुक्लजी के संस्कृत रीति-ग्रन्थों के पूर्ण ज्ञान तथा अँग्रेजी साहित्य के उनके पाचनशील अध्ययन का परिचय हमें यथा-स्थान सम्यक् रूप से प्राप्त होता है। इसके अलावा उनकी सहृदय भावुकता भी पद-पद पर परिलक्षित होती है। शुक्लजी ने रागात्मक सम्बन्ध की रक्षा और निर्वाह पर जोर देकर काव्य में हृदय-पक्ष की महत्ता को ही प्रतिपादित किया है, इसलिए उन्होंने अपनी आलोचनाओं में भी कवि के हृदय को पाठकों के सामने खोलकर रख देने का प्रयत्न किया है। यही कारण है कि "उनकी आलोचनाओं को पढ़ते समय मस्तिष्क ही सक्रिय नहीं होता, हृदय का भी विस्तार होता है।" किन्तु इसके साथ-साथ यह कहना भी उतना ही सच है कि शुक्लजी ने कवि के हृदय को हमारे सामने जिस सहृदयता से रखा है उससे पाठक शुक्लजी के हृदय का परिचय भी अनायास ही पा जाते हैं। यही बात उनकी 'जायसी की भूमिका' के सम्बन्ध में समझिए।

शुक्लजी के काव्यालोचन के सम्बन्ध में श्री नन्ददुलारे वाजपेयी ने एक पते की बात कही है—"शुक्लजी का पहला ही सिद्धान्त-जगत् अव्यक्त की अभिव्यक्ति और काव्य उस अभिव्यक्ति की अभिव्यक्ति—कला में स्थूल रूप-चित्रण का पृष्ठपोषक बन गया है।" संभवतः इसीलिए उन्होंने जायसी की "प्रबन्ध-पटुता की जितनी प्रशंसा की है और बाह्य जीवन-व्यापारों का जितना विवरण दिया है, उनके रहस्यवाद की ओर वे उतने आकृष्ट नहीं हैं। कहा नहीं जा सकता कि जायसी के बदले उन्हें कोई मुक्तककार रहस्यवादी सूफी कवि दे दिया जाता तो वे उसकी कितनी कद्र करते। मेरा अपना अनुमान तो यही है कि हाफिज, रूमी या शेखसादी-जैसे बड़े-से-बड़े कवि भी उन्हें न जँचते, क्योंकि वे शुक्लजी की बँधी हुई परिपाटी पर नहीं चले हैं।" वाजपेयीजी की उक्ति में सत्यांश होते हुए भी हम इतना अवश्य कहेंगे कि प्रबन्ध-काव्य में उनकी अभिरुचि होने के कारण ही शुक्लजी जायसी की इतनी मार्मिक आलोचना कर सके; हो सकता है रहस्यवाद का उतना विवरण इस भूमिका में न हो पाया हो किन्तु यदि वे किसी कवि के रहस्यवाद से सर्वाधिक आकृष्ट हुए हैं तो वह जायसी का रहस्यवाद ही है। किन्तु इस सम्बन्ध में यह कहना आवश्यक है कि हमारे यहाँ आलोचना-क्षेत्र में शुक्लजी का कहा हुआ शब्द ही अंतिम शब्द मान लिया गया है; यह जहाँ उस उद्भट आलोचक की प्रतिभा का परिचायक है वहाँ हिन्दी के आलोचकों के दैन्य का दर्शक भी है। कुछ भी हो, 'जायसी की भूमिका' का मूल्य इससे कम नहीं होता। इस भूमिका ने जहाँ जायसी को प्रशस्त

रूप में जीवित बनाए रखा है, वहाँ यह आलोचक के महत्त्व का भी चिरकाल तक उद्घोष करती रहेगी।

श्री हजारीप्रसाद द्विवेदी के शब्दों में "पद्मावतकार मलिक मुहम्मद जायसी के काव्य-सौंदर्य को चमत्कारिक रूप से उद्घाटन करने का श्रेय हिन्दी के प्रसिद्ध आलोचक पं० रामचन्द्र शुक्ल को है। 'पद्मावत' की प्रस्तावना में आपने जैसी काव्य-मर्मज्ञता दिखाई है वैसी हिन्दी तो क्या अन्य आधुनिक भारतीय भाषाओं में भी कम ही मिलेगी। यह प्रस्तावना अपने-आपमें एक अत्यधिक महत्त्वपूर्ण साहित्यिक कृति है।"

पं० रामचन्द्र शुक्ल उन आलोचकों में से न थे जो अपने भाव-कार्पण्य को शब्दों के घटाटोप में छिपाकर यों ही छूँछी आलोचना करके व्यर्थ ही पृष्ठ-के-पृष्ठ रँग डालते हैं। उन्होंने जो कुछ दिया है वह उनके चिर-संचित ज्ञान का ठोस फल है। 'जायसी की भूमिका' को पाकर हिन्दी का आलोचना-साहित्य अपने-आपको धन्य अनुभव करता है। इसमें जायसी के प्रेम-तत्त्व, वियोग-पक्ष, रहस्यवाद, चरित्र-चित्रण, मार्मिक स्थल आदि का बड़ी सहृदयता से वर्णन किया गया है। जहाँ पर शुक्लजी ने कार्यान्वय (unity of action), पद्मावत की कथा के आदि, मध्य और अन्त की ओर संकेत किया है वहाँ पर वे स्पष्ट ही अरस्तू के विवेचन से लाभ उठाते हुए जान पड़ते हैं। उन्होंने पाश्चात्य तथा पौर्वात्य दोनों आलोचना-साहित्यों का गम्भीर अध्ययन किया था। अंग्रेजी आलोचकों में वे रिचर्ड्स से अधिक प्रभावित थे। रिचर्ड्स ने जैसे शुक्लजी के मतानुसार आलोचना-क्षेत्र का कूड़ा-करकट दूर किया, उसी प्रकार हिन्दी-आलोचना में शुक्लजी ने भी आलोचना की सम्यक् दृष्टि लोगों के सामने रखी। किसी समय चमत्कारिक क्रीड़ा में ही कविता की चरम सार्थकता समझी जाने लगी थी। शुक्लजी ने इस भूमिका में उस ऊहात्मक पद्धति का विरोध किया है जिसमें काव्य हृदय की वस्तु न रहकर कौतुक और खिलवाड़ का रूप धारण कर लेता है। जायसी ने जहाँ अरोचक और अनपेक्षित प्रसंगों का सन्निवेश किया है, वहाँ वर्णन में वस्तु नामावली का जो अरोचक विस्तार पाया जाता है, उसका भी एक प्रकृत काव्य-रसिक की भाँति उन्होंने विरोध किया है। जायसी की भाषा तथा अलंकारों आदि का जहाँ वर्णन किया गया है वह वास्तव में अध्ययन की वस्तु है। इस सम्बन्ध में यह न भूल जाना चाहिए कि शुक्लजी जहाँ शास्त्रनिष्ठ प्रकाण्ड पण्डित थे, वहाँ वे एक अच्छे भाषाविद् भी थे। वे किसी विषय पर विवेचना करते समय बड़े नपे-तुले शब्दों में अपनी सम्मति प्रकट करते थे। ऐसे सतर्क आलोचक की उत्साह भरी दाद को पाकर जायसी की स्वर्गस्थ आत्मा भी धन्य हो गई होगी।

हिन्दी में इस प्रकार की विस्तृत भूमिकाएँ लिखने की प्रथा शायद शुक्लजी

ने ही चलाई। बहुत दिन हुए, राजस्थानी-साहित्य के पारखी स्वर्गीय सूर्यकरण पारीक द्वारा सम्पादित 'किसन रुक्मिणी री वेली' की विस्तृत भूमिका पढ़ने का अवसर मुझे प्राप्त हुआ था। उसको पढ़ कर मुझे लगा था कि विद्वान् सम्पादक पर स्पष्ट ही 'जायसी की भूमिका' की छाप है। यही क्यों, हिन्दी की अनेक पुस्तकें इस सम्बन्ध में उदाहरणार्थ रखी जा सकती हैं।

जैसा ऊपर उल्लेख किया गया है, शुक्लजी की वृत्ति प्रबन्ध-काव्यों में अधिक रमती थी, क्योंकि जीवन और जगत् के सर्वांगीण प्रदर्शन का क्षेत्र प्रबन्ध-काव्य ही है। इसलिए शायद यह भूमिका और भी अच्छी बन पड़ी है। यह भी कहा गया है कि शुक्लजी ने सूफी रहस्यवाद की कोई विस्तृत विवेचना नहीं की। किन्तु इसमें संदेह नहीं कि उन्होंने जो कुछ लिखा है, वह दृढ़ आधार-शिला पर प्रतिष्ठित है।

जायसी की भूमिका अलग पुस्तकाकार में प्रकाशित होने योग्य है। जायसी के अध्ययन के लिए यह कितनी उपयोगी है इसका अनुमान वे ही लगा सकते हैं जिन्होंने इसका भली-भाँति अध्ययन किया है किन्तु इस प्रकार की भूमिकाओं से कभी-कभी एक नुकसान भी हो जाता है। बहुत से पाठक भूमिका-भाग को पढ़कर ही संतोष कर लेते हैं, मूल-ग्रन्थ पढ़ने की उनकी प्रवृत्ति जाती रहती है। बहुत से छात्रों ने मुझसे कहा—"बस भूमिका पढ़ ली, काम समाप्त हुआ। यह तो स्वयं एक ग्रन्थ है, अब 'जायसी-ग्रन्थावली' को कौन पढ़े?" जायसी की भूमिका का अध्ययन कम ही छात्र करने पाते हैं—छात्र ही क्यों, हिन्दी के अन्य आलोचकों ने भी जायसी के सम्बन्ध में एकाध फुटकल लेख-लिखने के अलावा और क्या किया है? किन्तु समझ में नहीं आता, इसके लिए जायसी की भूमिका पर दोषारोपण किया जाय अथवा हिन्दी के अध्ययनशील पाठकों की मनोवृत्ति का उपहास?

२१. 'तुलसी-ग्रन्थावली' की भूमिका—

डॉक्टर सत्येन्द्र

पं० रामचन्द्र शुक्लजी ने जिस समय लेखनी उठाई थी, वह हिन्दी के द्वितीय उत्थान का प्रभात था। राष्ट्र-प्रेम की मान्यता के साथ हिन्दी-प्रेम की रेखा भी ऊँची चढ़ चुकी थी—विविध शोधों से हिन्दी के प्राचीन साहित्य में ऐसी अनूठी वस्तुओं का तो पता लग चुका था जो विश्व-साहित्य की विभूति हो सकती थीं, देश-साहित्य में तो निश्चय ही प्रथम कोटि की थीं। इस द्वितीय उत्थान की विशेषता मुख्यतः यह रही कि विविध विश्वविद्यालयों ने अपनी ऊँची कक्षाओं में हिन्दी को पाठ्य-विषय बना लिया। प्रायः सभी प्राप्य उच्चकोटि के ग्रन्थ इन परीक्षाओं में रखे गए। साहित्य के अध्ययन की वैज्ञानिक प्रणाली आरम्भ हुई। उस प्रणाली के आरम्भकर्त्ताओं में बा० श्यामसुन्दरदास तथा पं० रामचन्द्र शुक्ल अग्रगण्य रहे। ये काशी-विश्वविद्यालय के अध्यापक थे।

काशी के प्रोफेसरों को भी विद्यार्थियों को पढ़ाते-पढ़ाते अपनी सहायता और विद्यार्थियों के लाभार्थ कुछ लिखना पड़ा। जो लिखा गया। उसमें ज्ञान-विस्तार के साथ युक्तियुक्तता पर भी ध्यान रखा गया। इस काम के इस अध्ययन के प्रयास को भी समालोचना का नाम दिया गया। किसी कवि का वैज्ञानिक अध्ययन ही समालोचना का पर्यायवाची, इस काल में माना जाने लगा। इस प्रकार की पद्धति में सबसे अधिक योग-दान शुक्लजी ने किया। एक प्रोफेसर में जिस ग्राहकत्व का भाव होता है, वह इनमें था। इन्होंने जो लिखा उसमें इस ग्राहिका शक्ति का पूरा-पूरा पता मिलता है। इस शक्ति के बाद व्याख्या और टिप्पणी, विषय का विश्लेषण करके निष्कर्षों का आनयन, उनको एक व्यवस्था में खड़े करना—और अपने अध्ययन के विषय का जितने विविध रूपों में हो सके व्यापक प्रत्यक्षीकरण करना—ये इस प्रणाली की प्रमुखताएँ थीं। इसमें संदेह नहीं कि यह प्रणाली Matter of course प्रणाली है, annotation पद्धति है। विश्लेषण में शास्त्रीय, scholastic इस प्रणाली के हिन्दी में प्रधान प्रचेता शुक्लजी ही थे। इसी प्रणाली में

आपने कई ग्रन्थ लिखे हैं—वे ग्रन्थ निस्संदेह ग्रन्थ नहीं वरन् वास्तविक ग्रन्थों की भूमिकाएँ हैं। 'जायसी-ग्रन्थावली' कीभूमिका; सूर के'भ्रमर-गीत' की भूमिका;'तुलसी-ग्रन्थावली की भूमिका; इनमें लेखक ने कवि और उनके काव्य सभी पर लिखा।

शुक्लजी की 'गोस्वामी तुलसीदास' नाम की एक अलग पुस्तक भी है, जिसके द्वितीय संस्करण में "(गोस्वामी तुलसीदास की) जीवन-वृत्त-संग्रह इस पुस्तक का उद्देश्य न होने से इस संस्करण से 'जीवन-खण्ड' निकाल दिया गया है। अब पुस्तक अपने विशुद्ध आलोचनात्मक रूप में है।" यह ग्रन्थ उनकी समालोचना-प्रणाली का अच्छा दिग्दर्शन कराता है।

इस वर्ग के समालोचक किसी एक कृति को नहीं, कवि के पूरे कर्म को दृष्टि के सामने रखने का प्रयास करते हैं। उसके सम्पूर्ण कवि-कर्म में जो बातें मिलती हैं, उनका वर्गीकरण करके उनके अनुसार अपनी व्याख्या उपस्थित करते हैं। इसी पद्धति के अनुसार शुक्लजी ने 'तुलसीदस' में कवि के सभी ग्रन्थों के उदाहरणों और उद्धरणों से विविध विषयों पर निबन्ध उपस्थित किये हैं। 'तुलसी की भक्ति-पद्धति' को लीजिए। इसमें लेखक ने 'रामचरित-मानस', 'दोहावली' और कवितावली के उदाहरण देकर यह दिखाने का प्रयास किया है कि तुलसी की भक्ति प्राचीन भारतीय परम्परा से सम्बन्धित है, जिसमें भगवान् के लोक-व्यापार-व्यापी मंगलमय रूप की प्रतिष्ठा है, जिसमें पाश्चात्य भक्तिवाद की भाँति 'रहस्यवाद' नहीं, जिसमें छोटे से अन्तःकरण के बीच दिखने वाले 'अन्तर्जामिहु ते बड़े बाहरजामी हैं राम', जिसमें निष्कामता है, जिसमें शील और सदाचार आवश्यक अंग हैं। प्रत्येक निबन्ध में इसी प्रकार उस विषय-सम्बन्धी तुलसी की मान्य विशेषताएँ स्पष्ट की गई हैं। प्रकृति और स्वभाव में उन्हें पाखण्ड से चिढ़ने वाला सरल, शान्त, गम्भीर, नम्र और सदाचार की मूर्ति माना गया है। लोक-धर्म में धर्म के सब पक्षों में सामञ्जस्य, धर्म के विरोधी सम्प्रदायों में अविरोध, उनके आधार भक्ति, कर्म और ज्ञान, तथा उनके भिन्न-भिन्न उपास्य देवों का एक में पर्यवसान, लोक-धर्म की प्रधानता कि जिसमें रावण के लिए राम की कामना है—ये तुलसी की मान्यताएँ दी हैं। 'धर्म और जातीयता का समन्वय', 'मंगलाशा' में तुलसी को भारतीय संस्कृति का रक्षक तथा राम-रावण से 'मंगलाशा' की कल्पना देने वाला माना गया है। 'लोकनीति और मर्यादावाद' में राम-राज्य में अपनी-अपनी मर्यादाओं में सभी सुखी, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र तथा स्त्री भी। शील-साधना और भक्ति में सौन्दर्य, शील और शक्ति का तुलसी का रूप उपस्थित किया है, ज्ञान और भक्ति में उनमें औपनिषदिक वेदान्त, मायावाद, विशिष्टाद्वैत आदि के आभास और विश्वास तथा सिद्धान्त मिलते हैं। पर तुलसी भक्तिमार्गी हैं अतः ज्ञान-मार्ग के सिद्धान्त ढूँढना ठीक नहीं—

यह बताया गया है । तुलसी की काव्य-पद्धति में बताया गया है कि गोस्वामीजी की रुचि काल के अतिरंजित या प्रगति स्वरूप की ओर नहीं थी,'''उनकी दृष्टि वास्तविक जीवन-दशाओं के मार्मिक पक्षों के उद्घाटन की ओर थी, काल्पनिक वैचित्र्य-विधान की ओर नहीं; उनमें कलाबाजी तथा चमत्कार-विधान नहीं; इसका अपवाद वही है जहाँ गोस्वामीजी ने सब प्रकार की प्रचलित पद्य-शैलियों और साहित्य-शैलियों के अनुकरण में कुछ लिख लिया है। दोहावली और मानस में कवि धर्मोपदेशक और नीतिकार भी है। उनकी रचनाएँ 'स्वान्तः सुखाय' हैं पर उनमें प्रेषणीयता (Communicabilty) बहुत है। उनकी रचनाएँ मानस बाह्यार्थ निरूपक (objective) हैं, प्रबन्ध महाकाव्य होने के कारण ही। तुलसी की निजी अनुभूति भी एकदम सबसे भारी नहीं। 'तुलसी की भावुकता' में सिद्ध है कि मर्म-स्पर्शी स्थलों का विस्तृत और विशद वर्णन करने में तुलसी चूके नहीं । मानस के इतने विस्तार वाले प्रबन्ध में मानस-प्रवृत्ति के अनेकाधिक रूपों के साथ गोस्वामीजी के हृदय का रागात्मक सामंजस्य हम देखते हैं । चातक में प्रेमभाव का अत्यन्त उत्कर्ष तुलसी ने प्रकट किया है । गोस्वाभी का प्रेम पूज्य-बुद्धिगर्भित होकर भक्ति के रूप में था, जिसमें शील और भक्ति का अभेद है । इस प्रकार मानस के विविध पात्रों के उदाहरण देकर इस निबन्ध में लेखक ने विविध रस-स्थलों की विशदता दिखाई है। 'शील-निरूपण और चरित्र-चित्रण' में विविध चरित्रों पर विचार हैं। 'बाह्यदृश्य-चित्रण' में विविध बाहरी वस्तुओं के वर्णन में तुलसी में संश्लिष्ट-योजना और शब्द-सौन्दर्य-प्रधान परिगणन-प्रणाली की रचनाओं का भेद दिखाया गया है, और तुलसी की दशा-वर्णन में अत्यन्त परिमार्जित रुचि होना सिद्ध किया गया है। 'अलंकार विधान' में तुलसी के अलंकारों को निम्न क्रम से लेकर उन्हें सिद्ध किया है : (१) भावों को उत्कर्ष-व्यञ्जना में सहायक, (२) वस्तुओं के रूप का अनुभव तीव्र करने में सहायक, (३) गुण का अनुभव तीव्र करने में सहायक, (४) क्रिया का अनुभव तीव्र करने में सहायक । साथ ही यह बताया है कि तुलसी अलंकारों के खिलवाड़ में नहीं पड़ा। 'उक्ति-वैचित्र्य' और भाषा पर अधिकार तथा 'कुछ खटकने वाली बातें' बताकर 'हिन्दी-साहित्य में गोस्वामीजी का स्थान' निरूपित किया गया है।

इस प्रकार इस संक्षिप्त दर्शन से यह सिद्ध होता है कि लेखक ने जहाँ कवि के संपूर्ण को दृष्टि में रखा है, वहाँ उसकी प्रणाली में Matter of course समूल-प्रत्यक्ष दृष्टि की प्रधानता है । मोटी-मोटी विशेषताओं को एक-एक करके क्रम-बद्ध रूप में रख दिया गया है। इस शैली में संश्लिष्टता का सौन्दर्य नहीं होता, न गहरी विश्लेषण प्रणाली इसमें प्रयुक्त होती है । सीधी-सादी क्रम-पूर्वकता की ओर

दृष्टि रहती है। विविध स्थानों में कवि द्वारा कथित विभिन्न वक्ताओं के वर्ग निश्चित करके उन्हें सुसम्बद्ध कर देने के बाद फिर उनकी युक्तियुक्तता पर विचार किया जाता है—युक्तियुक्तता से अभिप्राय शुद्ध युक्तिवाद (reasonability) से नहीं (reason) कार्य-कारण की अव्याहत प्रणाली से नहीं, वरन् उस प्रणाली से है जिसे अंग्रेजी में (justification) की प्रणाली कहते हैं, यह प्रणाली प्रशंसात्मकता (appreciation) से भिन्न है। इसका लेखक जैसे वकील होकर कवि के विचारों और भावों को युक्ति-युक्त बनाता है। इस प्रणाली का प्रत्यक्ष दोष यह होता है कि लेखक में तो अतर्क को तर्क मानने का आग्रह दिखाई पड़ता है, कहीं अप्रमाण को प्रमाण। शुक्लजी में हम देखते हैं कि तुलसी के मर्यादावाद की सार्थकता सिद्ध करते हुए उन्होंने जो तर्क दिए हैं वे यथार्थ में तर्क नहीं। तर्क में जो एक स्वयं-सिद्धता होनी चाहिए वह उनमें नहीं। उनका यह कहना कि समाज के प्रति कर्त्तव्य के भार का नीची श्रेणियों में जाकर क्रमशः कम होना अयथार्थ है, यह युक्ति-मात्र है, वर्णाश्रम को उचित सिद्ध करने के लिए। इसी प्रकार सूर में स्पष्टवादिता और खरेपन का विरोध करते हुए जो प्रमाण उनके काव्य का दिया गया है, वह अप्रमाण है, क्योंकि सूर के भाव का ज्ञान उसकी एक-दो पंक्तियों से नहीं लगाता, वह तो व्यापक है। दूसरे ऐसे एक-दो प्रमाण स्पष्ट मिल सकते थे जिनमें ऐसा व्यंग न हो। 'आज हौं एक-एक करि लरिहौं' ये जो औद्धत्य है, वह तुलसी में नहीं मिल सकेगा, क्योंकि तुलसी का आत्म-भाव राम के प्रति वह नहीं जो सूर का कृष्ण के प्रति है।

इस प्रणाली में हमें यह भी देखने को मिलता है कि लेखक या समालोचक वस्तु की गहरी परीक्षा के लिए उत्सुक नहीं रहता। वह वैसे किसी आरोपित आक्षेप को उत्तर देकर जितने से निवारण कर सकता है उतना ही कहना बस समझता है। इस प्रकार एक स्थूलता और एक समधरातलता आदि से अन्त तक मिलती है।

इस कोटि के सभी समालोचक वाच्य यानी प्रत्यक्ष कोटि प्रधान मानते हैं; इससे किसी हद तक सुबोधता और दंभहीनता तथा सौजन्य इनमें मिलता है। यह वर्ग वैज्ञानिक होने की चेष्टा में रहा। उक्त प्राचीन शास्त्रीय प्रणाली के अनावश्यक रूढ़ों को तो इसने तोड़ा, पर विवेचन में उपयोगी तत्त्वों को कुछ नये क्रम और रूप के सहारे उपस्थित करने में हिचक नहीं की। अलंकार-विधान में अलङ्काराचार्यों के दिये नाम और लक्षणों के सहारे अपनी नई विवेचना को उपस्थित किया गया है। किन्तु इस सुन्दरता में रूप-सौन्दर्य ही प्रत्यक्ष होता है। सौन्दर्य के स्फूर्ति-स्रोत तक नहीं पहुँचा जाता।

विविध रूढ़ियों का उच्छेदन करने पर भी कुछ उत्तराधिकरण इनमें अपने निजी आग्रह से आ जाते हैं। शुद्ध मानसिकता नहीं हो पाती। वर्ण-व्यवस्था में आस्था,

साम्य और समाजवाद का विरोध, ऐसे उत्तराधिकरण हैं। रहस्यवाद को अभारतीय मानने तथा सूर का कृष्ण के शृंगारिक वर्णन को विलासिता के काल का प्रेरक मानने की ऐतिहासिक भूलें भी हो जाया करती हैं। इन उत्तराधिकरणों के कारण हम देखते हैं कि लेखक इन स्थलों पर अपने-आपको संयत नहीं रख सका। जहाँ इसका प्रसंग आया नहीं कि लेखक निबन्ध की सुसम्बद्धता को बिसराकर उन पर अपना मतामत ही नहीं आक्रोश तक प्रकट करने लग जाता है। 'तुलसीदास' में तो शुक्लजी से ऐसा कई स्थानों पर हो गया है। भारतीय भक्ति को रहस्यवाद से भिन्न बताने और उसे पश्चिमी प्रभाव से रहस्य के सहारे खड़े ज्ञानवाद को विकृत बताकर उस पर तुलसी की पद्धति को श्रेष्ठ सिद्ध करने की चेष्टा पुस्तक में स्थल-स्थल पर मिलती है।

इस प्रकार यह प्रणाली जहाँ अध्ययन में अत्यधिक सहायक है, जहाँ आधुनिक वैज्ञानिक समालोचना की ओर ले जाने वाली सीढ़ी है, वहाँ अपने अभावों में भावी उन्नति के बीज भी लिये हुए है। शुक्लजी सीधे नहीं तो किसी-न-किसी रूप में आज की हिन्दी-मेधा को प्रभावित करने वाले रहे हैं, उनकी समालोचना-प्रणाली ने एक नई गति पैदा अवश्य की।

२२. 'भ्रमर-गीत-सार' की भूमिका

प्रोफेसर गुलाबराय

यदि काव्य भाषा का कोई शब्द आलोचना के क्षेत्र में स्थानान्तरित किया जा सकता हो तो मैं कहूँगा कि शुक्लजी की आलोचना के आलम्बन तीन थे—तुलसी, जायसी और सूर। शुक्लजी ने इन तीन कवियों को ही अपनी आलोचना का विषय क्यों बनाया, इसके लिए बाह्य और प्रासंगिक कारण (जैसे विश्वविद्यालय में अध्यापन की आवश्यकता अथवा नागरी-प्रचारिणी-सभा द्वारा 'तुलसी-ग्रन्थावली' का प्रकाशन आदि) चाहे हों, किन्तु इस चुनाव में उनकी मानसिक प्रवृत्तियों का विशेष भाग है।

तुलसीदास की आलोचना उनकी विजय-वैजयन्ती ही नहीं है वरन् वह उनके मानस-शरोर की जीवन-धारा है। उसमें हम जीवन के प्रति न्याय-परक अनुराग का, जो शुक्लजी को विचार-धारा का मूल उत्स है, प्रत्यक्षीकरण पाते हैं। उसके द्वारा वे लोक-मंगल की साधनावस्था अर्थात् कर्तव्य सौन्दर्य के और संसार की अनेकरूपता में व्यक्त ब्रह्म की सौन्दर्य शक्ति और शीलमयी दिव्य झाँकी के पुण्य दर्शन कर सकते हैं। सूर में भी वे ही भावनाएँ हैं किन्तु ब्यौरे के कुछ न्यूनाधिक्य के साथ। यद्यपि सूर में प्रेम की एकान्त साधना का प्राधान्य है तथापि वह प्रेम आकाश-गंगा-सा निराधार नहीं है। उसका जीवन में आरोप नहीं वरन् स्वाभाविक विकास हुआ है। वह बाल-लीला का सहज परिणाम है, उसमें रूप-लिप्सा की अपेक्षा साहचर्य-भावना की प्रबलता है। जो चिर-साहचर्य की भावना शुक्लजी को प्रकृति का प्रेमी बनाती है वही उनको सूर के प्रेम-वर्णन के लिए रस-प्रवण करती है। यद्यपि शुक्लजी लोक-मंगल की साधनावस्था को अधिक महत्त्व देते हैं तथापि वे मंगल की सिद्धावस्था के विरोधी नहीं, यदि वह स्वस्थ और स्वाभाविक हो। शुक्लजी के मत से सूर की गोपियों के प्रेम में जायसी की अपेक्षा कहीं अधिक और तुलसी की अपेक्षा कुछ कम स्वभाविकता और स्वस्थता है।

सूर और तुलसी दोनों ही ब्रह्म के सगुण रूप के उपासक थे । निर्गुण ब्रह्म की आलम्बन-हीनता के विरोध-प्रदर्शन में जो कुछ कसर तुलसी में रह गई थी उसको पूरा करने का सूर में अच्छा अवसर था । तुलसी की भाँति सूर भी भस्म और अधारी वाले कनफटे गोरखपंथी जोगियों के विरोधी थे । सूर की गोपियाँ प्रेम में व्यक्तित्व का महत्त्व जानती थीं । पद्मावत और रत्नसेन के प्रेम-व्यापार की प्रारम्भिक अवस्था में जिस व्यक्तित्व की कमी दिखाई पड़ती है उस व्यक्तित्व का मूल्याङ्कन गोपी-उद्धव-संवाद में पूरी तौर से दृष्टिगोचर होता है । निर्गुण की अपेक्षा सगुण की उपादेयता दिखाने का अवसर शुक्लजो छोड़ नहीं सकते थे । इसी से उन्होंने भ्रमर-गीत-प्रसंग चुना ।

जायसी की आलोचना को बनाने के भी कई कारण थे । उनमें से मुख्य था रहस्यवाद का अपेक्षाकृत स्वस्थ रूप दिखाना । शुक्लजी ईसाई रहस्यवाद की अपेक्षा सूफियों के रहस्यवाद को कुछ अच्छा समझते थे । जायसी में प्रेम की अस्वाभाविकता होते हुए भी तुलसी को भाँति प्रबन्ध-प्रियता है और वह मानसिक होने के कारण शुद्ध और मर्यादित भी है । उसमें हिन्दू आदर्शों की छाप है; उसमें व्यक्त आलम्बन द्वारा ही अव्यक्त की ओर इशारा किया गया है । इस प्रकार शुक्लजी की आलोचना के तीनों ही आलम्बन उनकी मानसिक वृत्ति से मेल खाते हैं और इसीलिए वे उनकी समीक्षा करने में समर्थ हुए ।

आलोचक के सामने एक आदर्श रहता है जिसके आलोक में वह कवि की कृति का अध्ययन करता है । शुक्लजी के सामने भी एक आदर्श था । शुक्लजी ने विभाव और भाव पक्ष की परस्परानुकूलता ही कवि-कर्म के साफल्य की कसौटी मानी है । इसी कसौटी को लेकर उन्होंने दिखाया कि सूर का विभाव पक्ष यद्यपि सीमित है तथापि वह अपनी सीमा में पूर्ण है और वह उनके भाव पक्ष के सर्वथा अनुकूल है । शुक्लजी यद्यपि जीवन की अनेकरूपता के विशेष पक्षपाती हैं और इसी के वर्णन के कारण वे तुलसी को सर्वोपरि स्थान देते हैं तथापि वे सूर के सीमित क्षेत्र से असन्तुष्ट नहीं हैं । शुक्लजी ने सूर का क्षेत्र सीमित दिखलाकर उसकी हीनता नहीं बतलाई वरन् सच्चे सहृदय समालोचक की भाँति उसकी परमिति के कारण भी बतलाए हैं । वे हैं गीत-काव्य का माधुर्य-प्रधान होना और उस भावना के अनुकूल जीवन की बाल-वृत्ति और यौवन-वृत्ति को ही लेना । वास्तव में माधुर्य तो बाल और यौवन-काल ही में है । वृद्धावस्था में 'अंगं गलितं पलितं तुण्डं दशन-विहीनं जातं मुण्डं' की बात रह जाती है । उसमें क्या आकर्षण ? यद्यपि सूर ने उस अवस्था का सीधा वर्णन नहीं किया है तथापि शृंगार और वात्सल्य के साथ वृद्धावस्था के अनुकूल भगवत्-विषयक रति को भी लिया है ।

यद्यपि भ्रमर-गीत में श्रृंगार की ही मुख्यता है तथापि विषय की पूर्णता के लिए उसकी भूमिका में शुक्लजी ने सूर के वात्सल्य पर भी प्रकाश डाला है। वात्सल्य-वर्णन में श्रीकृष्ण की बाल्योचित चेष्टाओं को शुक्लजी ने उद्दीपन ही माना है, क्योंकि आलम्बन की चेष्टाएँ उद्दीपन होती हैं और आश्रय की चेष्टाएँ अनुभव कहलाती हैं।

बाल-वर्णन की स्वाभाविक स्वच्छन्दता के अतिरिक्त शुक्लजी उसमें पशुचारण-काव्य (Pastoral poetry) का सौन्दर्य पाते हैं। प्रकृति-प्रेम से अनुकूलता रखने के कारण शुक्लजी के मन में इसकी महत्ता बढ़ जाती है। शुक्लजी ने बाल्य और यौवन-लीलाओं के संक्रान्ति काल का बड़ा सुन्दर दिग्दर्शन कराया है। 'खेलन हरि निकसे ब्रज खोरी' और इसी खेल में 'सूर श्याम देखत ही रीझे, नैन-नैन मिल परी ठगौरी।' 'बूझत श्याम कौन तू गोरी' 'तुम्हरो कहा चोरि हम लै हैं? खेलन चलों संग मिलि जोरी' इस उद्धरण को देते हुए शुक्लजी कहते हैं कि खेल-ही-खेल में इतनी बड़ी बात हो गई है जिसे प्रेम करते हैं। प्रेम का यह स्वाभाविक उदय ही तो सूर के प्रेम को जायसी के प्रेम से पृथक् करता है। जिस प्रकार कवि जीवन के मार्मिक स्थलों को देखता है आलोचक भी कवि की कृति के मार्मिक स्थलों का उद्‌घाटन करता है। शुक्लजी ने राधा-कृष्ण-प्रेम की प्रारम्भिक अवस्था के गो-दोहन-सम्बन्धी जो दो-चार पद सूर-सागर से छाँटकर रखे हैं वे इस बात के परिचायक हैं कि उस श्रुत-सम्मत नीति-पथ पर चलने वाले तुलसी के आलोचक में भी भावुक हृदय छिपा हुआ है। शुक्लजी ने चाहे तुलसी की अपेक्षा सूर को नीचा स्थान दिया है तथापि उन्होंने सूर के प्रेम-प्रसंग-वर्णन की मुक्त कंठ से प्रशंसा की है "कहने का सारांश यह है कि प्रेमनाम की मनोवृत्ति का जैसा विस्तृत और पूर्ण परिज्ञान सूर को था वैसा और किसी कवि को नहीं। इनका सारा संयोग-वर्णन लम्ब-चौड़ी प्रेम-चर्चा है जिसमें आनन्दोल्लास के न जाने कितने स्वरूपों का विधान है।" देव से तुलना करते हुए शुक्लजी कहते हैं कि उनके अष्टछाप में न वह अनेक-रूपता है और न प्राकृतिक जीवन की वह उमंग। सूर ने यदि जीवन की अनेकरूपता नहीं दिखाई तो प्रेम की अनेकरूपता अवश्य दिखाई है। शुक्लजी इस अनेकरूपता की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित करने में पूर्णतया समर्थ हुए हैं। शुक्लजी ने सूर के संयोग-वर्णन में आलम्बन और आश्रय के भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणों से किये हुए नेत्रों के वर्णनों की ओर ध्यान आकर्षित किया है और सम्बन्ध-भावना पर भी अधिक जोर दिया है। मुरली के प्रति कही हुई उक्तियों में सम्बन्ध-भावना का अच्छा उदाहरण मिलता है। उद्धव के उपहास में भी यही सम्बन्ध-भावना काम करती है। प्रियजन से सम्बन्ध रखने वाली सभी वस्तुएँ प्रिय और हास्य-विनोद का विषय होती हैं, यह एक मनोवैज्ञानिक तथ्य है जिसकी ओर शुक्लजी ने पाठकों का ध्यान

आकर्षित किया है ।

प्रेम के वियोग-पक्ष में शुक्लजी ने वात्सल्य और दाम्पत्य-प्रेम दोनों को ही लिया है और वे वात्सल्य के सम्बन्ध में 'नन्द ब्रज लीजै ठोंकि बजाय' की उपालम्भ-भरी व्यंजना को पूर्ण प्रकाश में लाये हैं । इसमें उन्होंने विनोद, तिरस्कार और अमर्ष की भावशवलता दिखाई है ।

शुक्लजी का यह कथन कि गोपियों के गोपाल केवल दो-चार कोस दूर के एक नगर में राज-सुख भोग रहे थे । सूर का वियोग-वर्णन वियोग-वर्णन के लिए ही है परिस्थिति के अनुरोध से नहीं । कुछ एकाङ्गी और तुलसी को अधिक महत्त्व देने के उद्देश्य से लिखा हुआ मालूम होता है । गोपियाँ इसलिए नहीं रोती थीं कि कृष्ण दूर थे वरन् इसलिए कि कृष्ण का दृष्टिकोण बदल गया था । 'हरि अब राजनीति पढ़ि आए' । गोपियों के प्रेम को खिलवाड़ मानते हुए भी शुक्लजी उनके भाव-सौन्दर्य पर सच्चे रसिक की भाँति मुग्ध थे । वे उनके विरह में प्रकृति के साथ सहज सम्बन्ध को देखते हैं 'एक बन ढूँढ़ि सकल बन ढूँढ़ौ, कतहुँ न श्याम लहौं'। ऋतु-वर्णन में वे केवल उद्दीपन भाव के ही उदाहरण नहीं देखते वरन् उनमें गोपियों की अन्तर्दशा का बिम्ब-प्रति-बिम्ब-भाव देखते हैं । विषय-विस्तार के कारण अधिक ब्यौरे में जाना उचित न होगा, किन्तु यहाँ पर यह बतला देना आवश्यक है कि शुक्लजी ने जहाँ पर गोपी-उद्धव-संवाद का वर्णन किया है वहाँ वे कुछ-कुछ स्वयं भावातिरेक की दशा को पहुँच गए हैं; क्योंकि सगुण का पक्ष-समर्थन उनकी मानसिक वृत्ति से अधिक मेल खाता है । यह भावातिरेक उनके पाण्डित्य पर विजय नहीं पाता और बीच-बीच में वे वितर्क, मति आदि सञ्चारियों की शास्त्रीय परिभाषा का भी उपयोग करते चलते हैं ।

'प्रेम के जिस हास-क्रीड़ामय स्वरूप को सूर ने लिखा है विप्रलम्भ दशा के अश्रु और दीर्घ निश्वास के बीच में भी बराबर उसकी क्षणिक और क्षीण रेखा झलक जाती है' इस बात को शुक्लजी ने भली-भाँति प्रमाणित कर दिया है । 'भ्रमर-गीत-सार' की भूमिका में गाम्भीर्य के साथ एक सुखद हल्कापन आ जाता है । शुक्लजी गोपियों की ज्ञान-मार्ग के प्रति झुँझलाहट के साथ पूर्ण सहानुभूति रखते हैं । 'निर्गुन कौन देश को बासी ?' की व्याख्या करते हुए वे बड़े आनन्द के साथ कहते हैं—

"स्त्रियों के स्वाभाविक हाव-भाव भरे ये वचन हैं—'कसम है, हम ठीक-ठीक पूछती हैं कि तुम्हारा निर्गुण कहाँ का रहने वाला है' कुछ विनोद, कुछ चपलता, कुछ भोपालन, कुछ घनिष्ठता कितनी बातें इस छोटे-से वाक्य में टपकती हैं ।"

इस प्रकार से हम देख सकते हैं कि शुक्लजी की आलोचना में जहाँ पूर्ण सहृदयता है उसी के साथ गुण-दोष-दर्शन की पूर्ण निष्पक्षता भी है । सूर के गुणों

का रसास्वादन करते हुए उनकी न्यूनताओं के उद्घाटन में तथा उनके कारण बतलाने में शुक्लजी ने बड़े संतुलन से काम लिया है। सूर की आलोचना में भी यद्यपि तुलसी को महत्ता दी गई है तथापि सूर के मूल्यांकन में किसी प्रकार की अनुदारता नहीं दिखाई गई। सूर जिस क्षेत्र में बड़े हैं उसमें तुलसी भी उनका मुकाबला नहीं कर सकते। अपने इतिहास में 'गीतावली' के सम्बन्ध में शुक्लजी कहते हैं:—"गोस्वामी तुलसीदास ने 'गीतावली' में 'बाल-लीला' को इनकी देखा-देखी बहुत अधिक विस्तार दिया सही, पर उसमें बाल-सुलभ चेष्टाओं की वह प्रचुरता नहीं आई, उसमें रूप-वर्णन की ही प्रचुरता रही। सूर के हृदय पक्ष की श्रेष्ठता को शुक्लजी मुक्तकण्ठ से स्वीकार करते हैं। शुक्लजी ने जहाँ सूर के कला पक्ष का वर्णन किया है वहाँ वे कहते हैं कि सूर ने प्रस्तुत और अप्रस्तुत की परम्परानुकूलता अच्छी तरह दिखाई है। उसमें यह भी बतलाया है कि सूर के उपमान कितने सार्थक हैं किन्तु उसके साथ जहाँ उनको अनुपात की कमी दिखाई दी है (जैसे माखन लगी रोटी की पृथ्वी से उपमा देना) उसको सामने लाने में कसर नहीं छोड़ी, सूर और तुलसी की तुलना में शुक्लजी चाहे तुलसी की ओर झुके अवश्य हैं इसको हम पक्षपात न कहकर सिद्धान्त की दृढ़ता कहेंगे। किन्तु उन्होंने सूर के साथ अन्याय नहीं किया है। हमको खेद है कि शुक्लजी की लिखी हुई सूर की विस्तृत आलोचना प्रकाश से नहीं आई है, नहीं तो वे तुलसी के प्रति पक्षपात के अभियोग से मुक्त हो जाते।

२३. हिन्दी-साहित्य का इतिहास

श्री विश्वम्भर 'मानव'

प्राणी को वाणी का वरदान भगवान् से मिला है; वाणी को स्थायी आकार भाषा से मिला है; भाषा की शक्ति का संचार कवियों और लेखकों द्वारा हुआ है; और कवियों तथा लेखकों की कला का मार्मिक उद्घाटन सत्-समालोचकों द्वारा। जैसे 'पन्तजी' के 'नौका-विहार' में दशमी का शशि निज तिर्यक् मुख मुग्धा के समान लहरों के घूँघट से रुक-रुककर झुक-झुककर दिखलाता है उसी प्रकार अच्छे कलाकार की कृति को मुग्धा नायिका ही समझिए, जो सौन्दर्य और हृदय के पूर्ण प्रदर्शन के लिए किसी पारखी की प्यासी रहती है। हिन्दी के लिए सौभाग्य की बात है कि उसके लिए पं० रामचन्द्र शुक्ल-जैसा मार्मिक व्याख्याता मिला, उसके सुन्दर आकार और हृदय के सौन्दर्य के मूल तक पहुँचने के लिए ऐसा विवेकी रसज्ञ और सूक्ष्म-साहित्य-सौन्दर्य-शास्त्री मिला।

किसी भाषा में उसके साहित्य के इतिहास का लिखा जाना उस साहित्य की समृद्धि का परिचायक है। साहित्य के इतिहास का लिखा जाना अपनी साहित्यिक निधि की चिन्ता करना एवं उन साहित्यिकों के प्रति न्याय और कृतज्ञता प्रकट करना है जिन्होंने हमारे जातीय और राष्ट्रीय जीवन को प्रभावित किया। साहित्य के इतिहास को वह चित्र-भवन समझिए जिसमें साहित्यकारों के आकृति-चित्र ही नहीं होते हृदय-चित्र और मस्तिष्क-चित्र भी होते हैं। इसके लिए निपुण चित्रकार की आवश्यकता है। पं० शुक्ल ऐसे ही चित्रकार थे।

समृद्ध अंगरेजी साहित्य के इतिहासों को देखें तो इतिहास की सामग्री का विभाजन कई प्रकार से हो सकता है—जैसे कुछ दूर तक चलने वाली किसी प्रवृत्ति के साथ-साथ काल-विभाजन करके तिथियों के आधार पर जैसे लिगोई और कैजामियन (Legouis और Cazamian) के इतिहास में; साहित्य के युगों का नाम लेखकों या सम्राज्ञियों के नाम को मुख्यता देकर जैसे डब्ल्यू० जे० लौंग (W. J. Long) में, और किसी में प्रवृत्ति को मुख्यता देकर भी और लेखक तथा साम्राज्ञी के नाम को

मुख्यता देकर भी जैसे कोम्पटन रिकिट (Compton Rickett) में। साहित्य की शाखाओं–जैसे कविता, उपन्यास, नाटक, निबन्ध, समालोचना, जीवनी आदि–को लेकर भी इतिहास लिखे जाते हैं; पर ये एकाध शताब्दी के लिए ही उपयुक्त हो सकते हैं, साहित्य की प्रचुर सामग्री को ठीक से नहीं पचा सकते जैसे ए० सी० (A. C. Ward) का बीसवीं सदी के साहित्य का इतिहास। हिन्दी में विनोदकारों ने अपने 'विनोद' के तीन भागों में तो लेखकों के नामों को मुख्यता दी है और चौथे में तिथियों को। शुक्लजी ने 'रचनाओं की विशेष प्रवृत्तियों' को प्रधानता दी है और हिन्दी-साहित्य की सामग्री का विभाजन संक्षेप में निम्न लिखित प्रकार से किया है:—

(१) प्रत्येक काल की भाव-धारा या विचार-धारा का सामान्य परिचय।

(२) काल-विभाजन।

वीरगाथा-काल	(सं० १०५०—१३७५)
भक्ति-काल	(सं० १३७५—१७००)
रीति-काल	(सं० १७००—१९००)
आधुनिक या गद्य-काल	(सं० १९००—)

(अ) ब्रज और खड़ी बोली के गद्य का विकास।

(आ) गद्य-साहित्य का प्रसार।

(१) नाटक
(२) उपन्यास
(३) छोटी कहानियाँ
(४) निबन्ध
(५) समालोचना

(३) पुरानी और नई काव्य-धाराएँ।

छायावाद

इसके अतिरिक्त यूरोप के विभिन्न वादों का दिग्दर्शन और उन पर अपना निर्णय भी है जैसे—

स्वच्छन्दतावाद	(Romanticism)
कला कला के लिए	(Art for Art's sake)
प्रतीकवाद	(Symbolism)
प्रभाववादी सम्प्रदाय	(Impressionist school)
अभिव्यञ्जनावाद	(Expressionist school)

सत्यं, शिवं, सुन्दरम् (The true, the good the Beatiful)

फ्राइड का काम-वासना का सिद्धान्त।

अपने से पूर्व के वर्गीकरणों की अवैज्ञानिकता एवं अनुपयुक्तता दिखाकर शुक्ल जी ने अपना वर्गीकरण प्रतिष्ठापित किया, जो विद्वानों को मान्य रहा। बाबू श्यामसुन्दरदासजी ने थोड़े संशोधन से काम लिया। अपने 'हिन्दी भाषा और साहित्य' में उन्होंने प्रत्येक भाव-धारा का आदि-काल से लेकर अब तक अखंड रूप में वर्णन किया है : जैसे वीरगाथा-काल के अन्तर्गत एक ही अध्याय में चन्द और नरपति नाल्ह के साथ भूषण और लाल भी हैं तथा बालकृष्ण शर्मा 'नवीन', माखनलाल चतुर्वेदी और वियोगी हरि आदि भी। काल-भेद से भाव-धारा अखण्डित न बहने पर भी उन्होंने उसे अखण्डित रूप में समेटा है। इस दृष्टि से अन्तिम अध्याय में गद्य के अन्तर्गत नाटक, उपन्यास, आख्यायिका शीर्षकों को स्थान-स्थान पर न तोड़ना अधिक सफल और व्यवहारोपयोगी है। शुक्लजी ने समालोचना, नाटक और उपन्यास आदि के संवत् १९२५ से लेकर पच्चीस-पच्चीस वर्ष के अनन्तर जो तीन उत्थान—प्रथम, द्वितीय और तृतीय रखे हैं और एक-एक को जो तीन-तीन स्थानों पर पढ़ना पड़ता है उनमें चाहे विशेषताओं की विभिन्नताओं के पृथक् करने में उनके दिमाग की बारीकी का पता चले पर हाथों और आँखों को थोड़ी-सी व्यर्थ कसरत करनी पड़ती है।

वर्गीकरण का ढंग विदेशी होने पर भी कवियों की विशेषताओं का दिग्दर्शन बारह आने भारतीय पद्धति पर है। यह रचना सूक्ति है या काव्य? यदि काव्य है तो मुक्तक है या प्रबन्ध? यदि मुक्तक है तो उसमें रस के मधुर छींटे उड़े हैं या नहीं? यदि प्रबन्ध है तो कथा की धारा टूटी है या नहीं? कवि मार्मिक स्थलों को पहचानने में समर्थ हुआ है या नहीं? बाह्य दृश्य-वर्णन और स्वभाव-चित्रण स्वाभाविक हैं या नहीं? रस और अलंकारों का निर्वाह कुशलता से हुआ है या नहीं? छन्द का चुनाव उपयुक्त है या नहीं— उसमें कहाँ तक नाद-सौन्दर्य है? भाषा परिमार्जित प्रौढ़ और प्रसंगानुकूल ही है क्या? कवि कहाँ तक राजनीतिक, धार्मिक एवं सामाजिक परिस्थितियों से प्रभावित है या उसने इन परिस्थितियों को कहाँ तक प्रभावित किया है? कवि ने अपनी सामग्री कहाँ से ली और कहाँ तक उसमें मौलिकता है? जनता के हृदय में कवि ने कहाँ तक घर किया है? एक कवि दूसरे कवि के सामने साहित्यिक दृष्टि से कितना हल्का-भारी है? जहाँ आधुनिक कविताओं का सम्बन्ध है वहाँ यह भी दिखाया है कि इन पर पश्चिम का कितना प्रभाव है। काव्य के विश्लेषण में उनकी सबसे बड़ी विशेषता, जो अन्य समालोचकों में इस परिणाम तक नहीं है, यह है कि वे कवि की अन्तर्वृत्ति का सूक्ष्म विश्लेषण करते हुए उसके आन्तरिक भावों की तह तक पहुँचते हैं। उन्हें सच्ची पैनी काव्य-दृष्टि मिली थी।

इतिहास-ग्रन्थों में कवियों की आलोचना करते समय ग्रन्थों की नामावली

और काव्यों के गुण-दोष के स्पष्टीकरण के साथ कवियों की यथासम्भव प्रामाणिक जीवनी भी देनी होती है। एक तो जीवन की बहुत-सी मर्मस्पर्शी घटनाओं का काव्यों के ऊपर लक्षित-अलक्षित प्रभाव पड़ता है। दूसरे पाठक की शुद्ध उत्सुकता-वृत्ति की तुष्टि के लिए भी यह आवश्यक है। आधुनिक हिन्दी-काव्य के प्रेमी 'महादेवी', 'पन्त' और 'बच्चन' के विषय में अधिकाधिक जानने के लिए बराबर प्रश्न करते पाये जाते हैं। पुराने कवियों के विषय में तो शुक्लजी ने इस बात का ध्यान रखा है, पर नई धारा के कवियों के विषय में उन्होंने इस बात की चिन्ता नहीं की। आधुनिक हिन्दी-साहित्य के इतिहास में भी इस ओर प्रयत्न नहीं किया गया। यदि शुक्लजी ने यह समझकर कुछ नहीं कहा कि इन्हें तो सब जानते हैं, तो लोगों पर अधिक विश्वास ही किया है। मैंने कई बार लोगों को यह कहते सुना है कि हमारे यू० पी० के प्रधान मन्त्री पं० गोविन्दवल्लभ 'पन्त' राजनीति के पण्डित तो हैं ही, नाटक भी अच्छे लिखते हैं।

सहानुभूति समालोचक का बहुत बड़ा गुण है। इतिहास को पढ़ते समय प्राचीन काल के दो ऐसे कवि हमारे सामने आते हैं जो किसी कारणवश शुक्लजी की सहानुभूति को आकर्षित नहीं कर सके। उनमें से एक हैं केशव, दूसरे हैं कबीर। उन्होंने कह दिया कि 'केशव' को कवि-हृदय नहीं मिला था। फिर क्या, जिसे देखो वही नाक चढ़ाकर कहता है 'केशव हृदय-हीन कवि थे।' इसी प्रकार अपनी इस धारणा से प्रेरित हो कि कबीर की वाणी में 'लोक-धर्म' की उपेक्षा निहित थी, उन्होंने कबीर के व्यक्तित्व को इस ढंग से विद्वानों के सामने रखा है कि उनका वास्तविक महत्त्व दब गया है। बिना ग्रन्थों के अनुशीलन किये केशव पर उनकी आलोचना पढ़कर ऐसा भ्रम हो सकता है कि हिन्दी में यदि कोई रद्दी किस्म का कवि था तो केशव, या कबीर के विषय में यह संशय हो सकता है कि वह महापुरुष हिन्दू-समाज और जीवन में केवल विषमता उत्पन्न करने आया था।

पद्य-भाग की भाँति गद्य-भाग भी अपने में पूर्ण है। अपूर्णता अयोग्यता का लक्षण है। शुक्लजी के विषय में अपूर्णता का प्रश्न ही नहीं उठता। जैसा उन्हें अपनी भाषा और साहित्य का ज्ञान था वैसा ज्ञान का वरदान कम सौभाग्य-शालियों को मिलता है। उनके साहित्य के इतिहास को कहीं से भी खोलकर यह नहीं कहा जा सकता कि यहाँ ठोस सामग्री नहीं दी गई। गद्य भाग में गद्य का आविर्भाव और प्रसार धार्मिक ग्रन्थों, काव्यों की लचर टीकाओं से लेकर धार्मिक आन्दोलनों, समाचार-पत्रों, प्रचार-सभाओं, भाषा-सुधारक आचार्यों के योगदान के साथ निबन्धों, नाटकों, उपन्यासों, कहानियों और समालोचनाओं के रूप में दिया है जिनके स्रोत-स्वरूप हमें शुक्लजी, प्रसादजी, प्रेमचन्दजी तथा श्यामसुन्दरदासजी-जैसे प्रौढ़

साहित्यकार दिखाई दिये।

उन्होंने आधुनिक काल को गद्य-काल कहा है। जिस गति से हमारा गद्य-साहित्य बढ़ रहा है वह यद्यपि हमारे साहित्य की समृद्धि का परिचायक है; पर जहाँ वस्तुओं की भरमार होती है या विदेश का अन्धानुकरण होता है वहाँ कूड़ा भी एकत्र हो जाता है। अतः गद्य भाग में जहाँ उन्होंने साहित्य की विभिन्न शाखाओं का विकास, उनकी मुख्य प्रवृत्तियों का उल्लेख तथा लेखकों और उनकी कृतियों का आलोचनात्मक परिचय दिया है वहाँ वे हमारे साहित्य में बढ़ी हुई असावधानियों की ओर भी संकेत करते हैं जो साहित्य के शुभचिन्तकों के लक्षण हैं। जैसे ऐतिहासिक उपन्यासों और नाटकों में काल-दोष न आना चाहिए। यूरोप के सिद्धान्तों से प्रभावित होने पर भी अपने साहित्य को अपने आचार, व्यवहार और संस्कृति के अनुकूल रचना चाहिए। साहित्य को सदैव राजनीति के इशारों पर न नाचना चाहिए। यूरोप के किसी एकदेशीय सिद्धान्त के भुलावे में आकर अपने साहित्य को विकृत और बद्ध न करके जीवन की सामान्य दशा और साहित्य की व्यापकता पर ही अनुराग होना चाहिए। ऐसी बातों से कुछ समझदार कलाकर तो लाभ उठाते हैं, पर कुछ उन्हें 'रूढ़िवादी' कहकर फूँक से पहाड़ उड़ाना चाहते हैं।

'शुक्लजी' ने अपने इतिहास में संस्कृत रीति-ग्रन्थों तथा अंगरेजी की समीक्षा-पुस्तकों से अपनी पूर्ण अभिज्ञता प्रकट की है, क्योंकि वे केवल उनका विवरण ही नहीं देते, प्रत्युत आवश्यकतानुसार बुद्धि-संगत आधारों पर उनकी आलोचना भी करते चलते हैं। इस विषय में उनकी सूक्ष्म रीति-काल के सामान्य परिचय में या उनकी व्यावहारिक बुद्धि यूरोप के विभिन्न वादों के स्वरूप-निरूपण और उन्हें भारतीय पद्धति के अनुसार अपनाने में देखी जा सकती है।

समालोचक को सृजन के साथ संहार का काम भी करना पड़ता है। इस प्रकार की आवश्यकता कई कारणों से होती है। कवियों और लेखकों की भी अपनी-अपनी दुर्बलताएँ होती हैं, उन्हें प्रकाश में लाकर दूर करने की चेष्टा आलोचक करता है। कभी-कभी समालोचक अपने को पक्षपात से नहीं बचा पाता जैसा तुलनात्मक समालोचनाओं में प्रायः होता है। ऐसे आलोचकों की बुद्धि को ठीक मार्ग पर लाने की आवश्यकता होती है। कभी-कभी आलोचक कवि का आशय न समझकर कुछ-का-कुछ बर्राता है। ऐसे आलोचकों के लिए शुक्लजी ने अपने इतिहास में लिखा है—

"कहीं-कहीं तो अंगरेजी कवि के सम्बन्ध में की हुई समीक्षा का कोई खण्ड ज्यों-का-त्यों उठाकर किसी हिन्दी-कवि पर भिड़ा दिया जाता है। पद्य का आशय भाव कुछ और है। आलोचक जी उसे उद्धृत करके कुछ और ही राग अलाप रहे हैं

स्थान-स्थान पर साहित्यिक व्यंग्य हिन्दी-साहित्य के इतिहास की एक विशेषता है। इससे आलोचनाएँ बड़ी चुटीली हो गई हैं। जहाँ तक हो सकता है वे किसी का नाम नहीं लेते। इस विषय में शुक्लजी की मनोवृत्ति का विश्लेषण करें तो यह पता चलेगा कि कोई कितना ही प्रभावशाली, कितना ही प्रशंसनीय और कितना ही बड़ा साहित्य-सेवी हो किसी के केवल व्यक्तित्व का आतंक इस व्यक्ति पर नहीं है। जो उसे कहना था उसे कहने में वह कभी नहीं चूका। किसी-न-किसी ढंग से उसे कह अवश्य दिया है। मिश्रबन्धुओं पर जो उन्होंने कस-कसकर व्यंग्य किये हैं उनसे उनकी यद्यपि निर्ममता झलकती है, पर मिश्रबन्धुओं ने भी अपने 'विनोद' में शुक्लजी के विषय में यह विवरण देकर कि 'ये मिश्रबन्धु नाम सुनते ही जामे से बाहर हो जाते हैं', अपने मन की कसक निकाल ली है। उनके व्यंग्यों पर विचार करें तो पता चलेगा कि दोष के परिमाण के अनुसार उनका व्यंग्य तीखापन पकड़ता है। 'हरिऔधजी', पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी, बाबू श्यामसुन्दरदास तथा मिश्रबन्धुओं के विषय में शुक्लजी की धारणाएँ देखिए:—

"ये दोनों नाटक उपाध्याय जी ने *हाथ आजमाने के लिए लिखे थे।* आगे उन्होंने इस ओर कोई प्रयत्न नहीं किया।"

"द्विवेदी जी के लेखों को पढ़ने से ऐसा जान पड़ता है कि लेखक बहुत *मोटी अक्ल के पाठकों के लिए लिख रहा है।*"

"शिक्षोपयोगी तीन पुस्तकें—'भाषा-विज्ञान', 'हिन्दी-भाषा और साहित्य' तथा 'साहित्यालोचन' भी आपने लिखी या *संकलित की हैं।*"

"मिश्रबन्धुओं ने 'हिन्दी-नवरत्न' नामक समालोचनात्मक ग्रन्थ निकाला जिसमें *सबसे बढ़कर नई बात* यह थी कि देव हिन्दी के सबसे बड़े कवि हैं। ...*उनकी बातें* समालोचना कही जा सकती हैं या नहीं, यह दूसरी बात है।"

शुक्लजी कभी-कभी अपनी धारणाओं के अनुरूप किसी को न पाकर या साहित्यिक हल्कापन देखकर आवेश के वश निर्मम प्रहार कर बैठते थे, जैसे जायसी की भूमिका में एक पंथ विशेष के अनुयायियों को उन्होंने 'मूर्खपंथी' कहा है या 'साहित्य के इतिहास' में एक समालोचक की बातों के लिए 'बेहूदः' विशेषण का प्रयोग किया है। ये दोनों शब्द यद्यपि थोड़ी-सी असहिष्णुता प्रकट करते हैं फिर भी उनके व्यक्तित्व और विद्वत्ता के प्रति जो हिन्दी-जगत् में सहज आकर्षण है वह शताब्दियों तक चलता रहेगा। उनकी यह विशेषता थी कि बड़े-से-बड़े विद्वान् की बात को वे बिना तर्क की कसौटी पर कसे एकदम ग्रहण नहीं करते थे और अपनी बात को चारों ओर से प्रबल युक्तियों से समर्थन करते हुए हृदय और मस्तिष्क तक पहुँचाने का प्रयत्न करते थे। यद्यपि इस आलोचक से प्रशंसा झपटना बड़ा ही कठिन काम था,

पर उचित प्रशंसा से इसने किसी को वंचित नहीं किया । शब्द तो पूर्ण शक्ति से इसके इशारों पर नाचते थे । हिन्दी-साहित्य के इतिहास को वे इतने व्यवस्थित ढंग पर लाए कि न जाने कितने दिनों तक यह ग्रन्थ प्रामाणिक समझा जाकर विद्वानों के आदर की वस्तु रहेगा ।

२४. अनूदित बुद्ध-चरित

प्रो० गोपाल व्यास

स्वर्गीय पं० रामचन्द्र शुक्ल ने उच्चकोटि के मौलिक एवं अनूदित साहित्य द्वारा हिन्दी की श्री-वृद्धि की । सर्वश्रेष्ठ निबन्ध-लेखक तथा समालोचक होने के साथ ही वे परम कुशल अनुवादक भी थे । उन्होंने 'विश्व-प्रपंच', 'कल्पना का आनन्द', 'मेगास्थनीज का भारतवर्षीय विवरण', 'आदर्श-जीवन' तथा 'बुद्ध-चरित' के अनुवाद अंग्रेजी से तथा 'शशांक' नामक उपन्यास का बंगला से भाषान्तर किया । अनुवाद की दृष्टि से यों तो उनकी सभी कृतियाँ आदर्श हैं पर इस लेख में हम उनके एडविन आर्नल्ड-रचित 'लाइट आफ एशिया' (Light of Asia) के अनुवाद 'बुद्ध-चरित' पर ही विचार करेंगे ।

किसी भाषा की किसी कृति का उससे भिन्न भाषा में अनुवाद करना सरल कार्य नहीं है । वह हरित दूर्वा-दल पर बिखरे हुए, प्रभातकालीन रवि-रश्मियों से अठखेलियाँ करने वाले नयनाभिराम हिम-मौक्तिकों के एकत्रीकरण के सदृश ही दुस्साध्य है । सुन्दर तुहिन-बिन्दुओं को एकत्र करने में चाहे थोड़ा-बहुत जल हमारे हाथ लग जाय पर उनके हृदयहारी सौन्दर्य का हम स्पर्श भी न कर सकेंगे । इसी भाँति, साधारणतः एक भाषा से दूसरी भाषा में अनुवाद करते समय स्थूल भावों का व्यक्तीकरण तो अवश्य हो जाता है पर मूल की भाव-भंगी एवं भाषा-सौन्दर्य प्रायः नहीं आता । मूल में शाब्दिक व्यंजना का जो चमत्कार होता है अनुवाद में बहुधा उसका ह्रास ही पाया जाता है । यह कठिनाई तो गद्य से गद्य या पद्य से गद्यात्मक अनुवाद करने में हो होती है । पद्य का पद्यात्मक अनुवाद करते समय तो वह द्विगुणित हो जाती है । पद्य के बन्धन के कारण न तो अनुवादक मूल भावों की पूर्ण रक्षा ही कर पाता है और न अनूदित कृति में सौन्दर्य-स्थापन ही । यदि भाषा की सजावट की ओर ध्यान देता है तो भाव-राशि बिखर जाती है और यदि भावों के अविकल व्यक्तीकरण में दत्तचित्त होता है तो भाषा में सौन्दर्य, माधुर्य

और प्रवाह नहीं आने पाता। हिन्दी के अपार अनूदित साहित्य में ऐसे अनुवादों की संख्या अत्यन्त परिमित है जिनमें मूल भावों की रक्षा भी हुई हो और भाषा भी सुन्दर तथा निर्दोष हो। पं० रामचन्द्र शुक्ल का 'बुद्ध-चरित' एक ऐसा ही सफल अनुवाद है। उन्होंने सन् १६७६ में ब्रजभाषा में प्रबन्ध-काव्यों के अभाव की पूर्ति करने, चलती हुई स्वच्छ आधुनिक ब्रजभाषा का स्वरूप सामने रखने और स्यात् अंग्रेजी काव्य के हिन्दी-पद्यानुवाद द्वारा अनुवादों का आदर्श उपस्थित करने के लिए 'बुद्ध-चरित' प्रस्तुत किया।

'बुद्ध-चरित' जैसा कि हम कह चुके हैं, एक आदर्श अनुवाद है। उसमें मूल भावों की रक्षा ही नहीं, सुधार भी किया गया है। अनूदित ग्रन्थों में प्राप्त होने वाले दोषों—भावों की अस्पष्टता, जटिलता, अन्य भाषाओं की अवांछनीय प्रायोगिक विशेषताएँ, अपनी भाषा की रूप-हानि आदि—से वह सर्वथा मुक्त है। ऐसा प्रतीत होता है मानो अनुवाद, अनुवाद न होकर कोई स्वतन्त्र रचना हो। यदि किसी पाठक को बिना सूचित किये हुए बुद्ध-चरित दे दिया जाय तो उसे यह शंका भी न होगी कि वह अनूदित ग्रन्थ पढ़ रहा है। और फिर, यदि उसे भूमिका-रहित बुद्ध-चरित और Light of Asia—दोनों रचनाएँ दे दी जायँ तो निश्चय ही वह मूल कृति को बुद्ध-चरित का अनुवाद समझेगा। तात्पर्य यह है कि शुक्लजी को बुद्ध-चरित के अनुवाद में आशातीत सफलता मिली है। अंग्रेजी से हिन्दी में होने वाले समस्त अनूदित ग्रन्थों में यह श्रेष्ठतम है, ऐसी हमारी धारणा है। शुक्लजी अंग्रेजी और हिन्दी के गम्भीर विद्वान् एवं मर्मज्ञ थे। हिन्दी-भाषा के समस्त शब्द-समूह पर उनका पूर्णाधिकार था तथा प्रत्येक शब्द की शक्ति से वे परिचित थे। यही कारण है कि वे 'बुद्ध-चरित'-जैसा अनुवाद प्रस्तुत कर सके।

अब हम संक्षेप में, अनुवाद की प्रधान विशेषताओं का विवेचन करते हैं:—

आर्नल्ड महोदय ने मूल कथा में यत्र-तत्र ऐतिहासिक त्रुटियाँ की हैं। यथा; भगवान् बुद्ध के जन्म के सम्बन्ध में प्रसिद्ध है कि पितृ-गृह को जाते समय लुम्बिनी वन में माया के गर्भ से उनका अवतार हुआ था। पर आर्नल्ड महोदय ने Under a palsa tree in the palace grounds अर्थात् प्रासाद-सीमा के अन्तर्गत एक शाल-वृक्ष से नीचे जन्म होना लिखा है। शुक्लजी ने बौद्ध जातकों के अनुसार लुम्बिनी वन में ही जन्म होने का उल्लेख किया है। भारतीय शिष्टाचार, रीति-नीति और परम्पराओं से अपरिचित अथवा अर्ध-परिचित आर्नल्ड साहब के वर्णनों में भारतीयता का अभाव कई स्थलों पर है, पर शुक्ल जी ने उन स्थलों को पूर्ण रूप से भारतीयता के रँग में रंग दिया है। राजकुमार गौतम के प्रेम को लक्षित करने के लिए आर्नल्ड ने महाराज के द्वारा A court of pleasure (मनोरञ्जन-

सभा) का आयोजन कराया है पर शुक्लजी ने उसे भारतीय साहित्य में वर्णित 'अशोकोत्सव' कर दिया। Court of pleasure (मनोरञ्जन-सभा) में नगर की सुन्दरियों का आना और सभासदों की उपस्थिति में प्रेम-व्यापार का वर्णन भारतीय मर्यादा के विरुद्ध ही पड़ता।

राजकुमार गौतम के रंगमहल का वर्णन करते हुए आर्नल्ड ने Silver Lamps रजत-दीपों का वर्णन किया है पर भारतीय-साहित्य में रजत-दीपों का वर्णन प्रायः नहीं होता। अतः शुक्लजी ने कंचन के दीपकों का उल्लेख किया है। शुक्लजी ने अप्रयुक्त, अनुपयुक्त या अपर्याप्त दृश्य-चित्रणों में यथेष्ट संशोधन और संवर्धन किये हैं। उदाहरणार्थ, आर्नल्ड ने वसन्त में Cries of ploughtime हल जोतने के समय के कोलाहल का वर्णन किया है जो स्पष्ट ही, काल-दूषण-ग्रस्त है। शुक्लजी ने उस प्रसंग में खलिहानों में 'पयार के ढूह' का कालानुकूल वर्णन किया है।

साथ ही उस स्थल पर वसन्त का कुछ स्वतन्त्र और विस्तृत वर्णन भी उन्होंने किया है। हम एक छन्द नीचे उद्धृत करते हैं—

"लिये खरिहारन में सुथरे पथपार पयार के ढूह लखात।
मढ़े नव मंजुल मौरन सौं सहकार न अंगन माँहि समात।
भरी छवि सौं छलकाय रहे, मृदु सौरभ लै बगरावत बात।
चरैं बहु ढोर कछारन में जहँ गावत ग्वाल नचावत गात।"

अन्य स्थलों पर भी जहाँ-जहाँ प्रकृति-चित्रण के अवसर आए हैं वहाँ शुक्लजी अनुवादक की संकुचित परिधि का उल्लंघन करके प्रकृति में रमते हुए पाए जाते हैं। वैसे तो आर्नल्ड के प्रकृति-चित्रों में सूक्ष्मता तथा सुन्दरता का अभाव नहीं है पर उनमें वह बात कहाँ जो शुक्लजी ने उपस्थित कर दी है। वे प्रकृति के अनन्य उपासक थे अतः प्राकृतिक दृश्यों के वर्णन में उनकी प्रतिभा खूब निखरी है। बहुधा ऐसे स्थलों पर कवित्त-सवैया का आश्रय लिया गया है एवं भाषा में भी अधिक माधुर्य, प्रवाह तथा अलंकृति आ गई है। संश्लिष्ट योजना द्वारा बिम्ब-ग्रहण कराने का प्रयत्न किया गया है। एक उदाहरण लीजिए—

"निखरी रैनि चैत पूनौ की अति निर्मल उजियारी।
चारु हासिनी खिली चाँदनी पटपर पै अति प्यारी॥
अमराइन में धँसि अमियन को दरसावत बिलगाई।
सींकन में गुछि झूलि रहीं जे मंद झकोरन पाई॥
चुवत मधूक परसि भू जौलौं 'टप-टप' शब्द सुनावैं।
ताके प्रथम पलक मारन भर में निज झलक दिखावैं॥"

इन विशेषताओं के अतिरिक्त उनकी सबसे बड़ी विशेषता अनुवाद की सफाई है। शब्द-शब्द का ध्यान रखकर बड़ी सफलतापूर्वक अनुवाद किया गया है। मूल में यदि किसी विषय का स्पष्टीकरण नहीं हुआ है तो कुछ और स्वतन्त्र पद्यों द्वारा—जिनका निर्देश कर दिया गया है—उसे पूर्णतः स्पष्ट कर दिया है। भावों का हनन तो कहीं भी नहीं हुआ है। उनके अनूदित पद्यों में मूल से अधिक सौन्दर्य है, इस बात को हम दोनों रचनाओं से उदाहरण देकर स्पष्ट करने का प्रयत्न करेंगे—

(१) The thoughts ye cannot stay
with brazen chains.
A girls hair lightly binds. (The Lights of Asia)
लौह-सीकड़ सौं नहीं जो भाव रोको जाय।
कुटिल-कामिनि-केश सौं सो सहज हो बँधि जाय॥

मूल में Brazen chains हैं पर शुक्लजी ने "लौह-सीकड़" कर दिया है। श्रृङ्खलाएँ बहुधा लोहे की ही होती हैं, लौह-श्रृङ्खलाओं में अपेक्षाकृत कठोरता भी अधिक होती है और काले केशों से वर्ण-सादृश्य भी है।

अंग्रेजी का पूरा भाव पूर्ण रूप से हिन्दी पद्य में व्यक्त है। साथ ही Girl's hair से 'कुटिल-कामिनि-केश' में अधिक सौन्दर्य आ गया है अंग्रेजी के Girl (प्रायः लड़की) शब्द में वह रस कहाँ जो 'कामिनी' में है। फिर वृत्यनुप्रास की छटा भी अवलोकनीय है।

(२) As if the very day paused and grew Eve.
प्रखर दिवस हू प्रेम छाकि संध्या हो जावे,

'The very day' का भाव तथा अवधारण (Emphasia) पूर्णतः 'दिवस हू' में आ गया है। साथ में 'प्रखर' ने उसमें और उत्कर्ष उत्पन्न कर दिया है। इसी प्रकार Paused and grew Eve के स्थान पर 'प्रेम छाकि संध्या हो जावे' अधिक रमणीय प्रतीत होता है। मूल में दिवस के संध्या हो जाने का कोई कारण नहीं दिया गया है, पर शुक्लजी ने 'प्रेम छाकि' पद जोड़कर भाव-सौन्दर्य में निश्चय ही वृद्धि कर दी है।

(३) Eyes lighted with love flames alluring smiles.
In wanton dance with their supple side and limbs.
Revealing and concealing like burst buds.
Which till their colour, but hide yet their hearts.
"मद की दुति नैनन में दरसै, अधरान पै मंद लसी मुसकान।
फिर नाचत में सुठि अंग सुढार छपैं उघरैं ललचावत प्रान॥

खिलिकैं कछु मानहुँ कंप कली लहि बात झकोर लगै लहरान।
दरसावति रंग छपावति पै मकरंद भरौ हिय आपनी जान ॥"

(४) Her lids were wan with tears,
Her tender cheeks had thinned,
Her lips delicious were drawn with grief.
The lustrous glory of her,
Hair was hid in close bound.

आँसुन पलक भारी, कोमल कपोल छीन,
बिरह की पीर अधरानि पै लखाति है।
चापि रही चीकने चिकुर को चमक चारु,
बेनी बीच बँधि नेकु नहिं नगराति है॥

स्थल-संकोच के कारण हम उपर्युक्त दोनों पद्यों की तुलना से विरत होकर विज्ञ पाठकों पर ही उनके अपेक्षाकृत सौन्दर्य का निर्णय छोड़ते हैं। इस प्रकार के राशि-राशि उदाहरण 'बुद्ध-चरित' में भरे पड़े हैं। लेख की कलेवर-वृद्धि के भय से हम अधिक अवतरण नहीं दे सकते।

अनुवाद में शुक्लजी ने भावानुकूल कितने ही छन्दों का सफल प्रयोग किया है। उनकी भाषा चढ़ती हुई शुद्ध ब्रजभाषा है। वे भाषा-शास्त्र के कितने गम्भीर विद्वान् थे, यह उनकी बुद्ध-चरित की भूमिका में कुछ अवधी और खड़ी बोली के तारतम्य के विवेचन से स्पष्ट हो जायगा। यही कारण है कि शुक्लजी की भाषा में पूर्वी प्रयोगों का सम्मिश्रण नहीं है। उसमें न तो अनावश्यक विकृति है और न अप्रचलित प्राचीन प्रयोगों की भरमार। शुक्लजी द्वारा प्रयुक्त भाषा ब्रजमण्डल की आधुनिक बोल-चाल की भाषा के बहुत निकट है।

विदेशी मुहावरों, लाक्षणिक प्रयोगों तथा अंग्रेजी के अलंकारों के अनुवाद बड़ी सतर्कता से किये गए हैं। भाषा से 'अंग्रेजीपन' कोसों दूर रखा गया है।

शुक्लजी की ब्रजभाषा माधुर्य-प्रसाद-समन्वित, सानुप्रासिक, अलंकारमयी और प्रवाहपूर्ण है। पर इन गुणों की प्रतिष्ठा के लिए कवि की ओर से कहीं भी प्रयत्न नहीं झलकता। वास्तव में उनकी भाषा का वैभव 'बुद्ध-चरित' में आये हुए शृंगारिक वर्णनों या दृश्य-चित्रण में प्रयुक्त कवित्त-सवैयों में ही पूर्ण रूप से निखरा है।